उत्तर प्रदेश-सरकार द्वारा १९५२ में पुरस्कृत

साहित्य-विवेचन

हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अंगों का सैद्धान्तिक
एवं इतिहासिक विश्लेषण

क्षेमचन्द्र 'सुमन'
योगेन्द्रकुमार मल्लिक

भूमिका लेखक
आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, एम० ए०
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग
सागर विश्वविद्यालय, सागर (मध्य प्रदेश)

१९५२
आत्माराम एण्ड सन्स
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली ६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

मूल्य सात रुपये

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
क्वीन्स रोड, दिल्ली

हिन्दी की

नई पीढ़ी को

जिसे

अपनी समधीत समीक्षाओं से

सुदृढ़ साहित्य

का

निर्माण करना है

भूमिका

श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' और श्री योगेन्द्रकुमार मल्लिक की लिखी 'साहित्य-विवेचन' पुस्तक मैंने अभी-अभी पढ़कर समाप्त की है। इसमें साहित्य, कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, गद्यगीत, जीवनी, रेखाचित्र, रिपोर्ताज और समालोचना शीर्षकों से साहित्य के विविध रूपों और अंगों का विवेचन किया गया है। प्राचीन और नवीन हिन्दी-साहित्य के उद्धरण देकर इन विविध अंगों का विकास-क्रम दिखाया गया है और इनकी रूपरेखा स्पष्ट की गई है। संस्कृत, अंग्रेजी और रूसी-फ्रान्सीसी आदि साहित्यों के उल्लेख भी यथास्थान कर दिए गए हैं। पुस्तक लेखकों के विस्तृत और बहुमुखी अध्ययन-अनुशीलन का परिणाम है, किन्तु इसकी सर्वप्रमुख विशेषता इसकी गम्भीर और संयत समीक्षा-शैली है, जो इसमें आदि से अन्त तक व्याप्त है। इसी समीक्षा-शैली के सम्बन्ध में यहाँ कुछ विस्तार के साथ विचार करना चाहता हूँ।

हिन्दी में इन दिनों, मुख्य रूप से, चार समीक्षा-शैलियाँ या पद्धतियाँ प्रचलित हैं। इनमें पहली शैली विशुद्ध साहित्यिक कही जाती है, जो साहित्य के विभिन्न प्रेरणा-केन्द्रों का अध्ययन करती हुई भी साहित्यिक मूल्यों को प्रमुखता देती है। इसकी एक विशिष्ट परम्परा बनी हुई है। दूसरी शैली साहित्य में समाज-शास्त्र की मार्क्सवादी विचार-पद्धति को अपनाती है और प्रगतिशील तथा अप्रगतिशील विभागों में समस्त साहित्य को विभाजित करती है। तीसरी शैली कवि और काव्य की मानसिक भूमिका या मनोविश्लेषण को मुख्य महत्त्व देती है, तथा साहित्य की रचना और आस्वादन के रहस्यों की नई व्याख्या करती है। इसकी भी अपनी एक विचार-पद्धति या मतवाद है। यह शैली विश्लेषणात्मक या मनोविज्ञानिक कहलाती है। चौथी शैली वह है जो किसी भी मतवाद या परम्परा का अनुगमन नहीं करती, बल्कि उनसे सर्वथा दूर रहना चाहती है। यह प्रणाली समीक्षक की व्यक्तिगत भावना या प्रतिक्रिया को व्यक्त करने का लक्ष्य रखती है, अतएव इसे व्यक्तिमुखी, भावात्मक, या प्रभावाभिव्यंजक शैली कहते हैं।

समीक्षा की ये शैलियाँ एक दूसरे से स्वतन्त्र आधार और अस्तित्व तो

रखती ही हैं, ये नितान्त भिन्न मतवादों का विज्ञापन करने लगी हैं और अपनी समस्त प्रक्रिया में एक-दूसरे के स्पर्श से भी बचना चाहती हैं। इनमें विच्छेद और पृथक्ता की प्रवृत्ति बढ़ रही है। अपना अलग-अलग घेरा बनाकर ये एक-दूसरे के बीच ऊँची दीवारें खड़ी कर रही हैं, जिनसे वे एक दूसरे को देख भी न सकें। ये अपने इस मूल उद्देश्य को भी भूल जाना चाहती हैं कि साहित्य और साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करना उनमें से प्रत्येक का लक्ष्य है। स्वाभाविक तो यह था कि समान लक्ष्य की सिद्धि के लिए ये सभी समीक्षा-प्रणालियाँ परस्पर आदान-प्रदान करतीं और यथा सम्भव एक-दूसरे के समीप आतीं। यह भी असम्भव न था कि आगे चलकर ये एक में मिल जातीं और एक ऐसी नई तथा व्यापक समीक्षा-धारा का निर्माण करतीं जिसमें उक्त सभी शैलियों के मूल्यवान तत्त्वों का समन्वय होता। परन्तु वर्तमान समय में इनके बीच विरोधी प्रवृत्तियों का प्राबल्य हो रहा है। मिलन की सम्भावना दूर दिखाई देती है।

यहाँ हम नए साहित्य में इन विभिन्न समीक्षा-प्रणालियों की स्थिति और प्रगति को संक्षेप में देख लेना चाहते हैं। इससे आगे के विवेचन में हमें सुगमता रहेगी। सबसे पहले हम समीक्षा की साहित्यिक पद्धति को लेकर देखते हैं। नए युग के आरम्भ में यह पद्धति अस्थि-शेष रह गई थी। रस, रीति, गुण, अलंकार आदि शब्द-ही-शब्द रह गए थे। इनके अर्थों का प्रायः लोप हो चुका था। एक बड़ी पुरानी परम्परा से ये जुड़े हुए थे, कदाचित् इसीलिए ये जीवित रहे। नए युग के समीक्षकों ने इनमें नई जान डाली। क्रमशः इन शब्दों में नया अर्थ आया, नई चेतना आई। यह नई शक्ति इन्हें नए जीवन-सम्पर्क से मिली। ज्यों-ज्यों साहित्यिकों का जीवन-सम्पर्क बढ़ता गया, इन शब्दों का भी अर्थ-विस्तार होता गया। भारतेन्दु-युग के साहित्य से आगे बढ़कर आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु और रामचन्द्र शुक्ल ने इन शब्दों को अर्थ की कितनी नई भूमियाँ प्रदान कीं, इन्हें कितना समृद्धिशाली बनाया, यह साहित्यिक इतिहास के विद्यार्थी के लिए अध्ययन का अत्यन्त रोचक विषय है।

ध्यान देने की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रस, रीति आदि के साँचे साहित्यिक परम्परा से सम्बन्ध रखते थे, इसलिए नया विवेचन, बहुमुखी होता हुआ भी, अपने साहित्यिक स्वरूप पर ही स्थिर रहा। नया जीवन-दर्शन, नई विचार-पद्धति, नवीन इतिहासिक अध्ययन, सब-कुछ आए, पर साहित्य के अपने स्वरूप की प्रधानता रक्षित रही। साहित्य के विचार-पक्ष, भाव-पक्ष और कला-पक्ष आदि की अनेकमुखी विचारणा और विवेचना में भी मूलवर्ती साहित्यिक तथ्य को भुलाया नहीं गया। कुछ नए समीक्षकों ने रस और रीति को भारतीय

शब्दावली का त्याग भी कर दिया और पश्चिमी शब्दावलियों को अपनाया, परन्तु इन विदेशी पर्यायों में भी साहित्यिक तत्त्व अक्षुण्ण ही रहा। हमने साहित्य और कला-विवेचन में इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र तथा दूसरे तत्त्व-दर्शनों से काम लिया, पर हमारी मूल भूमिका साहित्यिक ही बनी रही।

इस नए विवेचन के फलस्वरूप जो नया ज्ञान हमें प्राप्त हुआ उसका एक प्रतिनिधि स्वरूप आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षाओं और उनके साहित्यिक इतिहास में दिखाई देता है। शुक्ल जी का काव्यादर्श व्यापक और सन्तुलित रहा है। उन्होंने कवि की इतिहासिक परिस्थितियों का उल्लेख किया है। कवि पर युग के प्रभावों तथा युग पर कवि के प्रभावों का सामान्य रूप से निरूपण किया है। कवि की जीवनी और उसके क्रमिक साहित्यिक विकास पर अधिक ध्यान देने का अवसर उन्हें नहीं मिला, पर इसकी नितान्त अवहेलना भी नहीं हुई है। किन्तु इतिहास, मनोविज्ञान और कला-विकास के इन गतिमान पहलुओं की अपेक्षा शुक्लजी ने साहित्य के स्थायी आदर्शों, काव्य में चित्रित मानव-जीवन की विविधता और एक उदात्त जीवन-दर्शन की अधिक आग्रह के साथ नियोजना की है। इन पिछले तत्त्वों की उपलब्धि उन्हें अपने विशिष्ट साहित्यिक अध्ययन और दार्शनिक अनुशीलन से हुई थी, परन्तु इस सम्बन्ध की मुख्य प्रेरणा उन्हें गोस्वामी तुलसीदास के काव्य और विशेषकर उनके 'रामचरितमानस' से मिली थी। शुक्लजी ने 'मानस' की आध्यात्मिक भूमिका की बहुत-कुछ उपेक्षा भी की है और उसे मुख्यतः अपने बुद्धिवादी और व्यवहारवादी दृष्टिकोण से देखा है, फिर भी 'मानस' की छाप शुक्लजी के समस्त साहित्यिक विवेचनों में देखी जा सकती है।

एक विशिष्ट काव्य-ग्रन्थ को तथा उसमें निहित जीवन-दर्शन को (चाहे वे कितने ही महान् हों) काव्य-समीक्षा का आधार बना लेने पर जातीय साहित्य की गतिमान धारा और उसे परिवर्तित करने वाली अनेकविध परिस्थितियों का वस्तुमुखी अध्ययन और आकलन कठिन हो जाता है। काव्य में मानव-जीवन की विविधता का शुक्ल जी प्रतिपादन करते हैं, परन्तु अपनी काव्य-समीक्षा में कवियों की विविध परिस्थितियों और जीवन-दृष्टियों को पूरी सहृदयता और तटस्थता के साथ देखने का प्रयत्न वे नहीं करते। उनकी एक ही विचार-भूमि है, एक ही जीवन-दर्शन है और एक ही काव्यादर्श है। ये तीनों तत्त्व मिलकर शुक्लजी के साहित्यिक आकलन को प्रौढ़ता देते हैं, पर ये उनके इतिहासिक अनुशीलन की सीमाएँ भी बाँध देते हैं। शुक्ल जी काव्य के जिन उपकरणों को

सन् '३५ में यह योजना निर्मित हुई, सन् '३६ की ईस्टर की छुट्टियों में लखनऊ-कांग्रेस के अवसर पर इस योजना के अनुसार 'प्रगतिशील लेखक संघ' की बैठक हुई। इसके सभापति प्रेमचन्द जी थे। शीघ्र ही यह एक अखिल भारतीय योजना के रूप में प्रचारित की गई।

इसके मन्तव्य-पत्र को देखने से ज्ञात होता है कि यह एक सामयिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए—फासिस्टवाद के विरुद्ध आवाज उठाने के लिए—उत्पन्न हुई थी। पर धीरे-धीरे यह एक स्थायी संस्था के रूप में परिणत होने लगी। रवीन्द्र-नाथ और शरच्चन्द्र-जैसे साहित्यिकों का आशीर्वाद लेकर इसने अपना देश-व्यापी विज्ञापन किया। इन पंक्तियों का लेखक भी इस संस्था की काशी-शाखा के साथ कई वर्षों तक सम्बद्ध रहा। परन्तु तब तक इसमें किसी मतवाद की कठोरता नहीं आई थी। कुछ समय बाद यह अधिक सम्प्रदायबद्ध होने लगी। आज इस पर मार्क्सवादी जीवन-दर्शन और मार्क्सवादी विचार-पद्धति का पूरा आधिपत्य है। इन्हीं दोनों के संयोग से भारतीय समीक्षा-शैली की उत्पत्ति हुई है।

यहाँ बिना किसी प्रकार का अन्यथा आरोप किये हम इस शैली पर अपना मत देना चाहते हैं। सबसे पहले हम यह देखते हैं कि यह एक विदेशी पद्धति है जिसका हमारे देश की जलवायु में पोषण नहीं हुआ। यह परम्परा-रहित है और एक राजनीतिक मतवाद का अंग बनकर आई है। विदेशों में भी इसकी कोई पुरानी बुनियाद नहीं है। इसने जिस मार्क्सवादी दार्शनिकता को अपना रखा है, उसी की अनुचरी हो रही है। किसी भी साहित्यिक समीक्षा-शैली का किसी भी दार्शनिक या राजनीतिक मतवाद के शिकञ्जे में बँध जाना साहित्य के लिए शुभ लक्षण नहीं।

हिन्दी में इस समीक्षा-शैली का व्यावहारिक स्वरूप और भी विचित्र है। किस नवागन्तुक प्रतिभा को यह सहसा आसमान पर चढ़ा देगी और कब उसे जमीन पर ला पटकेगी, इसका कुछ भी निश्चय नहीं। किन्हीं दो समीक्षकों में किसी एक प्रश्न पर मतैक्य दिखाई देना असम्भव-सा ही है। मार्क्सवादी मतवाद जिस परिश्रम-साध्य सामाजिक तथ्यानुशीलन पर अवलम्बित है उसका नए समीक्षक बहुत कम अभ्यास करते हैं। एक बड़ी कमी यह भी है कि वे रचित साहित्य के साथ सामाजिक वस्तुस्थिति का योग नहीं देखते, बल्कि एक स्वरचित वस्तुस्थिति के आधार पर साहित्यिक रचना की परीक्षा करते हैं। बहुत थोड़े साहित्यकार संकीर्ण उद्देश्यों का अनुसरण कर सकते हैं।

आए दिन इनकी समीक्षाओं में 'टीटोवाद', 'ट्राट्स्कीवाद', 'मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट स्टालिनिस्ट पद्धति' आदि शब्दावलियों का जोरों से प्रयोग हो रहा है, जिससे यह

स्पष्ट सूचित होता है कि ये साहित्य में राजनीति ही नहीं प्रत्युत तात्कालिक और दैनिक राजनीति तथा कार्य-क्रम का नियमन करना चाहते हैं। इन्हीं कार्य-क्रमों का अनुसरण करने और न करने में ही ये साहित्य की प्रगतिशीलता और अप्रगतिशीलता का निपटारा करते रहते हैं। यह स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति में कोई बड़ी प्रतिभा पनप नहीं सकती और यह भी स्वाभाविक है कि प्रगतिशीलता का सेहरा सिर पर रखने के लिए कुछ लोग बने-बनाए 'सरकारी नुस्खों' का आँख मूँदकर सेवन करते रहें।

सैद्धान्तिक दृष्टि से हमारी आपत्ति यह है कि यह समीक्षा-शैली किसी साहित्यिक परम्परा का अनुसरण नहीं करती और न किसी साहित्यिक परम्परा का निर्माण ही कर रही है। यह जीवन के वास्तविक अनुभवों और सम्पर्कों की अपेक्षा पढ़े-पढ़ाए और बने-बनाए मतवाद को अधिक प्रोत्साहन देती है। इसकी सीमा में साहित्य के जो समाज-शास्त्रीय विवेचन होते हैं वे आवश्यकता से बहुत अधिक समाज-शास्त्रीय हैं और आवश्यकता से बहुत कम साहित्यिक। इस कारण मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धति साहित्य के भावात्मक और कलात्मक मूल्यों का निरूपण करने में सदैव पश्चात्पद रहती है।

यह समीक्षा-पद्धति कवि की समस्त मानवीय चेतना का आकलन न करके केवल उसकी राजनीतिक चेतना का आकलन करती है। इसी कारण इसके निर्णय प्रायः अधूरे या एकांगी होते हैं। केवल राजनीतिक धरातल पर किसी भी कवि की कविता नहीं परखी जा सकती, महान् कवियों की रचना तो और भी नहीं। फिर किसी काव्य की प्रेरणा के रूप में कौन सी वास्तविकता काम कर रही थी और उस पर कवि की प्रतिक्रिया किस प्रकार की हुई है, ये प्रश्न केवल समाज-शास्त्रीय आधार पर हल नहीं किये जा सकते। युग की परिस्थितियाँ अनेक वैषम्यों को लिये रहती हैं, युग की प्रगति कोई सीधी रेखा नहीं हुआ करती। उन समस्त वैषम्यों के बीच कवि की चेतना और उसकी प्रवृत्तियों को समझना केवल किसी राजनीतिक या सामाजिक मतवाद के सहारे ही सम्भव नहीं।

यदि हमने किसी प्रकार कवि या रचयिता की प्रेरक परिस्थितियों और वास्तविकता के प्रति उसकी प्रतिक्रिया को पूरी तरह समझ भी लिया, तो क्या इतना समझना ही साहित्य-समीक्षा के लिए सब-कुछ है? यह तो कवि या काव्य की भूमिका-मात्र हुई, जो काव्य-समीक्षा का आवश्यक अंग होते हुए भी, सब-कुछ नहीं है। वास्तविक काव्य-समीक्षा यहीं से आरम्भ होती है, यद्यपि राजनीतिक मतवादी उसे यहीं समाप्त समझते हैं। उनकी दृष्टि में रचयिता

की राजनीतिक और सामाजिक प्रगतिशीलता को समझ लेना ही साहित्य-समीक्षा का प्रमुख उद्देश्य है, जो कुछ शेष रह जाता है वह केवल काव्य का विधान-पक्ष, या टेकनीक है। किन्तु यह धारणा भ्रान्त है और समीक्षकों की साहित्यिक परम्परा के प्रति उपेक्षा और अज्ञान की परिचायिका है। कदाचित् इसी भ्रान्ति के कारण हिन्दी का मार्क्सवादी साहित्य इतना अनगढ़, और प्रभाव-हीन होता है।

किसी तत्त्व-ज्ञान में और वास्तविक कला में अन्तर होता है। हमने युग की प्रगतिशील वस्तुस्थिति की एक बौद्धिक या विश्लेषणात्मक धारणा बना ली, इतने से ही कवि और रचनाकार का उद्देश्य पूरा नहीं होता। उसके मार्ग में ये मोटी धारणाएँ और यह बौद्धिकता बाधक भी हो सकती है। उसे तो अपनी प्रेरणा जीवन की उर्वर भूमि से स्वतः प्राप्त करनी होगी, किसी माध्यम द्वारा नहीं। माध्यमों द्वारा वह रूखा-सूखा 'ज्ञान' प्राप्त कर सकता है, सरस और सहृदय अनुभूतियाँ नहीं। ऐसा व्यक्ति किसी पत्र-पत्रिका के लिए कोई लेख लिख सकता है, किसी मार्मिक जीवन-चित्र या काव्य की रचना नहीं कर सकता। हिन्दी का अधिकांश 'प्रगतिशील साहित्य' कदाचित् इसीलिए प्रचारात्मक निबन्धों के रूप में पाया जाता है।

और अन्त में हम यह भी कहना चाहेंगे कि हमारे ऊपर कोई नया दर्शन या नई चिन्तन-प्रणाली भी नहीं लादी जा सकती। यह समझना निरी भ्रान्ति है कि मार्क्स-दर्शन या मार्क्सीय विचार-पद्धति हमें जीवन की कोई अनुपम दृष्टि देती है और सत्य का सीधा साक्षात्कार कराती है। भारतीय तत्त्व-चिन्तन और विचार-विधियों को अपसारित करके उनके स्थान पर इस नई पद्धति को प्रतिष्ठित करना, भारतीय जन-गण की सांस्कृतिक परम्परा का अपमान करना है। इसी जन-गण की स्वस्थ चेतना और नैसर्गिक बुद्धिमत्ता का इजहार करते जो नहीं थकते, वे ही यह विदेशी लबादा भारतीय जनता पर लादना चाहते हैं। जिस प्रकार क्रिश्चियन धर्म की प्रलोभनकारिणी चादर हमें अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में भेंट की जा रही थी, उसी प्रकार यह मार्क्सवादी लबादा इस बीसवीं शताब्दी में लादा जा रहा है। जिस प्रकार भारतीय जनता उस परवश युग में भी उस चादर के मोह में नहीं पड़ी और उसे ज्यों-का-त्यों लौटा दिया उसी प्रकार यह नया लबादा भी हमें उन्हें वापस कर देना है।

कदाचित् हम इस नए दार्शनिक खतरे को ठीक तरह से समझ नहीं पाए हैं। यह भी दर्शन या विज्ञान के नाम पर एक नया धर्म ही है जो हमारी जनता को भेंट किया जा रहा है। विशेषता यह है कि इस बार गुप्त या प्रच्छन्न रूप

से यह हमारे सामने लाया गया है। पर यह भी पश्चिम की ओर से पूर्व-विजय की एक सांस्कृतिक योजना ही है। सवाल यह है कि हम इसे स्वीकार करेंगे या नहीं। सबसे पहले हमें यह भ्रम दूर कर देना चाहिए कि यह दर्शन ही एक-मात्र प्रगतिशीलता का पर्याय है और इसके बिना हम जहाँ-के-तहाँ रह जाएँगे। राष्ट्र और जातियाँ किसी मतवाद के बल पर बड़ी नहीं होतीं; वे बड़ी होती हैं अपनी आन्तरिक चेतना, सहानुभूति और प्रयत्नों के बल पर। क्रिश्चियन धर्म भी हमें सभ्य बनाने का ही 'लक्षण' लेकर आया था, और मार्क्स दर्शन भी हमें समुन्नत और प्रगतिशील बनाने का उद्देश्य लेकर चला है। परन्तु जिस प्रकार हम क्रिश्चियन धर्म के बिना भी धार्मिक और सभ्य बने रहे, उसी प्रकार मार्क्स-दर्शन के बिना दार्शनिक और प्रगतिशील बने रह सकते हैं, यदि हम अपनी प्रगतिशील परम्परा को पहचान सकें और अपनी दार्शनिक और सांस्कृतिक विरासत के प्रति ईमानदार रह सकें। ऐसा न होने पर एक छिछली और क्षणिक प्रगतिशीलता ही हमारे हाथ लगेगी।

जहाँ तक एक नई समीक्षा-पद्धति और साहित्यिक चेतना का प्रश्न है, हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि साहित्य के सामाजिक लक्ष्यों और उद्देश्यों का विज्ञापन करने वाली यह पद्धति साहित्य का बहुत-कुछ उपकार भी कर सकी है। उसने हमारे युवकों को एक नई तेजस्विता भी प्रदान की है और एक नया आत्मबल भी दिया है। पर यह किस मूल्य पर हमें प्राप्त हुआ है? सबसे पहले इस नई पद्धति ने हमारी नई शिक्षित सन्तति को विशेष समाज-दर्शन और जीवन-दर्शन का अनुचर बना दिया है। इसके बाद ही उसने हमारी दृष्टि एक तात्कालिक सामाजिक समस्या पर केन्द्रित कर दी है। हम एक छोटी किन्तु मजबूत रस्सी से बाँधकर उक्त सामाजिक समस्या की खूँटी में जकड़ दिए गए हैं और अब हम किसी दूसरी ओर सिर उठाकर देख भी नहीं सकते। यही परवशता है जो हमें विदेशी शासन से स्वतन्त्र होते ही प्राप्त हुई है। आज हमारे साहित्यिक मानदण्ड इसी खूँटी से बँधे होने के कारण अतिशय सीमित और संकीर्ण हो उठे हैं। हमारा सारा विचार-स्वातन्त्र्य खो गया है और हममें बड़े और व्यापक विचारों को ग्रहण करने की क्षमता नहीं रह गई है। विचारों का एक 'सरकारी महकमा' खुल गया है, जिसकी ओर सबकी टकटकी लगी रहती है।

आश्चर्य तो यह है कि हम बिना इतनी परवशताएँ उठाए भी अपना और अपने साहित्य का कल्याण कर सकते थे-और कर ही रहे थे। हम रवीन्द्र और शरच्चन्द्र, प्रेमचंद और प्रसाद की साहित्यिक परम्परा पर सिर उठाकर और

माथा नवाकर चल रहे थे और चले जा सकते थे। परन्तु हमने, न जाने क्यों, वह रास्ता पसन्द नहीं किया और दौड़ पड़े एक दूसरी ही पगडंडी की ओर। आज हिन्दी-साहित्य के इस प्रगतिवादी सम्प्रदाय में जो कलह और कशमकश चल रही है उसका मुख्य कारण एक पतली लीक में बहुत से आदमियों का आकर रास्ता पाने की चेष्टा करना है।

हमें रवीन्द्र और प्रसाद, शरच्चन्द्र और प्रेमचंद की साहित्यिक परम्परा को और शुक्ल-शैली की समीक्षा को नवीन परिस्थितियों के अनुरूप आगे बढ़ाना है। हम किसी भी नए मतवाद या ज्ञान-द्वार की अवहेलना नहीं करते, परन्तु किसी को आँख मूँदकर मुक्ति-मार्ग मान लेने के भी हम पक्षपाती नहीं हैं। निश्चय ही हमारी यह प्रतिक्रिया हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत चलने वाले प्रगतिवादी आन्दोलन के प्रति है। रचनात्मक क्षेत्र में प्रसाद, निराला, प्रेमचंद अथवा पंत की भी तुलना के साहित्यिक की हम आज भी प्रतीक्षा कर रहे हैं। जो प्रतिभाएँ और व्यक्तित्व स्वाभाविक रूप से इनके पश्चात् आए, वे भी कदाचित् प्रगतिवाद के अतिशय बौद्धिक प्रभावों और समीक्षा की असन्तुलित गतिविधियों के कारण दिग्भ्रान्त हो गए हैं।

हम यह नहीं कहते कि हमारा साहित्य पिछले वर्षों में आगे नहीं बढ़ा, पर हमारा अनुमान है कि उसे जितना आगे बढ़ना चाहिए था, उतना नहीं बढ़ा। हम यह भी नहीं कहते कि प्रगतिवादी समीक्षा ने हिन्दी को कुछ दिया ही नहीं। उसने दो वस्तुएँ मुख्य रूप से दी हैं। प्रथम यह कि काव्य-साहित्य का सम्बन्ध सामाजिक वास्तविकता से है, और वही साहित्य मूल्यवान है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है। द्वितीय यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितना ही दूर होगा, वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जायगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि से भी हीन और ह्रासोन्मुख होगा। इस प्रकार साहित्य के सौष्ठव-सम्बन्धी एक नई मापरेखा और एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति ने हमें दिया है जिसका उचित उपयोग हम करेंगे।

एक तीसरी समीक्षा-शैली भी, जिसका उल्लेख 'विशेषणात्मक' या 'मनोविज्ञानिक' शैली के नाम से हम ऊपर कर आए हैं, हिन्दी में प्रचलित हो रही है। इसका मूलवर्ती मन्तव्य यह है कि साहित्य की सृष्टि व्यक्ति की वाह्य या सामाजिक चेतना के आधार पर उतनी नहीं होती जितनी उसकी अव्यक्त या अंतरंग चेतना के आधार पर होती है। इस अंतरंग चेतना का विश्लेषण प्रसिद्ध मनोविश्लेषक सिगमंड फ्रायड ने एक विशेष मतवाद के रूप में किया है। यद्यपि

उसके विश्लेषण पर कतिपय संशोधन और/ परिष्कार भी हुए हैं, परन्तु मुख्य तथ्य में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। वह मुख्य तथ्य यह है कि मानव का मूल या आदि-जात मानस ही वह आधारभूत सत्ता है जिस पर व्यक्ति की शैशवावस्था से अनेक प्रतिरोधी संस्कार पड़ते हैं और कुण्ठाएँ बनती हैं। सामाजिक जीवन में वे कुण्ठाएँ बुद्धि द्वारा शासित रहती हैं, किन्तु स्वप्नावस्था में वे विद्रोह करती हैं और इच्छा-तृप्ति का मार्ग निकालती हैं। साहित्य में भी यह इच्छा-तृप्ति की प्रक्रिया चला करती है, विशेषकर काव्य और कल्पना-प्रधान साहित्य में। काव्य की समस्त रूप-सृष्टि इस मूलभूत इच्छा-तृप्ति का ही एक प्रच्छन्न प्रकार है।

स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त काव्य-साहित्य की उत्पत्ति-प्रक्रिया का निर्देश करता है, और विभिन्न साहित्यिक कृतियों की मूलभूत प्रेरणाओं का विश्लेषण करता है, परन्तु यह किसी साहित्यिक कृति के उत्कर्षापकर्ष का निर्णय करने का दावा नहीं करता। इसके लिए तो हमें साहित्यिक प्रतिमान ही काम में लाने होंगे। जिस प्रकार हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं कि समीक्षा की प्रगतिवादी शैली अपने में पूर्ण नहीं है और उसे साहित्यिक परम्परा और साहित्यिक समीक्षा-विधियों से मिलाकर ही उपयोग में लाया जा सकता है, उसी प्रकार यह विश्लेषणात्मक पद्धति भी साहित्य के स्वरूप और विशेषकर उसकी रचना-प्रक्रिया को समझने का साधन-मात्र है।

यदि हम इन प्रगतिवादी और विश्लेषणात्मक समीक्षा-शैलियों को एक दूसरे की तुलना में लाकर रखें तो देखेंगे कि ये एक अर्थ में एक-दूसरे की विरोधी धारणाओं को उपस्थित करती हैं, किन्तु दूसरे अर्थ में ये एक-दूसरे से पृथक् और अविरुद्ध भी हैं। प्रगतिवादी या समाज-शास्त्रीय पद्धति सामाजिक गतिशीलता के प्रति कवि की सचेतन प्रतिक्रिया को व्यक्त करती है, जब कि मनोविश्लेषण पद्धति रचना की अंतरंग प्रतिक्रिया का विवेचन करती है। इस दृष्टि से दोनों के अनुशीलन-क्षेत्र एक-दूसरे से भिन्न होने के कारण अविरोधी भी कहे जा सकते हैं।

परन्तु जब ये दोनों पद्धतियाँ साहित्य की सर्वांगीण व्याख्या और मूल्यांकन करने का बीड़ा उठाती हैं तब एक-दूसरे के विरोध में आ पड़ती हैं। तभी ये असम्बद्ध और विरोधिनी प्रतीत होने लगती हैं और इनका यथार्थ उपयोग हमारी समझ के बाहर चला जाता है। इन मतवादों की अपनी-अपनी सीमा के बाहर जाकर सर्वग्राही बनने की प्रवृत्ति को ही लक्ष्य करके हमने 'आधुनिक साहित्य' की भूमिका में लिखा था कि "ये विज्ञान, अपनी-अपनी जगह काम करें, साहित्य

की निर्माण-प्रक्रिया को (अपनी-अपनी दृष्टि से) समझाने की चेष्टा करें, पर साहित्य की गतिविधि को अपने मतवाद का शिकार न बनायें, उसे स्वतन्त्र रूप से फूलने-फलने का अवसर दें।" और इसी तथ्य को हम यहाँ फिर से पूरे आग्रह के साथ दोहराना चाहते हैं।

कदाचित् साहित्य की इन्हीं मतवादी समीक्षा-शैलियों से ऊबकर कतिपय समीक्षकों ने एक नितान्त नई शैली को अपनाया है जिसमें वे किसी भी साहित्यिक, सामाजिक अथवा मनोविज्ञानिक परम्परा या विचार-पद्धति का आश्रय न लेकर रचना के सम्बन्ध में अत्यन्त स्वतन्त्र और वैयक्तिक भावना व्यक्त करते हैं। इसे ही हमने ऊपर व्यक्तिमुखी, भावात्मक या प्रभावाभिव्यंजक शैली कहा है। इस शैली का एक-मात्र गुण यह है कि यह समीक्षक की निष्पक्ष भावना या रुचि का उद्‌घाटन करती है और किसी भी सैद्धान्तिक उलझन में पाठक को नहीं डालती। परन्तु यह पद्धति, सब-कुछ होने पर भी, एक नकारात्मक पद्धति ही ठहरती है। यह पाठक के सामने कोई दृष्टिकोण या आधारभूत तथ्य नहीं रखती। यह समीक्षा, अतिशय स्वतन्त्र होने के कारण एक नई रचना का ही स्वरूप ले लेती है और वैसी अवस्था में इसे समीक्षा कहना भी कठिन हो जाता है। अधिक विचार पूर्वक देखने पर इस प्रकार की समीक्षा में एक मूलभूत असंगति भी दीख पड़ती है। दो-तीन या अधिक रचनाओं के प्रति उसके मन्तव्य इतने एक-से होते हैं कि पाठक को समीक्षक की बात समझने के लिए अपनी ओर से उसकी समीक्षा करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार पाठक तो समीक्षक बन जाता है और समीक्षक केवल पाठ्य रहता है।

ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्य की समाज-शास्त्रीय, मनोविज्ञानिक अथवा प्रभावाभिव्यंजक व्याख्याएँ और समीक्षा-शैलियाँ अपने में पूर्ण नहीं हैं। उनकी सार्थकता साहित्यिक समीक्षा-पद्धति से मिलकर काम करने में ही है। हमारी साहित्यिक समीक्षा-पद्धति निरन्तर विकासशील होगी और वह अन्य शैलियों या मतवादों द्वारा प्रस्तुत की गई नई विशेषताओं या नवीन ज्ञान का समुचित उपयोग करेगी। परन्तु ऐसा करती हुई वह अपनी परम्परा को छोड़ नहीं देगी, और न पूर्णतः नई कहलाने के लिए विदेशी जीवन-दर्शनों और विचार-पद्धतियों का आँख मूँदकर अनुसरण करेगी। सम्भव है इस प्रशस्त पथ पर चलते हुए वह नवीनता की प्रगति में पिछड़ जाय, पर इससे अधिक हानि नहीं होने की। यह भी सम्भव है कि परम्परा का अनुसरण करने के कारण साहित्यिक मूल्यांकन में छोटी-मोटी भ्रान्तियाँ भी हो जायें और दृष्टि उतनी साफ न रहे, जितनी नए मार्ग पर चलने वाले नव्य द्रष्टा

की होती है। फिर भी व्यापक, अनुभूत और निरापद होने की दृष्टि से यही शैली सर्वाधिक उपादेय है।

हमें यह देखकर प्रसन्नता हुई कि प्रस्तुत पुस्तक 'साहित्य-विवेचन' में इसी साहित्यिक समीक्षा-शैली का व्यवहार हुआ है, जिससे यह पुस्तक किसी भी अति-वादी दृष्टि या मतवाद से ऊपर रहकर उनका सम्यक् उपयोग करने में स्वतन्त्र रह सकी है। कहीं, किसी विशेष कवि या लेखक के प्रति, कोई अतिरंजित विचार या निर्णय आ गया हो, यह असम्भव नहीं। यह भी सम्भव है कि समीक्षा की समाज-शास्त्रीय या मनोविज्ञानिक विधियों का उपयोग करने पर कुछ अधिक सारपूर्ण विवरण और आकर्षक तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते थे। किन्तु तब यह विसम्भावना भी बनी रहती कि पुस्तक के अनेक निर्णय साहित्यिक दृष्टि से अधिक संशयास्पद हो जाते। वर्तमान रूप में यह पुस्तक साहित्य के विभिन्न रूपों पर अच्छा प्रकाश डालती है और हिन्दी के विविध काव्याङ्गों के विकास-क्रम का एक व्यवस्थित विवरण भी उपस्थित करती है। हम निस्संकोच कह सकते हैं कि अपने विषय की उपलब्ध हिन्दी-पुस्तकों से यह किसी प्रकार पीछे नहीं है, वल्कि इसमें कई नए विषय और उनकी नवीन व्याख्याएँ भी प्राप्त होती हैं। इसका विवेचन गम्भीर है, इसकी व्याख्याएँ सन्तुलित हैं, और इसकी भाषा-शैली प्रौढ़ और परिष्कृत है। पुस्तक हिन्दी के प्रत्येक विद्यार्थी के काम की है। अतएव हम आशा करते हैं कि इसका हिन्दी-संसार में उचित स्वागत और सम्मान होगा।

सागर-विश्वविद्यालय
१३ जुलाई, ५२

नन्ददुलारे वाजपेयी

निवेदन

राष्ट्र-भाषा हिन्दी के इस उन्नयन काल में साहित्य के अन्य अंगों के समान समालोचना के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई है। किन्तु इधर जो भी साहित्य निकला, उसमें या तो विभिन्न विश्वविद्यालयों के रिसर्च-स्कालरों द्वारा की जाने वाली शोध के ग्रन्थ हैं और या बिलकुल ही परीक्षाओं के दृष्टिकोण से लिखी गई छात्रोपयोगी पुस्तकें। इसके अतिरिक्त कुछ स्फुट संकलन-ग्रन्थ भी निकले हैं। जो हमारी प्रगति के परिचायक हैं।

यद्यपि आलोचना के प्रमुख सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने वाली पुस्तकें हिन्दी में पर्याप्त हैं तथापि उनमें ऐसी बहुत कम हैं, जिनमें साहित्य-समालोचन के सिद्धान्तों का समीचीन अध्ययन होने के साथ-साथ उसकी प्रमुख आलोच्य विधाओं का तटस्थ दृष्टिकोण से लिखा गया संक्षिप्त इतिहास भी हो। इसी अभाव को अनुभव करके हमने प्रस्तुत पुस्तक में इस बात का पूर्ण प्रयत्न किया है कि हिन्दी-साहित्य के प्रमुख अंगों का शास्त्रीय और सैद्धान्तिक विवेचन होने के साथ-साथ तत्तद्-विषयक संक्षिप्त इतिहासिक अनुशीलन भी हो। अभी तक जितनी भी ऐसी पुस्तकें हमारी दृष्टि में आई हैं अधिकांशतः उनमें साहित्य के केवल सैद्धान्तिक पक्ष को ही प्रस्तुत किया गया है और वे पर्याप्त विस्तृत और गुरु-गम्भीर भी हो गई हैं।

प्रस्तुत पुस्तक इसी दिशा में किया गया एक विनम्र किन्तु ठोस प्रयास है। हमने यथासम्भव हिन्दी-साहित्य और उससे सम्बन्धित विविध कला-पक्षों की शास्त्रीय उपादेयता सिद्ध करके उनका संक्षिप्त अध्ययन भी काल-क्रम से उपस्थित करने की चेष्टा की है। इसकी शैली इतनी सरस है कि हिन्दी-साहित्य से रुचि रखने वाला साधारण-से-साधारण पाठक भी इस पुस्तक के माध्यम द्वारा हिन्दी-साहित्य और उसकी प्रमुख विधाओं का सर्वांगीण परिचय प्राप्त कर सकेगा, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

इस पुस्तक के लिखने में हमें जिन पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जो सहायता उपलब्ध हुई है, उसके लिए हम उनके लेखकों तथा सम्पादकों का विनम्र आभार स्वीकार करते हैं। साथ ही हम आचार्य श्री हरिदत्त शास्त्री, श्री परमानन्द शास्त्री और श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' को भी नहीं भुला सकते, जिन्होंने इस पुस्तक के लेखन के दिनों में अपने अनेक उपयोगी परामर्शों से हमें लाभान्वित किया है।

इस प्रसंग में हम उत्तर प्रदेश-सरकार के भी हार्दिक आभारी हैं। जिसने पुस्तक की पाण्डुलिपि को ही पुरस्कृत करके हमारा उत्साह बढ़ाया। आत्माराम एण्ड संस दिल्ली के उदारमना संचालक श्री रामलाल पुरी के सौजन्य को भी नहीं भुलाया जा सकता, जिन्होंने पुरस्कार-घोषणा के तुरन्त बाद ही पुस्तक के सुरुचिपूर्ण प्रकाशन की व्यवस्था कर दी।

पुस्तक के मुद्रण के लिए हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस दिल्ली के उत्साही कार्य-व्यवस्थापक श्री श्यामसुन्दर गर्ग और उनके कर्मठ साथी इसलिए हमारे धन्यवाद के पात्र हैं कि उन्होंने इस भीषण गर्मी में केवल १५ दिन में ही इस विशाल पुस्तक का मुद्रण समाप्त कर दिया।

२६७१, हाथीखाना
पहाड़ी धीरज, दिल्ली ६

क्षेमचन्द्र 'सुमन'
योगेन्द्रकुमार मल्लिक

क्रम

साहित्य-विवेचन

एक साहित्य

१. साहित्य की परिभाषा

साहित्य क्या है ? इस प्रश्न पर शताब्दियों से विचार होता आ रहा है, और इसी प्रश्न के उत्तर में साहित्य की संज्ञा निरूपित करने की अनेकानेक चेष्टाएँ की गई हैं। यदि आज हम इन परिभाषाओं और लक्षणों को यहाँ एकत्रित करने का प्रयत्न करें तो निश्चय ही हम उनसे किसी भी एक निश्चय पर पहुँचने में असमर्थ होंगे। प्रथम तो किसी भी वस्तु का चरम और निर्भ्रान्त परिचय देना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव भी है; दूसरे साहित्य तो अजस्र वैचित्र्य का स्रोत है, और इसी कारण जब उसे किसी परिभाषा के अन्तर्गत बाँधने का प्रयत्न किया जाता है तो उस वैचित्र्य के कुछ अंश को ग्रहण किया जाता है। किन्तु मनुष्य का प्रयास कभी समाप्त नहीं होता, उसकी ऐक्यान्वेषी प्रवृत्ति इस सम्पूर्ण वैचित्र्य में भी व्याप्त एकत्व का निरन्तर अन्वेषण करती आई है। अतः अतीत और वर्तमान दोनों ही कालों में साहित्य की अनेक वैयाकरणिक, दार्शनिक और साहित्यिक परिभाषाएँ की गई हैं, जिनमें से कुछ का परिचय देना यहाँ असंगत न होगा। राजशेखर ने साहित्य की व्याख्या इस प्रकार की है :

शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विधा साहित्य विद्या।

अर्थात् शब्द और अर्थ के यथायोग्य सहयोग वाली विधा साहित्य विद्या है। 'शब्द कल्पद्रुम' में श्लोकमय ग्रन्थ को साहित्य कहा गया है :

मनुष्यकृतश्लोकमय ग्रन्थ विशेषः साहित्यम्।

इसी प्रकार अन्यत्र कहा गया है :

तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वम् बुद्धिविशेषविषयित्वम् वा साहित्यम्।

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने साहित्य शब्द की धातुगत व्याख्या करते हुए साहित्य की परिभाषा इस प्रकार की है :

सहित शब्द से साहित्य के मिलने का एक भाव देखा जाता है। **वह केवल भाव भाव का, भाषा भाषा का, ग्रन्थ ग्रन्थ का ही मिलन नहीं**

है; बल्कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अन्तरङ्ग मिलन भी है जो कि साहित्य के अतिरिक्त अन्य से सम्भव नहीं है।

हेनरी हडसन लिखता है : "It is fundamentally an expression of life through the medium of language." (साहित्य मूलतः भाषा के माध्यम द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति है।)

साहित्य तथा काव्य—इससे पूर्व कि हम साहित्य का लक्षण निरूपित करें अथवा उसके स्वरूप-निर्धारण का प्रयत्न करें, यहाँ यह उचित होगा कि हम साहित्य शब्द की परिधि और क्षेत्र से अवगत होकर साहित्य तथा काव्य शब्द का सम्बन्ध भी जान लें। आज हमारी बोल-चाल में साहित्य शब्द एक व्यापक अर्थ का परिचायक हो चुका है, और उनके अन्तर्गत सम्पूर्ण वाङ्मय को गृहीत किया जाता है। दर्शन, भूगोल, ज्योतिष तथा अर्थशास्त्र इत्यादि विषयों पर लिखित सम्पूर्ण सामग्री आज साहित्य समझी जाती है। यहाँ तक ही नहीं, प्रत्येक विज्ञाप्य वस्तु का विज्ञापन और न्यायालय से सम्बन्धित सूचना-पत्र भी साहित्य माना जाता है। जिस प्रकार अंग्रेजी शब्द लिट्रेचर (Literature) का प्रयोग साधारण बोल-चाल में अक्षरों ((Letters) में आयोजित प्रत्येक सामग्री के लिए किया जाता है उसी प्रकार हिन्दी में भी साहित्य शब्द व्यापक अर्थ को ध्वनित करता है। परन्तु साहित्य-शास्त्र का विद्यार्थी साहित्य शब्द को वाङ्मय का द्योतक न समझकर उससे एक विशिष्ट अर्थ को ग्रहण करता है। साहित्य-शास्त्र का विद्यार्थी साहित्य के अन्तर्गत केवल उसी लिखित सामग्री को ग्रहण करता है जो कि प्रथम तो विषय की दृष्टि से किसी एक विशिष्ट वर्ग या श्रेणी से सम्बन्धित न होकर मानव-मात्र की रुचि से सम्बन्धित हो और दूसरे यह कि वह आनन्दप्रद तथा कलात्मक हो। इस ग्रन्थ में गृहीत साहित्य शब्द ही वास्तविक साहित्य का परिचायक है, और इसी वास्तविक साहित्य के लिए ही काव्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। साहित्य शब्द के संकीर्ण अर्थ के अन्तर्गत हम मनुष्य की केवल बौद्धिक तुष्टि तथा ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा को पूर्ण करने वाली पुस्तकों को ग्रहण नहीं करते, हम केवल उसे ही साहित्य समझते तथा मानते हैं जो कि मनुष्य के जीवन को सरस, सुखी तथा सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है। साहित्य के इस अर्थ का परिचायक काव्य शब्द ही है। सिद्धान्त-प्रतिपादन या वस्तु-परिगणन-सम्बन्धी मानव की बौद्धिक तुष्टि के लिए लिखी गई सामग्री केवल मनुष्य की ज्ञान-प्राप्ति का साधन है, वह उसके हृदय को रसाप्लावित नहीं कर सकती, इसी कारण ज्ञान-प्राप्ति के सम्पूर्ण विषय

शास्त्र (Science) के अन्तर्गत गृहीत किये जाते हैं।

काव्य तथा कविता—हम पहले लिख आए हैं कि साहित्य शब्द के वास्तविक अर्थ का परिचायक काव्य शब्द है; वास्तव में भिन्न-भिन्न काव्य-कृतियों का समष्टि-संग्रह ही साहित्य है। इस प्रकार संग्रह रूप में जो साहित्य है मूल रूप में वही काव्य है। (संस्कृत में काव्य शब्द से गद्य, पद्य तथा चम्पू का बोध होता है,) किन्तु आज हम उसको प्राचीन अर्थ से किञ्चित् विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, और उसे सम्पूर्ण साहित्य का पर्यायवाची मानते हैं। इस प्रकार जो साहित्य का लक्षण है वही काव्य का लक्षण माना जायगा। कविता, कहानी, उपन्यास तथा नाटक आदि सब काव्य के अंग हैं। कुछ लोग केवल कविता के अर्थ में ही काव्य शब्द का प्रयोग करते हैं, परन्तु इस प्रकार का प्रयोग भ्रामक तथा अशुद्ध है। क्योंकि कविता तो केवल काव्य का ही एक अंग है, और जिस प्रकार साहित्य शब्द कविता, उपन्यास तथा कहानी इत्यादि साहित्य के विभिन्न अंगों के लिए प्रयुक्त किया जाता है, किसी अङ्ग विशेष के लिए नहीं; उसी प्रकार काव्य शब्द साहित्य के विभिन्न रूपों का परिचायक है, केवल कविता का नहीं।

साहित्य का लक्षण—ऊपर हम काव्य के विभिन्न लक्षणों में से कुछ लक्षण दे आए हैं। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि साहित्य का एक निश्चित लक्षण निर्धारित कर देना अत्यन्त कठिन है। मनुष्य के सम्पूर्ण भाव-जगत् से सम्बन्धित और उसकी विविध अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के इस महान् साधन को किञ्चित शब्दों में बाँध देना क्या सरल हो सकता है? हमारे प्राचीन आचार्यों ने साहित्य का लक्षण निर्धारित करने से पूर्व उसकी आत्मा की खोज की, और अपनी विशिष्ट समीक्षा-पद्धति के अनुसार मानव-हृदय में सुख तथा आह्लाद की उत्पत्ति करने वाले उस तत्त्व के अन्वेषण का प्रयत्न किया जिसे कि वे काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार कर सकें। शब्द तथा अर्थ को काव्य का शरीर मानते हुए समीक्षकों का यह वर्ग परिणाम पर पहुँचकर दो विभिन्न दलों में बँट जाता है। एक दल ने तो आत्मा का अन्वेषण करते हुए रस को काव्य की आत्मा माना और दूसरे दल ने आत्मा के अन्वेषण में काव्य के शरीर को ही आत्मा मान लिया। भरत मुनि तथा आचार्य विश्वनाथ रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं; दण्डी, भामह तथा हिन्दी में आचार्य केशवदास अलंकारों को काव्य की आत्मा मानते हैं। आचार्य केशवदास ने कहा है :

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु नहिं राजई, कविता, वनिता, मित्त॥

भाषा भावाभिव्यक्ति का साधन है और अलंकार भाषा के शृङ्गार के साधन

हैं, परन्तु स्वाभाविक सौन्दर्य अलंकारों की अपेक्षा नहीं रखता। अलंकारों को काव्य की आत्मा स्वीकार करने वाले आचार्य काव्य के मूल तत्त्व–भाव–को भुला देते हैं, और उसकी अभिव्यक्ति के साधन–भाषा को ही अधिक महत्त्व देते हैं। आचार्यों का एक तीसरा वर्ग वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करता है। वक्रोक्ति—बात को कलात्मक ढंग से घुमाव-फिराव के साथ कहना—भी एक प्रकार से भावाभिव्यक्ति का ही ढंग है। ध्वनि-सम्प्रदाय के विद्वान् रस की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी उक्ति के ढंग पर ही अधिक ध्यान देते हैं। वास्तव में अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, रीति इत्यादि सभी उक्ति के सौन्दर्य को अनूठा बनाने के साधन हैं, उसकी आत्मा नहीं। हाँ, इन सभी आचार्यों ने काव्य में रस की महत्ता को स्वीकार अवश्य किया है। वास्तव में अलौकिक आनन्द तथा आह्लाद का उत्पादक रस ही काव्य की आत्मा है।

इन विभिन्न विचार-धाराओं से प्रभावित होकर अनेक आचार्यों ने साहित्य की विविध परिभाषाएँ की हैं। इनमें 'काव्य-प्रकाश' के रचयिता मम्मटाचार्य, 'साहित्य-दर्पण'-कार आचार्य विश्वनाथ और 'रस-गंगाधर' के कर्त्ता पण्डितराज जगन्नाथ मुख्य हैं। यहाँ इन सबके द्वारा प्रस्तुत विभिन्न परिभाषाओं पर विचार कर लेना अनुचित न होगा। 'काव्य-प्रकाश' के रचयिता मम्मटाचार्य ने निर्दोष, सगुण तथा अलंकारयुक्त रचना को काव्य माना है: तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

पहले तो इस परिभाषा में भाव पक्ष की अपेक्षा कला पक्ष पर अधिक बल दिया गया है, दूसरे किसी उच्च कोटि की रचना का सर्वथा दोष-रहित हो सकना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव भी है। इस प्रकार जहाँ यह परिभाषा संकुचित है वहाँ अपूर्ण और अस्पष्ट भी है।

आचार्य विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए रसात्मक वाक्य को काव्य कहा है: वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। रस द्वारा भाव पक्ष और वाक्य द्वारा कला पक्ष को ग्रहण करके आचार्य ने एक अत्यन्त सरल तथा सुबोध लक्षण निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु साधारण-जन के लिए 'रस' शब्द का अर्थ समझना अवश्य ही कठिन है।

'रस गंगाधर' के कर्त्ता पण्डितराज जगन्नाथ रमणीय अर्थ के बतलाने वाले वाक्य को काव्य मानते हैं: रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। जिसके ज्ञान से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, वही रमणीय अर्थ है। अलौकिक आनन्द की प्राप्ति शब्द-लालित्य या सुन्दर पद-रचना से ही नहीं हो जाती, बल्कि उस लालित्यपूर्ण शब्द से या पदावली से प्राप्त अर्थ के ज्ञान की

मुग्धता के फलस्वरूप हृदय में एक ऐसे आनन्द की सृष्टि होती है जिसमें निमग्न होकर हम अपने-आपको, अपने संसार को भूल जाते हैं। वही आनन्द काव्य का रस है, और काव्य में उस रस की प्रमुखता ही आचार्य विश्वनाथ और पण्डित-राज जगन्नाथ ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार स्वीकार की है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण—पाश्चात्य आचार्यों ने काव्य में निम्न लिखित तत्त्वों की आवश्यकता को स्वीकार करके उन्हीं के अनुसार साहित्य के लक्षण निर्धारित किये हैं :-(क) कल्पना-तत्त्व (ख) बुद्धि-तत्त्व (ग) भाव-तत्त्व तथा (घ) शैली-तत्त्व।

इन विभिन्न तत्त्वों के अर्थ को हृदयंगम करने के लिए इन पर विस्तार-पूर्वक विचार कर लेना चाहिए।

(क) कल्पना-तत्त्व (Element of Imagination) : कल्पना शब्द संस्कृत की क्लृप धातु से बना है, जिसका अर्थ निर्माण या सृष्टि करना है। अंग्रेजी में कल्पना का पर्याय इमेजिनेशन (Imagination) है, और इसका निर्माण इमेज (Image) शब्द से हुआ है,जिसका अर्थ है मन में धारणा करना। कल्पना द्वारा कलाकार या कवि अप्रत्यक्ष तथा अमूर्त्त वस्तुओं को भी चित्रित कर देता हैं, और इसी शक्ति के द्वारा वह अपनी कृति में उन्हीं चित्रों को पाठक के मानस-चक्षुओं के सम्मुख ला खड़ा करता है। साधारण घटनाओं को भी कल्पना का आश्रय लेकर कवि उन्हें असाधारण बना देता है, और रस-हीन तथा शुष्क वस्तुओं एवं घटनाओं को वह पाठक के सम्मुख अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा इस रूप में प्रस्तुत करता है कि उसका हृदय तरंगान्वित होकर रसाप्लावित हो जाता है। कल्पना ही कवि की सृजन-शक्ति है और इसी के बल पर वह ब्रह्म की सृष्टि का पुनर्निर्माण कर सकता है। कल्पना-सम्पन्न होने के कारण ही कवि भविष्य-द्रष्टा कहलाता है, क्योंकि उसी के बल पर वह भूत और भविष्य के चित्रों को भी अपनी रचनाओं में उपस्थित कर सकता है।

(ख) बुद्धि-तत्त्व (Intellectual Element): बुद्धि-तत्त्व में विचार की प्रधानता होती है। कलाकार की रचना का एक विशिष्ट उद्देश्य होता है, वह उसके द्वारा अपने पाठकों को एक विशिष्ट सन्देश देना चाहता है। इस विशिष्ट सन्देश तथा उद्देश्य के प्रतिपादन के हेतु वह काव्य के माध्यम से अपने विशिष्ट विचारों की अभिव्यक्ति करता है, यह विचार ही साहित्य में बुद्धि-तत्त्व कहलाते हैं। साहित्य में कलाकार अपने दृष्टिकोण के अनुसार जीवन की व्याख्या करता है, और विश्व के चिरन्तन तथा महान् सत्य की अभिव्यक्ति करता है, इस अभिव्यक्ति में ही वह

अपने दार्शनिक विचारों की स्थापना करता हुआ बुद्धि-तत्त्व की पुष्टि करता है। परन्तु साहित्यकार के विचार और उसका दर्शन दार्शनिकों के विचारों तथा आदर्शों की अपेक्षा अधिक स्थायी तथा प्रभावोत्पादक होते हैं। कल्पना के आश्रय से वह दार्शनिक द्वारा की गई जीवन की शुष्क तथा नीरस व्याख्या को भी सरस तथा हृदयग्राही बना देता है। विश्व के श्रेष्ठ कवि वास्तव में जीवन के श्रेष्ठ व्याख्याकार होते हैं।

(ग) भाव-तत्त्व (Emotional Element) : भाव-तत्त्व को ही हमारे आचार्यों ने साहित्य या काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। भाव-तत्त्व के अभाव में साहित्य निश्चय ही निष्प्राण हो जाता है। सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर जब कलाकार उच्च भाव-भूमि पर स्थित आनन्दमय भावों का उद्रेक अपने हृदय में पाता है और उन्हें अपने काव्य में प्रगट करता है तब वही रस का रूप धारण करके पाठक के या श्रोता के हृदय को आनन्द-मग्न कर देते हैं। हमारे प्राचीन आचार्यों ने रस का भावों से ही सम्बन्ध माना है और इन भावों की साहित्य-शास्त्र में विविध भेदोपभेदों के रूप में विशद व्याख्या की है। पाश्चात्य आचार्य निम्न तत्त्वों को भावों में तीव्रता लाने में सहायक मानते हैं—

(१) *औचित्य*—मनोवेगों का आधार न्याययुक्त, तर्क-संगत तथा उचित होना चाहिए। भावों का उचित आधार ही साहित्यिक रचना में स्थायित्व उत्पन्न करता है। जिन रचनाओं के भाव का आधार उचित नहीं होता वह साहित्य में अमर नहीं हो सकतीं। सस्ती भावुकता तथा रोमान्स पर आधारित या कौतूहल तथा एय्यारी से परिपूर्ण उपन्यास, कथा अथवा कविता के अस्थायी होने का एक-मात्र कारण भावों में औचित्य की कमी ही है।

(२) *विशदता*—या शक्तिमत्ता साहित्यिक मनोभावों की प्रभावोत्पादकता के लिए अनिवार्य है। विशद या शक्तिशाली मनोभाव ही पाठक या श्रोता को आन्दोलित करने में समर्थ हो सकते हैं। मनोवेगों की विशदता तथा शक्तिमत्ता साहित्य को निश्चय ही शक्तिशाली बना देगी।

(३) *स्थिरता*—भावों में तीव्रता उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि मनोवेग तीव्र तथा सतत हों। काव्य, नाटक अथवा उपन्यास में जब कभी और जहाँ कहीं भी नीरसता या शुष्कता आ जाती है, वहाँ मनोवेगों की निरन्तर विद्यमानता का ही अभाव समझना

चाहिए। साहित्य से शैथिल्य तथा नीरसता को दूर रखने के लिए आवश्यक है कि मनोवेग सम्पूर्ण काव्य में पाठक को सतत आन्दोलित तथा आकर्षित किये रखें।

(४) *विविधता*—भावों में इसका अस्तित्व भी अत्यावश्यक है। वैविध्य के बिना काव्य में एकरसता का आ जाना स्वाभाविक है। साहित्य में वही रचना अधिक लोकप्रिय होती है जो पाठक के विविध मनोवेगों को तरंगित कर सके।

(५) *वृत्ति या गुण*—मनोवेगों की विविधता को देखते हुए इनमें साधारण मनोवेगों की भी कमी नहीं हो सकती; परन्तु कलाकार की रचना में उत्कृष्टता लाने के लिए निश्चय ही यह आवश्यक है कि उसकी रचनाओं में वर्णित मनोवेग उदात्त तथा उत्कृष्ट हों। भौतिक मनोवेगों की अपेक्षा यदि साहित्यिक अपनी रचना में आध्यात्मिक मनोवेगों को अधिक महत्त्व देगा तो निश्चय ही उसकी रचना जहाँ विश्व के लिए अधिक मंगलमय और कल्याणकारी हो सकेगी वहाँ वह साहित्यिक जगत् में भी अमर हो जायगी।

(घ) **शैली-तत्त्व** (Element of Style) : पहले तीन तत्त्व साहित्य के भाव पक्ष से सम्बन्धित हैं, परन्तु शैली-तत्त्व का सम्बन्ध साहित्य के कला पक्ष से है। अनुभूति, भाव तथा कल्पना कितनी ही पुष्ट क्यों न हों, शैली-तत्त्व के अभाव में वे अशक्त हो जायेंगी। भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा शरीर का काम करती है। जैसे निर्बल शरीर में स्वस्थ आत्मा का आवास कठिन है, उसी प्रकार अपुष्ट भाषा द्वारा पुष्ट भावों की अभिव्यक्ति भी कठिन है। जिस प्रकार मनुष्य में भावाभिव्यक्ति की स्वाभाविक इच्छा होती है, उसी प्रकार उसमें भावों को सुन्दरतम, शृङ्खलाबद्ध तथा चमत्कारपूर्ण बनाने की इच्छा भी होती है, इसी इच्छा के परिणाम स्वरूप साहित्य में शैली-तत्त्व की उत्पत्ति होती है। भावों की विशदता और पुष्टता के अनुकूल ही भाषा का गठन तथा व्यंजना-शक्ति पुष्ट होनी चाहिए।

पाश्चात्य आचार्यों ने इन विभिन्न तत्त्वों में से किसी एक को अधिक महत्त्व प्रदान करते हुए साहित्य शब्द की व्याख्या की है, परन्तु उपर्युक्त विवेचन से यह भली भाँति स्पष्ट हो जायगा कि साहित्य के लिए इन चारों तत्त्वों की समान रूपसे आवश्यकता है। यदि बुद्धि-तत्त्व से साहित्य में 'सत्यं' तथा 'शिवं' की रक्षा होती है तो कल्पना, भाव तथा शैली-तत्त्व से 'सुन्दरम्' का निर्माण होता है।

इस प्रकार हम उपर्युक्त तत्त्वों के आधार पर यह कह सकते हैं कि **काव्य साहित्य वह वस्तु है जिसमें कि मनोभावात्मक, कल्पनात्मक, बुद्ध्यात्मक**

तथा रचनात्मक तत्त्वों का समावेश हो। यदि हम विश्व-साहित्य की समीक्षा करें तो हमें उसमें क्या उपलब्ध होगा? मनुष्य की कल्पना की उड़ान, उसकी आन्तरिक और बाह्य अनुभूतियाँ इस विराट् जगत् के प्रति उसकी भावात्मक प्रतिक्रियाएँ, जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण तथा उसकी स्वाभाविक सत्यप्रियता इत्यादि। इस प्रकार साहित्य की एक व्यापक परिभाषा का स्वरूप यह भी हो सकता है कि **साहित्य चित्त को रसमग्न कर देने वाली व्यक्ति की (अथवा मानव जाति की) कल्पनाओं, आन्तरिक तथा बाह्य अनुभूतियों और विचारों का लिपिबद्ध रूप है।** मैथ्यू आर्नल्ड के इस कथन का कि **'काव्य जीवन की आलोचना है'**[1] यह एक विस्तृत रूप कहा जा सकता है।

२. साहित्य में साहित्यकार का व्यक्तित्व

वैयक्तिक अनुभूतियाँ ही सम्पूर्ण मानवीय साहित्य का आधार हैं। साहित्यिक अनुभूति, विचार तथा कल्पना का साहित्यकार के व्यक्तित्व से प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। यह ठीक है कि वह मानव-मात्र की भावनाओं, आकांक्षाओं तथा इच्छाओं की अभिव्यञ्जना करता है, परन्तु इस साहित्यिक अभिव्यञ्जना पर उसकी अपनी रुचि तथा स्वभाव का प्रभाव बराबर विद्यमान रहता है। किसी भी पुस्तक की उत्कृष्टता का कारण उसके रचयिता—साहित्यकार के व्यक्तित्व की महत्ता तथा उत्कृष्टता ही है। जहाँ कहीं साहित्यिक अपनी रुचि तथा भावनाओं को दबाकर कृत्रिमता पूर्वक अपने विषय का प्रतिपादन करता है, वहाँ निश्चय ही वह मानव-समाज को वास्तविक साहित्य कही जाने वाली रचना प्रदान नहीं कर सकेगा। साहित्य पर साहित्यकार के वैयक्तिक प्रभाव की बहुलता के कारण ही अनेक साहित्य-शास्त्रियों ने **साहित्य वह है जिसमें कि लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिफलन हो** ऐसा नियम बनाया है। धार्मिक तथा नीति-सम्बन्धी ग्रन्थों में भी रचयिता का व्यक्तित्व प्रतिफलित होता है, परन्तु साहित्यकार पाठक के मस्तिष्क को प्रभावित न करता हुआ उसके मन तथा अन्तरात्मा को रसाप्लावित कर देता है। साहित्य में साहित्यकार के व्यक्तित्व का प्रभाव विविध रूप में पड़ता है। मुक्तक, प्रगीत इत्यादि आत्माभिव्यञ्जक साहित्य में वैयक्तिक भावनाओं की प्रधानता रहती है, और कलाकार के उद्गारों से हमारा सीधा तथा स्पष्ट परिचय हो जाता है। वैयक्तिक भावनाओं की प्रधानता के कारण ही ऐसे

---

१. Literature is a criticism of life.

साहित्य में गीति-तत्त्व की प्रधानता रहती है। काव्य के प्रकथनात्मक (Narrative) रूप में कवि अपने व्यक्तित्व को किसी विशेष घटना या पदार्थ के पीछे ओझल कर लेता है और वहाँ हम उसके व्यक्तित्व से सीधा परिचय नहीं प्राप्त कर सकते। किन्तु प्रकथनात्मक काव्य में वैयक्तिक भावनाओं की अथवा व्यक्तित्व की अप्रधानता हो ऐसी बात नहीं, केवल कवि हमारे सम्मुख स्पष्ट रूप से नहीं प्रत्युत किसी मुख्य पात्र या आदर्श के रूप में हमारे सामने आता है।

साहित्यकार की वैयक्तिक भावनाएँ ही साहित्य में रागात्मकता को उत्पन्न करती हैं, और रागात्मकता के फलस्वरूप ही साहित्य में स्थायित्व उत्पन्न होता है।

३. साहित्य तथा विज्ञान

इससे पूर्व कि हम साहित्य से सम्बन्धित अन्य विषयों पर विचार करें यहाँ यह उचित होगा कि हम साहित्य तथा विज्ञान के सम्बन्धों पर भी विचार कर लें। साहित्य तथा विज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त अन्तर है, क्योंकि साहित्य का सम्बन्ध मानव के अन्तर्तम से है, और विज्ञान का मानव-मस्तिष्क से। या यों कहिए कि साहित्य का क्षेत्र कल्पना और भावना का है तो विज्ञान का बुद्धि-विलास का। परन्तु जैसा हम पीछे प्रदर्शित कर चुके हैं कि साहित्य में बौद्धिकता का सर्वथा अभाव नहीं, उसी प्रकार विज्ञान में भी कल्पना तथा भावना की समान रूप से आवश्यकता पड़ती है। अन्तर केवल इतना ही है कि साहित्य मानव के मनोवेगों को तरंगित करता है, वह उसके हृदय को कल्पना तथा भावना द्वारा रसाप्लावित करके उसमें बौद्धिक विचारों को अपने दृष्टिकोण के अनुसार जाग्रत करता है, परन्तु वैज्ञानिक एक विशिष्ट विज्ञानिक सत्य को उपस्थित करके केवल मनुष्य के मस्तिष्क को प्रभावित करता है। दूसरा वैज्ञानिक वस्तु के ऊपरी तत्त्व को देखता है, वह उसकी रचना, आकार, रूप, गुण, स्वभाव इत्यादि बाह्य रूपरेखा पर विचार करता है, परन्तु कवि उस वस्तु के अन्तर्तम में पैठकर ही, एक नवीन सन्देश और रहस्य को खोजने का प्रयत्न करता है। कवि कहता है, "चाँद सुन्दर है, रमणी के मुख की तरह"; वास्तव में रमणी के मुख से कुछ थोड़ा ही। वैज्ञानिक कहता है "नहीं, चाँद उसी तरह कठोर निर्जीव धरातल तथा पहाड़ों का पिंड है, जैसी यह पृथ्वी है। वहाँ सौन्दर्य की कोई बात ही नहीं।" कमल-पुष्प को देखकर कवि अनायास कह उठता है, "ओह! कितना सौन्दर्य है! कितनी मादकता और कितना आकर्षण है इस पुष्प में!" कमल उसे अपनी प्रेयसी की बड़ी-बड़ी आँखों की याद दिला देता है, और उस पर पड़ी हुई ओस की बूँदें अज्ञात के प्रति टपकते हुए अश्रुओं की भाँति प्रतीत होती हैं। वह उस पर अपनी विविध

अधिकांश ऐसे हैं जिन्होंने अपनी काव्य-प्रेरणा अवैध प्रेम तथा मदिरा से प्राप्त की, और अपनी काव्य-प्रवृत्ति की रक्षा के लिए कुछ ने तो निस्संकोच रूप से इन साधनों को अपनाया।

साहित्य के प्रेरणा-स्रोत की खोज मानव जीवन में ही सम्भव है। जीवन के विविध रूप ही साहित्य में मुखरित होते हैं। इसी दृष्टिकोण के अनुसार एतद्-विषयक विवेचन करते हुए पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के आदि आचार्य अरस्तू ने अनुकरण की प्रवृत्ति को काव्य की मूल प्रेरणा माना है। अरस्तू का कथन है कि **जो प्रवृत्ति बालक को अपने माता-पिता के भाषा-व्यवहार आदि का अनुसरण करने को प्रेरित करती है वही प्रवृत्ति मानव को साहित्य-रचना के लिए भी प्रेरणा प्रदान करती है।** किन्तु आज यह सिद्धान्त मान्य नहीं रहा। अरस्तू के पश्चात् हीगेल ने इस विषय का पर्याप्त विवेचन किया और मनुष्य की अलंकरण-प्रवृत्ति (सौन्दर्य-प्रेम की प्रवृत्ति) और आत्माभिव्यक्ति की इच्छा को काव्य-प्रेरणा का स्रोत माना। क्रोचे (Croce) ने आत्माभिव्यंजन की इच्छा को काव्य का प्रेरणा-स्रोत मानते हुए उसे शुद्ध सहजानुभूति के रूप मे स्वीकार किया है।

मनोविज्ञान-शास्त्र के अन्तर्गत भी काव्य-प्रेरक-प्रवृत्ति का अन्वेषण किया गया है। जीवन की मूलभूत प्रेरणाओं का अन्वेषण करते हुए सुप्रसिद्ध जर्मन मनोविज्ञान-शास्त्री फ्रॉयड (Freud) ने जीवन की सम्पूर्ण क्रियाओं का स्रोत काम-वासना को माना है। हमारे यहाँ भी वात्स्यायन ने 'काम सूत्र' में इसी का समर्थन करते हुए लिखा है कि जीवन का कोई भी कार्य काम-रहित नहीं है। सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों में मन की प्रेरणा के अनुसार काम की प्रवृत्ति का ही अनुसरण करती हैं। वेद में भी कहा गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति काम से ही हुई है :

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनोरेतः प्रथमं यदासीत्।
सतोबंधु मसृति निरविन्दन् हृदि व्रतीष्या कवयो मनीषा॥

(ऋक्० १०, २६, ४)

अर्थात् इस (ब्रह्म) के मन का जो रेत (बीज) प्रथमतः निकला वही आरम्भ में काम (सृष्टि-निर्माण करने की प्रवृत्ति या शक्ति) हुआ। ज्ञाताओं ने अन्तःकरण में विचार-बुद्धि से निश्चय किया कि यही असत् में सत् का पहला सम्बन्ध है। वस्तुतः काम-प्रवृत्ति की व्यापकता और तीव्रता इतनी अधिक है कि संसार के सामान्य व्यापार के साथ भी वह बराबर सम्बन्धित है। मनु ने भी कहा है कि जगत् में जो कुछ भी है वह काम की चेष्टा का ही परिणाम है और कुछ नहीं :

प्राधान्य रहता है, और वह कभी आत्म-रक्षा की भावना से प्रेरणा प्राप्त करता है तो कभी काम-वासना से।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसकी यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपने भावों तथा विचारों को दूसरों पर प्रकट करे, तथा दूसरे के भावों और विचारों को सुने। अपनी इसी प्रवृत्ति से विवश हुआ हुआ वह अपनी भावनाओं, अनुभूतियों तथा कल्पनाओं को अपने-आपमें नहीं रख सकता, वह उनकी अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल हो उठता है, साहित्य के विविध अङ्ग उसकी इस अभिव्यक्ति के ही साधन हैं।

इस प्रकार साहित्य की मूलभूत प्रेरणा आत्माभिव्यक्ति की इच्छा मानी जा सकती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व-निर्माण में और मानव के आत्मिक जीवन के विकास में काम-प्रवृत्ति का प्रमुख हाथ रहता है, अतः आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा के साथ काम-प्रेरणा का भी सहयोग रहता है। आत्माभिव्यक्ति की इस प्रवृत्ति के साथ ही मनुष्य मे सौन्दर्य-प्रेम की भावना भी वर्तमान रहती है, इसी प्रवृत्ति का आश्रय ग्रहण करके मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति के ढंग को चमत्कारपूर्ण तथा मनोहारी बना देता है। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने इन्हीं तत्त्वों के आधार पर साहित्य-रचना के मूल स्रोत की प्राप्ति मनुष्य की इन मानसिक प्रवृत्तियों में की है :

(१)आत्माभिव्यक्ति की इच्छा (२)मानव-व्यापारों में अनुराग (३)कौतूहल-प्रियता (४) सौन्दर्य-प्रियता तथा (५) स्वाभाविक आकर्षण। इनमे आत्माभिव्यंजना और सौन्दर्य-प्रियता की प्रवृत्तियाँ मुख्य हैं, और ये सम्पूर्ण ललित-कलाओं की जननी कही जा सकती हैं।

भारतीय दृष्टिकोण—भारतीय आचार्यों ने जीवन की मूलभूत प्रेरणाओं का अन्वेषण करते हुए पुत्र, धन, तथा यश की इच्छा को ही सर्वप्रधान बतलाया है।[1] परन्तु वे साधारण जन की इच्छाएँ हैं,ज्ञानी मनुष्य इन आकांक्षाओं से विलग होकर आत्म ज्ञान की प्राप्ति के द्वारा तीनो प्रकार की एषणाओं से रहित हो जाता है। परन्तु आत्म प्रेम की भावना इन तीनों एषणाओं से ऊपर है, मनुष्य के प्रत्येक कार्य के पीछे यह भावना विद्यमान रहती है। जब मनुष्य अत्यन्त कष्ट सहकर जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर आत्म बलिदान तक करने को उद्यत होजाता है तब भी उसमें हम इस आत्म प्रेम की भावना को किसी-न-किसी रूप में प्राप्त कर सकते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् मे महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी

---

१. एवं वै तदात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति ।

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम ॥

डॉक्टर भगवानदास भी उच्चतर आनन्द की प्राप्ति के लिए किये गए कार्य का मूल स्रोत और साहित्य का अधिदेवता काम को ही स्वीकार करते हैं।[१] इस प्रकार फ्रायड द्वारा प्रतिपादित जीवन की प्रेरणा में काम-प्रवृत्ति की प्रधानता का सिद्धान्त भारतीय जीवन-दर्शन के लिए कोई नवीन बात नहीं।

काम को जीवन की मूलभूत प्रेरणा स्वीकार करते हुए फ्रायड ने साहित्य को भी अभुक्त काम का ही परिणाम माना है। उसका कथन है कि हमारी अभुक्त या अतृप्त काम-वासना स्वप्न की अचेतनावस्था में और काव्य-सर्जन की अर्द्ध चेतनावस्था में परितृप्त होती है। यह अतृप्त कामना ही स्वप्न में छाया-चित्रों की रचना करती है, वस्तुतः यह काव्य के मूलाधार भाव-चित्रों की जननी है। अतः हृदय की दबी हुई वासनाएँ अपने निकास का मार्ग खोजती हुई काव्य, कला तथा स्वप्न आदि की सृष्टि करती हैं। कला और काव्य के मूल में सौन्दर्योपासना के भाव की विद्यमानता भी इसी का समर्थन करती है।

फ्रायड के अनुगामी एडलर (Adler) ने मानव की चिरन्तन हीनता की भावना को जीवन की मूल प्रेरणा मानते हुए साहित्य को एक क्षति-पूर्ति के लिए किये गए प्रयत्नों का ही परिणाम माना है। इस प्रकार एडलर की दृष्टि में सम्पूर्ण साहित्य हमारे जीवन से सम्बन्धित अभावों की पूर्ति है। प्रत्यक्ष जीवन के अभाव, दुःख तथा कष्ट इत्यादि से निवृत्ति प्राप्त करने के लिए ही कलाकार कल्पना-लोक का आश्रय ग्रहण करता है। कवि की सत्य, शिव और सुन्दर की कल्पना जीवन की कुरूपता, क्षणिकता तथा असत्यता का ही परिणाम है। युङ्ग (Jung) ने अधिकांशतः फ्रायड तथा एडलर दोनों के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए जीवन की इच्छा को ही जीवन की मूलभूत प्रेरणा स्वीकार किया है। युङ्ग के अनुसार मानव की सम्पूर्ण क्रियाओं का उद्देश्य अपने अस्तित्व की रक्षा ही है, साहित्य भी मनुष्य की आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति का ही परिणाम है।

वस्तुतः मानव जीवन बहुत सी विभिन्न तथा परस्पर-विरोधी भावनाओं का सम्मिश्रण है, उसके जीवन के मूल में केवल काम-वासना की प्रधानता हो या प्रभुत्व-कामना की, ऐसी बात नहीं। मनुष्य के जीवन में विविध भावनाओं का

[१] Eros, Kama, in this large sense, is truly the parent of all the gods, and the presiding deity of all *Sahitya* and literature, which is the only record of his play.

—Dr. Bhagwan Das—*The Science of Emotions* p. 397.

प्राधान्य रहता है, और वह कभी आत्म-रक्षा की भावना से प्रेरणा प्राप्त करता है तो कभी काम-वासना से।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसकी यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपने भावों तथा विचारों को दूसरों पर प्रकट करे, तथा दूसरे के भावों और विचारों को सुने। अपनी इसी प्रवृत्ति से विवश हुआ हुआ वह अपनी भावनाओं, अनुभूतियों तथा कल्पनाओं को अपने-आपमें नहीं रख सकता, वह उनकी अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल हो उठता है, साहित्य के विविध अङ्ग उसकी इस अभिव्यक्ति के ही साधन हैं।

इस प्रकार साहित्य की मूलभूत प्रेरणा आत्माभिव्यक्ति की इच्छा मानी जा सकती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व-निर्माण में और मानव के आत्मिक जीवन के विकास में काम-प्रवृत्ति का प्रमुख हाथ रहता है, अतः अत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा के साथ काम-प्रेरणा का भी सहयोग रहता है। आत्माभिव्यक्ति की इस प्रवृत्ति के साथ ही मनुष्य में सौन्दर्य-प्रेम की भावना भी वर्तमान रहती है, इसी प्रवृत्ति का आश्रय ग्रहण करके मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति के ढंग को चमत्कारपूर्ण तथा मनोहारी बना देता है। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने इन्हीं तत्त्वों के आधार पर साहित्य-रचना के मूल स्रोत की प्राप्ति मनुष्य की इन मानसिक प्रवृत्तियों में की है :

(१)आत्माभिव्यक्ति की इच्छा (२)मानव-व्यापारों में अनुराग (३)कौतूहल-प्रियता (४) सौन्दर्य-प्रियता तथा (५) स्वाभाविक आकर्षण। इनमें आत्माभिव्यंजना और सौन्दर्य-प्रियता की प्रवृत्तियाँ मुख्य हैं, और ये सम्पूर्ण ललित-कलाओं की जननी कही जा सकती हैं।

भारतीय दृष्टिकोण—भारतीय आचार्यों ने जीवन की मूलभूत प्रेरणाओं का अन्वेषण करते हुए पुत्र, धन, तथा यश की इच्छा को ही सर्वप्रधान बतलाया है।[1] परन्तु वे साधारण जन की इच्छाएँ हैं,ज्ञानी मनुष्य इन आकांक्षाओं से विलग होकर आत्म ज्ञान की प्राप्ति के द्वारा तीनों प्रकार की एषणाओं से रहित हो जाता है। परन्तु आत्म प्रेम की भावना इन तीनों एषणाओं से ऊपर है, मनुष्य के प्रत्येक कार्य के पीछे यह भावना विद्यमान रहती है। जब मनुष्य अत्यन्त कष्ट सहकर जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर आत्म बलिदान तक करने को उद्यत होजाता है तब भी उसमें हम इस आत्म प्रेम की भावना को किसी-न-किसी रूप में प्राप्त कर सकते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी

---

१. एवं वै तदात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति ।

को आत्म-प्रेम के सम्मुख यश, पुत्र तथा धन आदि की हीनता बतलाते हुए आत्म-प्रेम की प्रतिष्ठा इन शब्दों में की है : **न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रियां भवान्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवान्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति।** पति, पत्नी, वेद, धन, यश, पुत्र इत्यादि सब अपने ही लिए प्रिय मालूम पड़ते हैं—**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।**

जीवन की सम्पूर्ण क्रियाओं की भाँति काव्य में भी आत्म-प्रेम की भावना सन्निहित है और मनुष्य आत्म-विस्तार तथा यश आदि की कामना से काव्य-सर्जन में प्रवृत्त होता है। आत्माभिव्यक्ति द्वारा आत्म-विस्तार होता है और आत्म-विस्तार से ही आनन्द की प्राप्ति होती है।

काव्य के कारणों का विश्लेषण करते हुए सुप्रसिद्ध भारतीय मनीषी रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उपर्युक्त भारतीय दृष्टिकोण को इस प्रकार रखा है :

(१) हमारे मन के भाव की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अनेक हृदयों में अपने को अनुभूत कराना चाहता है।

(२) हृदय-जगत् अपने को व्यक्त करने के लिए आकुल रहता है। इसलिए चिर काल से मनुष्य के भीतर साहित्य का वेग है।

(३) बाह्य सृष्टि जैसे अपनी भलाई-बुराई तथा अपनी असंपूर्णता को व्यक्त करने की निरन्तर चेष्टा करती है वैसे ही यह वाणी भी देश-देश में, भाषा-भाषा में हम लोगों के भीतर से बाहर होने की बराबर चेष्टा करती है। यही कविता का प्रधान कारण है।

५. साहित्य के फल

प्राचीन आचार्यों ने काव्य का प्रमुख प्रयोजन यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान तथा आनन्द इत्यादि अनेक फलों की प्राप्ति को माना है।[1] यद्यपि यश, अर्थ इत्यादि काव्य के प्रेरणा-स्रोत भी गिने जाते हैं और फल भी, तथापि काव्य का मुख्य फल तो सुख या आनन्द की प्राप्ति ही है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि यशोभिलाषा का कम महत्त्व हो। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने तो कहा है कि **साहित्य में चिरस्थायी होने की चेष्टा ही मनुष्य की प्रिय चेष्टा है।** यश, प्रशंसा इत्यादि के आवरण में भी मनुष्य की सुख-प्राप्ति की अभिलाषा ही छिपी हुई है। धन भौतिक सुख-सुविधा का एक बहुत बड़ा साधन है, प्राचीन

---

१. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृतये कांतासम्मित तयोपदेशयुजे॥

काल में अनेक कवियों ने केवल धन-प्राप्ति की इच्छा से ही काव्य-रचना की है। हिन्दी के रीतिकालीन कवियों के एतद्विषयक प्रयत्न तो प्रसिद्ध ही हैं। परन्तु अनेक कवियों ने 'स्वान्तः सुखाय' ही काव्य-सर्जना की है और धन-प्राप्ति इत्यादि को लक्ष्य नहीं बनाया, धन भौतिक सुख का साधन है और 'स्वान्तः सुखाय' लिखने वाले कवियों को आत्म-सुख की उपलब्धि होती है। इस प्रकार हमारे प्राचीन आचार्यों के कथनानुसार काव्य का सबसे बड़ा फल आत्म-सुख ही है। पाश्चात्य आचार्यों में साहित्य के उद्देश्य के विषय में भारी मतभेद है, काव्य को कलाओं के अन्तर्गत गृहीत करते हुए पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों ने कला के अनेक प्रयोजन माने हैं। कुछ आचार्यों ने 'कला को कला के लिए' (Art for Art's sake) मानते हुए इस विषय में बड़ा भारी विवाद खड़ा कर दिया है। कला को किसी विशिष्ट प्रयोजन या उपयोगिता के लिए स्वीकार न करते हुए वे उसे केवल सौन्दर्य-परिज्ञान के लिए ही गृहीत करते हैं। 'कला को कला के लिए' मानने वाले यह आवश्यक नहीं समझते कि कला मनुष्य के जीवन अथवा चरित्र का निर्माण करने वाली हो, या कला को नैतिकता अथवा सामाजिकता की तुला पर तोला जाय। सौन्दर्य का प्रदर्शन और आनन्द की उत्पत्ति ही कला का मुख्य उद्देश्य है। सामाजिक नैतिकता के निर्माण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। 'कला को कला के लिए' मानने वाले सिद्धान्त रूप में चाहे कितने ही ठीक क्यों न हों, परन्तु व्यवहार में नैतिकता से सम्बन्ध-विच्छेद करके वे अपने इस सिद्धान्त को समाज तथा मानव-जीवन के लिए अत्यन्त हानिकारक बना डालते हैं।

इस सिद्धान्त के विपरीत यूरोप में 'कला जीवन के अर्थ' (Art for Life's sake) के सिद्धान्त का प्रचलन हुआ, और कला को जीवन के निकट लाकर उसको जीवन की प्रगति और व्याख्या का साधन बना दिया। जीवन के अर्थ कला के निर्माण में उसके उद्देश्य की व्यापकता आ जाती है और कलाकार एक निश्चित मर्यादा तथा सीमा में चलकर मानव-जीवन में जहाँ सुन्दर का निर्माण करता है वहाँ शिव की भी स्थापना करता है। टाल्स्टाय साहित्य या कला को जीवन के सुधार के लिए मानते हुए कहते हैं कि **साहित्य का उद्देश्य बौद्धिक क्षेत्र से मानसिक क्षेत्र में उस सत्य की स्थापना करना है जिसका उद्देश्य मनुष्य-मात्र में कल्याणकारी एकता को स्थापित करके भगवान् की प्रेमपूर्ण बादशाहत को कायम करना है।**[1]

१. The desitny of art in our time is to transmit from the realn of reason to the realm of feeling the truth that well—being for mer consists in their being united together and to set up in place o existing reign of force, that kingdom of God which is love, which w all recognise to be the aim of human life. —Tolstoy : *What is Art*

अपनी 'कला क्या है?' नामक पुस्तक में टाल्स्टाय कला की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि कला केवल आनन्द ही नहीं, मानवता की एकता के साधन के रूप में कला व्यक्ति तथा मानवता के कल्याण के लिए मानव-मात्र में एक ही प्रकार की भावनाओं की उत्पत्ति तथा विकास के लिए आवश्यक है।[1]

हिन्दी में द्विवेदी युग का साहित्य तथा आधुनिक प्रगतिवादी साहित्य इस सिद्धान्त से विशेष रूप से प्रभावित हैं।

इसी प्रकार के अन्य अनेक विवाद कला के उद्देश्य के सम्बन्ध में प्रचलित हैं। किन्तु इतना तो निश्चित रूप से ही कहा जा सकता है कि यदि काव्य मानव-जीवन से प्रेरणा प्राप्त नहीं करता और उसीके लिए अपने-आपको नहीं ढालता तो निश्चय ही वह मानव-समाज के लिए व्यर्थ हो जायगा।

वास्तव में जीवन की अन्य क्रियाओं की भाँति काव्य का मुख्य फल तो आत्मानन्द ही है, इसी कारण 'स्वान्तः सुखाय' लिखा हुआ काव्य ही अधिकतर सत्काव्य गिना जाता है। परन्तु काव्य की उत्कृष्टता का एक अन्य मापदण्ड तो लोक-रंजन तथा लोक-कल्याण भी है।

६. साहित्य तथा समाज

मनुष्य सामाजिक प्राणी है सामाजिक समस्याओं, विचारों तथा भावनाओं का जहाँ वह स्रष्टा है वहाँ वह उनसे प्रभावित भी होता है। साहित्य व्यक्ति (या समाज) की अनुभूतियों, भावनाओं और कल्पनाओं का ही रूप तो है। इसी कारण साहित्य समाज का दर्पण कहलाता है। समाज तथा साहित्य का यह सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। आदि कवि वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य 'रामायण' में एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था को चित्रित किया है अपने दृष्टिकोण के अनुसार समाज के विभिन्न पहलुओं की विवेचना करते हुए वाल्मीकि ने यह सिद्ध किया है कि मानव-समाज किस प्रकार आदर्श रूप में परिणत हो सकता है? पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है। जीवन की मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों के विकास-क्रम को जितनी सफलता तथा सुन्दरता से इन ग्रन्थों में प्रदर्शित किया गया है, ऐसा अन्यत्र दुर्लभ है। तुलसीदास भी अपने समय की सामाजिक परिस्थितियों से

---

1. "...... And above all it is not pleasure but it is means of union among men, joining them together in the same feelings and indispensable for the life and progress towards well-being of individuals and humanity. —Tolstoy : *What is Art?*

प्रभावित होकर राम-परिवार और राम-राज्य को हिन्दू-समाज के सम्मुख आदर्श स्वरूप उपस्थित करते हैं। कवि वास्तव में समाज की व्यवस्था, वातावरण, धर्म-कर्म, रीति-नीति, तथा सामाजिक शिष्टाचार या लोक-व्यवहार से ही अपने काव्य के उपकरण चुनता है, और उनका प्रतिपादन अपने आदर्शों के अनुरूप ही करता है। साहित्यकार उसी समाज का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें कि वह जन्म लेता है। वह अपनी समस्याओं का सुलझाव और अपने आदर्शों की स्थापना अपने समाज के आदर्शों के अनुरूप ही करता है। जिस सामाजिक वातावरण में उसका जन्म होता है, उसी में उसका शारीरिक, बौद्धिक तथा मानसिक विकास भी होता है। अपनी सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर ही तो तुलसीदास ने कहा था :

ढोल, गँवार, शूद्र, पशु नारी।
ये सब ताड़न के अधिकारी॥
कोउ नृप होउ हमें का हानी।
चेरी छाँड़ि न होवउँ रानी॥

सामाजिक आदर्शवाद की भावना से प्रेरित होकर ही प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में आदर्शवाद को अपनाया, छायावादी कवियों की पलायनवादी प्रवृत्ति भी सामाजिक विषमताओं का फल है। सामयिक युग का कवि स्वराज्य के गीत गाना छोड़कर आर्थिक तथा सामाजिक शोषण के शिकार किसान, मजदूर तथा दलित वर्ग को ही अपने काव्य का विषय बना रहा है।

समाज से सम्बन्ध की दृष्टि से साहित्यकार तीन विभिन्न वर्गों में रखे जा सकते हैं। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत तो वे साहित्यकार आते हैं, जो कि समाज की सम्पूर्ण मान्यताओं और व्यवस्थाओं को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेते हैं। सामाजिक त्रुटियों को यदि वे देखते या अनुभव करते भी हैं तो वे उनकी उपेक्षा करना ही अधिक हितकर समझते हैं, सामाजिक व्यवस्था को ज्यों-का-त्यों बनाए रखना ही उनका मुख्य उद्देश्य होता है। वह वर्ग प्रतिगामी या प्रतिक्रियावादी कहलाता है। हिन्दी-साहित्य के भक्त कवि या रीतिकालीन कवि इस वर्ग के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, उनका साहित्य विद्रोह या परिवर्तन का सूचक न होकर सामाजिक व्यवस्थाओं की स्वीकृति का ही साहित्य है।

दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे साहित्यकार आते हैं जो कि सामाजिक त्रुटियों को देखते और अनुभव करते हैं, परन्तु उनको पूर्ण रूप से नष्ट न करके उनके सुधार का प्रयत्न करते हैं; और सुधार में समझौतावादी प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। यह वर्ग सुधारवादी कहला सकता है। हिन्दी-साहित्य में द्विवेदी युग **और**

उसके पश्चात् का साहित्य अधिकतर सुधारवादी ही है। मुन्शी प्रेमचन्द के उपन्यास भी इसी प्रवृत्ति से प्रभावित हैं।

तीसरे वर्ग के अन्तर्गत वे साहित्यकार आते हैं जोकि क्रान्ति-द्रष्टा तथा परिवर्तनवादी होते हैं। वे न केवल सामाजिक विषमताओं और त्रुटियों की तीव्र आलोचना ही करते हैं, अपितु उन्हें मिटा देने का प्रयत्न भी करते हैं। इस प्रकार के साहित्यकार सब युगों में समान रूप से प्राप्त होते हैं। सामाजिक व्यवस्थाओं तथा मान्यताओं की अस्वीकृति के कारण सदा समाज द्वारा उनका विरोध होता है, हिन्दी-साहित्य में सन्त कवियों का काव्य परिवर्तनवादी है, और इसी कारण वह तत्कालीन समाज में मान्यता नहीं प्राप्त कर सका। सामयिक युग का कवि भी आज सुधार की अपेक्षा परिवर्तन का ही अधिक समर्थन करता है। वह समाज के वर्तमान ढाँचे और व्यवस्था को सर्वथा परिवर्तित करके उसके स्थान पर नवीन सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करना चाहता है। परन्तु उपर्युक्त तीनों वर्गों के कवि अपनी प्रेरणा समाज से ही प्राप्त करते हैं, और समाज की विभिन्न चिन्तन-धाराओं से प्रभावित होते हैं। इस दृष्टि से साहित्य को भी प्रतिक्रियावादी, सुधारवादी और क्रान्तिकारी आदि वर्गों में बाँटा जा सकता है। परन्तु जहाँ तक मानव जीवन के चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति का प्रश्न है वहाँ सम्पूर्ण कलाकार समान हैं, वहाँ सामाजिक तथा राजनैतिक वर्गों की आवश्यकता नहीं। समाज के प्रति अपनाए गए दृष्टिकोण के आधार पर ही हम कलाकारों को उपर्युक्त वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

७. साहित्य तथा जातीयता

साहित्य व्यक्तिगत भावनाओं और अनुभूतियों का वर्णन होता है, और व्यक्ति, समाज, जाति तथा काल की विशेषताओं और परिस्थितियों से प्रभावित होता है। एक प्रतिभा-सम्पन्न लेखक अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखता हुआ भी अपने देश और जाति के भूत और भविष्य से सम्बन्धित होता है। वह अपनी जाति की उन विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करता है जो कि उनके समकालीन और उससे पूर्व के लेखकों में समान रूप से प्राप्त होती हैं। साहित्यकार की वे विशेषताएँ ही, जो कि निरन्तर विकसित होते हुए साहित्य में समान रूप से वर्तमान रहती हैं, जातीय साहित्य की विशेषताएँ कहलाती हैं। जिस प्रकार एक व्यक्ति का व्यक्तित्व दूसरे व्यक्ति के व्यक्तित्व के भिन्न होता है, उसी प्रकार प्रत्येक जाति का अपना व्यक्तित्व, अपना आदर्श, अपनी विचार-धारा होती है जोकि दूसरी जाति के व्यक्तित्व, आदर्श और विचार-धारा से सर्वथा विभिन्न होती है। यह

व्यक्तित्व, आदर्श और विचार-धारा की विभिन्नता अपने जातीय रूप में साहित्य में विद्यमान रहती है।

विश्व की महान् जातियाँ अपने इतिहास की रचना दो विभिन्न रूपों में करती हैं; एक तो कर्मों द्वारा, दूसरी कला या साहित्य द्वारा। कर्मों द्वारा किये गए जातीय इतिहास का निर्माण अस्थिर होता है, और वह उन कर्मों के विलोप के साथ ही विलुप्त हो जाता है, परन्तु साहित्य के रूप में सुरक्षित इतिहास का रूप सदा वर्तमान रहता है। साहित्य और कला की उन्नति देश और जाति की सभ्यता-सम्बन्धी उत्कृष्टता को सिद्ध करती है। साहित्य में अन्तर्निहित जातीय भावनाएँ हमें उस जाति के मानसिक तथा बौद्धिक विकास से परिचित कराती हैं।

सर्व प्रथम हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जब हम किसी भी जातीय साहित्य का संकेत करते हैं तो हमारा मतलब केवल उस जाति के साहित्यिकों, कलाकारों तथा उनकी रचनाओं से ही नहीं होता, अपितु उन रचनाओं और कलाकारों के द्वारा समान रूप से प्रतिपादित आदर्श, विचार-धारा तथा चिन्तन-पद्धति से होता है। जब भारतीय या यूनानी साहित्य का प्रयोग किया जाता है तो हमारा मतलब उनकी जातीयता से होता है, और जातीयता के अन्तर्गत उस जाति के जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्त-प्रयोग और दार्शनिक तथा बौद्धिक विचार के साथ उनकी प्रकृति को भी गृहीत किया जा सकता है। ये सम्पूर्ण तत्त्व उस जाति के सम्पूर्ण साहित्य में किसी-न-किसी रूप में व्याप्त रहते हैं। जातियों की ऐतिहासिक विवेचना के लिए साहित्य बहुत उपयोगी हो सकता है, क्योंकि साहित्य में प्रत्येक जाति के स्वप्न, आकांक्षाएँ और उनकी बाह्य तथा आन्तरिक अनुभूतियाँ संचित रहती हैं। साहित्य से हमें उस जाति के मानसिक तथा बौद्धिक विकास का ज्ञान हो जाता है।

धर्म-प्रधान आध्यात्मिकता भारतीय जीवन और साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है। आत्मा की सम्पूर्णता ही भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का उद्देश्य है। इसी आदर्श के अनुरूप हमारे देश के सामाजिक और राजनैतिक जीवन की रचना हुई। रोमन या ग्रीक आदर्शों के विपरीत भारतीय राजनैतिक व्यवस्था का निर्माण इस ढंग पर किया गया कि उसमें व्यक्ति को मुख्यता दी गई और समाज तथा राष्ट्र का प्रभुत्व उस पर कम कर दिया गया। राजनैतिक सत्ता राजा के हाथ में अवश्य थी, परन्तु वह भी धार्मिक भावनाओं के आधिक्य के कारण आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च राष्ट्र के नेताओं के सम्मुख सदा विनम्र और विनीत रहा। ऐसी स्थिति में जनता देश की राजनैतिक स्थिति के प्रति उपेक्षापूर्ण होकर अपने आध्यात्मिक चिन्तन में ही अधिक संलग्न हो गई। राजनीतिक स्थिति की इसी उपेक्षा के परिणामस्वरूप देश में राजनैतिक राष्ट्रीयता का अभाव रहा।

और धार्मिक राष्ट्रीयता का ही विकास हुआ। भारतीय जीवन में धर्म का सम्बन्ध प्रत्येक क्षेत्र से है - क्या राजनीति, क्या समाज और क्या भौतिक सुख-सुविधा के साधन; सभी धर्म के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं।

आध्यात्मिक भावनाओं की इस बहुलता के परिणामस्वरूप भारतीय दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता जीवन के बाह्य रूप पर अधिक ध्यान न देकर आन्तरिकता की ओर झुका और उसने भौतिक सुख-साधनों के अन्वेषण का त्याग करके सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा तथा मोक्ष की प्राप्ति का ही प्रयत्न किया। विश्व के इस विराट् रूप में उस भारतीय तत्त्ववेत्ता ने एक ही शक्ति, आत्मा और चिरन्तन सत्य को अनुभव किया।

राजनैतिक व्यवस्था के अतिरिक्त भारत की धन-धान्यपूर्ण भूमि ने भी उन्हें भौतिक चिन्ताओं से निवृत्त करके बाह्य जगत् की अपेक्षा अन्तर्जगत् की खोज के लिए प्रेरित किया। फलतः विराट् विश्व-प्रकृति के निरन्तर संसर्ग में रहकर भारतीय दार्शनिक तथा तत्त्ववेत्ता जीवन के चिरन्तन सत्य के अन्वेषण में प्रवृत्त रहा, उसका दृष्टिकोण बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी ही रहा। भारतीय साहित्य में भी आध्यात्मिक भावनाओं की प्रचुरता विद्यमान है, और हमारे दार्शनिकों तथा तत्त्ववेत्ताओं की भाँति साहित्यिकों तथा कलाकारों ने भी जीवन के भौतिक पक्ष पर अधिक विचार न करके आत्मिक पक्ष का ही अधिक वर्णन किया है, परिणामस्वरूप हमारे साहित्य में जहाँ आध्यात्मिक समस्याओं पर किये गए गहन विवेचन की बहुलता है, वहाँ जीवन के लौकिक पक्ष का भी सर्वथा अभाव है। प्राचीन वैदिक साहित्य यदि जीवन में उद्बोधन की भावना को पूर्ण करता है तो वह विश्व की उस चिरन्तन शक्ति का आभास भी दिखलाता है। उसमें जहाँ प्रकृति के विराट् रूप में उस अज्ञात तथा रहस्यमय को खोजने का प्रयत्न किया गया है, वहाँ गतिमय विश्व के विभिन्न उपकरणों द्वारा उस विराट् की झाँकी को प्राप्त करने का प्रयत्न भी किया गया है। 'रामायण' में भारत की तपोवन से उत्पन्न आध्यात्मिक संस्कृति के दर्शन होते हैं, 'महाभारत' का कवि जीवन की भौतिक सुख-सुविधा के अन्तर्गत भी आध्यात्मिक सन्देश को अन्तर्निहित किये हुए है। बौद्ध तथा जैन-साहित्य में भी आध्यात्मिक भावनाओं की बहुलता है।

गुप्त काल के विलास-वैभव में उत्पन्न कालिदास शिव-पार्वती के नग्न शृङ्गार का वर्णन करते हैं, परन्तु भारत की आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर कालिदास पार्वती को शिवजी की प्राप्ति के लिए तपश्चर्या में संलग्न भी चित्रित करते हैं। यही नहीं, पार्वती का कामुक प्रेम अन्त में आध्यात्मिकता को स्वीकार कर लेता

है, और शिव को स्वीकृति उसे तभी प्राप्त होती है जब वह अपनी क्षणिक प्रेम की भावनाओं को भस्मीभूत करके आत्मिक सौन्दर्य को उत्पन्न करती है। 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' में प्रेम का प्रारम्भ इन्द्रियाकांक्षा से होता है, उसमें क्षणिकता और कामुकता होती है, परन्तु इस कामजन्य प्रेम की परिणति शुद्ध आध्यात्मिक प्रेम में हो जाती है। आत्म-ग्लानि तथा विरहाग्नि में शकुन्तला अपनी वासना को भस्म करके जब दुष्यन्त को प्राप्त करती है तब उसके प्रेम में हम शारीरिकता या कामुकता का दर्शन न करके आध्यात्मिकता को ही प्राप्त करते हैं।

हिन्दी में भक्त तथा सन्त कवियों की कविताएँ भी इसी आध्यात्मिकता को अभिव्यक्त करती हैं। मीरा का कृष्ण के प्रति प्रेम आध्यात्मिक भावनाओं से ही ओत-प्रोत है, कबीर की प्रेमभरी उक्तियाँ भी अज्ञात के प्रति कही गई हैं। जायसी, कुतबन तथा मञ्झन आदि का प्रेम-वर्णन भी आध्यात्मिकता से ही अधिक सम्बन्धित है, लौकिकता से नहीं। रीतिकालीन कवियों ने भी अपनी शृङ्गारिक और ऐहिक वासनाओं को राधा तथा कृष्ण के वर्णन के रूप में आध्यात्मिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है।

हमारे साहित्य की यह जातीय विशेषता वर्तमान काल में भी किसी-न-किसी रूप में उपलब्ध हो जाती है। हिन्दी-साहित्य में महादेवी तथा प्रसाद इत्यादि कलाकारों का साहित्य आध्यात्मिक भाव-धारा से ही अधिक प्रभावित है। हमारी संस्कृति की दूसरी बड़ी विशेषता है समन्वय की भावना। भारतीय मस्तिष्क स्वाभाविक रूप से ही समन्वय-प्रिय है, और परस्पर-विरोधी विचार-धाराओं, आदर्शों, साधनाओं तथा संस्कृतियों के समन्वय से ही हमारी संस्कृति का निर्माण हुआ है। समन्वय की यह भावना दर्शन, धर्म, तथा विज्ञान इत्यादि भारतीय चिन्तन तथा जीवन के सभी क्षेत्रों में समान रूप से लक्षित की जा सकती है। हिन्दुओं के धार्मिक जीवन में एकेश्वरवाद, अवतारवाद, मूर्ति-पूजा, बहुदेववाद आदि अनेक वाद और मत प्रचलित हैं, परन्तु उन सबमें समन्वय की एक विशिष्ट भावना बराबर कार्य कर रही है, और वह उन्हें एक ही प्रकार से प्रगति के मार्ग पर ले जा रही है। हमारे लौकिक जीवन में भी समन्वय की ही भावना वर्तमान है। आश्रमों की व्यवस्था तथा विभिन्न वर्गों की स्थापना आदि लौकिक जीवन में समन्वय की भावना के मूर्तिमान उदाहरण हैं। हमारे दर्शन शास्त्र में भी आत्मा और परमात्मा को एक रूप प्रदान करके समन्वय का ही प्रयत्न किया गया है।

अमृत-पुत्र मानव सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् का पुत्र है, और जब वह इस मायारूपी अज्ञान को पार कर लेता है तो वह भी उसी विराट् आनन्द स्वरूप

प्रभु में लीन होकर आनन्दमय हो जाता है। भारत के राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में भी उसी महान् पुरुष को सफलता प्राप्त हुई है जिसने कि विभिन्न विरोधी तत्त्वों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया हो। भगवान् बुद्ध समन्वयकारी थे, उन्होंने विभिन्न विरोधी तत्त्वों तथा विचार-धाराओं में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। तुलसीदास में भी यही समन्वय की भावना कार्य कर रही थी, और आज के युग में महात्मा गांधी ने भी नाना विरोधी मतों, सम्प्रदायों और विचार-धाराओं में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया था।

भारतीय साहित्य में भी हमारे देश की यह सांस्कृतिक विशेषता विद्यमान है। हमारे साहित्यिकों और कलाकारों ने जीवन के विभिन्न तत्त्वों—आशा-निराशा, सुख-दुःख तथा हर्ष-विषाद इत्यादि—में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। हमारा कलाकार ज्ञान, भक्ति और कर्म की विभाजक रेखाओं को समाप्त करके उनको एक करने के लिए प्रयत्नशील रहा। साहित्य में वह घात-प्रतिघात तथा उत्थान-पतन को प्रदर्शित करता हुआ जीवन की परिणति अलौकिक आनन्द में ही करता रहा। आदर्शवादी विचार-धारा हमारे अध्यात्म-प्रधान जीवन की देन है, और इसी प्रकार भारतीय कलाकार सदा आदर्शोन्मुख रहा है। नाना घात-प्रतिघातों के प्रदर्शन के अनन्तर भी वह सदा सत्य तथा धर्म की विजय को ही प्रदर्शित करता रहा है।

भारतीय कलाकार ने जीवन के प्रति मंगलमय दृष्टिकोण को ही अपनाए रखा है, और यही कारण है कि हमारे साहित्य में दुःखान्त नाटकों और काव्यों का अभाव है। भारत का आदर्शवादी कलाकार जीवन की परिणति दुःखान्त रूप में कैसे कर सकता है? भारतीय कलाकार तो जीवन और मृत्यु में भी समन्वय को स्थापित करने का प्रयत्न करता रहा है, और उसके तत्त्ववेत्ताओं ने तो मृत्यु की कालिमा को नष्ट करके उसमें अनन्त जीवन के चिर सौन्दर्य को भरने का प्रयत्न किया है। वास्तव में भारतीय साहित्य के मूल में 'सर्वात्मना परमात्मन्' और 'बहुजन हिताय' की भावना कार्य कर रही है, और वही उसके लोक-कल्याणकारी रूप को स्थिर किये हुए है।

८. पाश्चात्य साहित्य की जातीय विशेषताएँ

पश्चिम में सभ्यता का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम ग्रीक (यूनान) में हुआ, और उसी से रोम ने सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़कर सम्पूर्ण यूरोप को सभ्यता की शिक्षा दी। ग्रीस की सभ्यता का आधार नगर हैं। उसके विपरीत भारतीय सभ्यता का जन्म तपोवनों में हुआ था। इस विभेद के कारण दोनों

देशों की सभ्यता तथा संस्कृति में अन्तर होना स्वाभाविक ही है। ग्रीस ने राष्ट्रीयता को जन्म दिया, उसका प्रत्येक नगर एक राष्ट्र बन गया, और प्रत्येक नागरिक ने अपने जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य अपने राष्ट्र की समृद्धि और उत्कर्ष को ही माना।

ग्रीक लोगों को भारत की-सी धन-धान्यपूर्ण प्रकृति का प्रश्रय प्राप्त नहीं हुआ था, इसके विपरीत उन्हें प्रकृति से संघर्ष करना पड़ा, वे प्रकृति से भारतीय जीवन की भाँति साहचर्य स्थापित न कर सके। राष्ट्रीयता के जन्म के फलस्वरूप व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विलोप हो गया, और व्यक्ति केवल राष्ट्र की बड़ी मशीन की एक कला-मात्र बनकर रह गया। इसी कारण वहाँ राजनैतिक और आर्थिक उन्नति तो अवश्य हुई, परन्तु आध्यात्मिक उन्नति न हो सकी। ग्रीस के पतन के पश्चात् उसके शिष्य रोम का विस्तार हुआ। रोम ने जहाँ ग्रीक जाति की राष्ट्रीयता को ग्रहण किया वहाँ राज्य-विस्तार की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को भी अपनाया, और इस प्रकार उसने आधुनिक यूरोप की राष्ट्रीय और साम्राज्यवादी भौतिकता-प्रधान प्रवृत्ति को जन्म दिया। पाश्चात्य साहित्य पर इन राष्ट्रीय, जातीय तथा साम्राज्यवादी भावनाओं का पूर्ण प्रभाव पड़ा, और आधुनिक यूरोप भी किसी-न-किसी रूप में ग्रीस तथा रोम के उन पुरातन आदर्शों का अनुसरण कर रहा है।

इस प्रकार भारतीय साहित्य जहाँ अध्यात्मवाद की भावनाओं से पूर्ण है, वहाँ यूरोप का साहित्य राष्ट्रीय तथा भौतिक भावनाओं से व्याप्त है।

६. साहित्य तथा काल की प्रकृति

साहित्य का विद्यार्थी एक ही काल के विभिन्न कवियों की कृतियों का अध्ययन करता हुआ निश्चय ही ऐसे बहुत से तत्त्व पायगा जो कि उन सब कवियों की रचनाओं में, मत-वैभिन्न्य या दृष्टिकोण-भेद के बावजूद भी, समान रूप से प्राप्त होंगे। यह समान विशेषताएँ और तत्त्व ही किसी विशिष्ट काल की प्रकृति कहे जा सकते हैं। किसी भी साहित्य के इतिहास का अध्ययन करते हुए, हम उसे विभिन्न कालों तथा युगों में विभाजित पाते हैं, यह काल-विभाजन वास्तव में काल विशेष की विशिष्ट प्रवृत्ति अथवा गुण के आधार पर ही किया जाता है। जिस प्रकार हम किसी जाति विशेष के साहित्य में उसकी जातीय विशेषताओं को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार काल विशेष के साहित्य में हम उस काल की विशेषताओं को प्रतिबिम्बित पाते हैं। व्यक्तिगत रुचि, भावना और शैली के प्रदर्शन के साथ ही हम एक ही विशिष्ट काल के लेखकों में युग की भावनाओं और कल्पनाओं को प्रतिबिम्बित होता हुआ

पायँगे। यदि जातीय साहित्य जाति विशेष के मानसिक तथा बौद्धिक विकास का प्रतिबिम्ब है, तो काल विशेष का साहित्य जाति विशेष के युग से प्रभावित अनुभूतियों का वर्णन करता है।

हम काल की इस विशिष्ट प्रकृति और तत्सम्बन्धी सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए हिन्दी-साहित्य से ही उदाहरण उपस्थित करेंगे। यद्यपि साहित्य रूपी नदी की धारा सदा अविरल ही बहती है, और चाहे वह पर्वत पर बहे और चाहे समतल भूमि पर, उसकी धारा अविच्छिन्न ही रहती है। परन्तु इस साम्य में समाज और देश की परिस्थितियाँ किसी भी विशिष्ट युग में विचार-वैचित्र्य को उत्पन्न कर देती हैं। महाकवि चन्द से लेकर जितने भी कवि हुए हैं सभी ने एक ही आदर्श का अनुसरण नहीं किया, समय तथा युग की माँग के फलस्वरूप प्रत्येक युग के कलाकार को अपने विचार तथा आदर्श को परिवर्तित करना पड़ा। हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ में हम वीर-पूजा की भावना का प्राधान्य पाते हैं, यद्यपि यह भावना उस युग के सम्पूर्ण कवियों में वर्तमान नहीं थी, तथापि अधिकांश कवि इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर काव्य-सर्जना करते रहे। समय तथा परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ ही कवि तथा कलाकार को भी अपने आदर्शों और वर्ण्य विषयों में परिवर्तन करना पड़ा। भक्ति-काल का आविर्भाव हुआ, और कबीर, जायसी, तुलसी, सूर एवं मीरा इत्यादि सन्तों तथा भक्त कवियों ने भक्ति-भाव-पूर्ण रचनाएँ करके हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि की। भक्ति-काल के कवियों में यद्यपि मत, साधना-पद्धति और आचार-विचार-सम्बन्धी नाना मतभेद हैं तथापि उनमें साथ ही साम्य की विशिष्ट भावना कार्य कर रही है और यही साम्य मध्य युग के सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य को एक विशेष श्रेणी के अन्तर्गत ला रखता है। मध्य युग के सन्त तथा भक्त कवियों में अपने युग की सम्पूर्ण विशेषताएँ प्राप्य हैं। उनके साहित्य के मूल में सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर बहुत सी बातों और तत्त्वों की समानता दृष्टिगोचर हो जायगी। यह समानता उनके सामान्य विश्वासों में विशेष रूप से उपलब्ध है। मध्य युग के सम्पूर्ण भक्त तथा सन्त कवियों ने किसी-न-किसी रूप में भगवान् के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है। निर्गुण मतावलम्बी कबीर भी भगवान् के साथ माँ-पुत्र के सम्बन्ध को स्थापित करते हुए कहते हैं :

हरि जननी, मैं बालक तेरा। काहे न औगुन बिसरासहु मेरा॥
सुत अपराध करे दिन केते। जननी के चित रहे न तेते॥
कर गहि केस करे जो घाता। तऊ न हेत उतोरे माता॥
कहे 'कबीर', इक बुद्धि विचारी। बालक दुखी दुखी महतारी॥

दूसरे भक्ति-भावना की प्रबलता सन्त तथा भक्त कवियों मे समान रूप से उपलब्ध है, भक्ति-भावना की इस प्रबलता के कारण ही कवि न तो मुक्ति के ही इच्छुक हैं और न ऋद्धि तथा सिद्धि के। दादूदयाल अपनी एतद्विषयक उत्कटता को इस प्रकार प्रगट करते हैं :

दरसन दे दरसन देहौं तो तेरी मुकति न माँगो रे।
सिधि ना माँगों रिधि ना माँगों तुम्हहीं माँगों गोबिंदा।
जोग न माँगों भोग न माँगों तुम्हहीं माँगों रामजी।
घर नहिं माँगों बन नहिं माँगों तुम्हहीं माँगों देव जी।
'दादू' तुम्ह बिन और न जानै दरसन माँगों देहु जी ॥

इसी प्रकार तुलसीदास भी धर्म, अर्थ इत्यादि किसी की भी कामना न करते हुए कहते हैं :

अरथ न धरम न काम-रुचि, गति न चहौं निरवान।
जनम जनम रघुपति-भगति, यह वरदान न आन ॥

सूरदास में भी भक्ति-भावना की यह उत्कटता विद्यमान है :

तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान।
छूटि गये कैसे जन जीवत ज्यों पानी बिन प्रान ॥

इसी प्रकार भक्त तथा भगवान् की समान गुरु की महत्ता आदि में मध्य युग के सन्तों तथा भक्तों में सामान्य विश्वास प्राप्य है। प्रेम की महत्ता भी सभी कवियों ने स्वीकार की है। जायसी तथा कुतबन आदि सूफी कवियों ने तो प्रेम-कथाएँ लिखकर लौकिक प्रेम के द्वारा आध्यात्मिक प्रेम की विशदता का वर्णन किया ही है, इसी प्रकार दादू तथा कबीर ने भी प्रेम की महत्ता को स्वीकार किया है :

इश्क अलहा की जाति है इश्क अलहा का अंग।
इश्क अलहा मौजूद है इश्क अलहा का रंग ॥
बाट विरह की साधि करि पंथ प्रेम का लेहु।
लव के मारग जाइये दूसर पाँव न देहु ॥

सगुण मतावलम्बी भक्त कवियों ने भी प्रेम को परम पुरुषार्थ माना है :

प्रेम प्रेम सौं होय प्रेम सौं पारहिं जैये।
प्रेम बँध्यो संसार प्रेम परमारथ पैये ॥
एकै निश्चय प्रेम को जीवन्मुक्ति रसाल।
सचो निश्चय प्रेम को जातैं मिलैं गोपाल ॥

(सूरदास)

ऐसी हरि करत दास पर प्रीति।
निज प्रभुता बिसारि जन के बस होत, सदा यह रीति॥
(तुलसीदास)

इसी प्रकार सन्त तथा भक्त कवियों में प्राप्य अपने युग में प्रचलित अनेक अन्य भावों तथा विश्वासों की एकता के उदाहरण में पद्य उपस्थित किये जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य तो यह है कि आदर्शों तथा साधना-पद्धतियों की विभिन्नता में भी एक ही युग का प्रभाव इन सब पर लक्षित किया जा सकता है। रीतिकालीन कविता के विषय में भी यही कहा जा सकता है। जिस काल में जिस आदर्श, भावना या गुण का आधिक्य रहता है वही उस काल की प्रकृति या आदर्श कहलाता है। किसी भी निर्दिष्ट काल के कलाकारों की रचनाओं का अध्ययन इस प्रकृति का निश्चय कर सकता है।

साहित्यकार अपने समय, परिस्थितियों तथा आदर्शों के सूचक होते हैं। उनकी रचनाओं तथा कृतियों में हम उनके युग के आदर्शों को प्रतिबिम्बित होता हुआ पा सकते हैं। इन्हीं कलाकारों की कृतियों के अध्ययन द्वारा हम काल विशेष की प्रवृत्ति को निश्चित करके साहित्य के इतिहास को विभिन्न युगों में बाँट सकते हैं।

१०. साहित्य में नैतिकता

कला तथा साहित्य के क्षेत्र में नैतिकता, या आचार-शास्त्र अथवा धर्म-शास्त्र का क्या स्थान हो; इस प्रश्न पर बहुत काल से ही कटु वाद-विवाद चल रहा है, और कला के क्षेत्र में पूर्ण स्वराज्य (Autonomy) को स्थापित करने का घोर प्रयत्न किया गया है। 'कला कला के लिए' (Art for Art's sake) के सिद्धान्त के अनुगामियों को कला को सत्य तथा नीति के शासन में जकड़ना बिलकुल पसन्द नहीं, वे कला का उद्देश्य सौन्दर्यानुभूति-मात्र मानते हैं और शिक्षा, सत्य तथा आचार-शास्त्र इत्यादि को कला के क्षेत्र से बाहर रखते हैं। अमरीका के प्रमुख आलोचक जे० ई० स्पिन्गार्न(J. E. Spingarn) 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का समर्थन करते हुए लिखते हैं :

कला की नैतिक दृष्टि से परीक्षा करना अन्ध परम्परा है और हमने उसे समाप्त कर दिया है। कुछ कविता का उद्देश्य शिक्षा मानते हैं, कुछ आनन्दोत्पादन; और कुछ आलोचक आनन्द तथा शिक्षा दोनों ही स्वीकार करते हैं। परन्तु कला का एक ही उद्देश्य है—अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति के पूर्ण होते ही कला का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। सौन्दर्य

स्वयं अपना साध्य है, उसके अस्तित्व के उद्देश्य की खोज व्यर्थ है।[१]

स्पिन्गार्न सौन्दर्य के विश्व को सत्य तथा शिव दोनों के क्षेत्र से पृथक् मानते हैं और कहते हैं कि :

शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार या दुराचार ढूँढना ऐसा ही है जैसे कि रेखा गणित के समबाहु त्रिभुज को सदाचारपूर्ण और विषमबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण कहना।[२]

आधुनिक काल के प्रसिद्ध कवि टी० एस० इलियट लिखते हैं कि शब्दों के भयानक दुष्प्रयोग के बिना यह कहना असम्भव है कि कविता नीति की शिक्षा, राजनैतिक मार्ग-दर्शन अथवा धार्मिकता या उसका समकक्ष कुछ और है।[3]

सुप्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक आस्कर वाइल्ड (Oscar Wilde) ने उपर्युक्त विचारों का न केवल समर्थन ही किया अपितु अपनी कृतियों में इनका पूर्ण पालन भी किया है।

समालोचना का क्षेत्र बतलाते हुए वह लिखता है: समालोचना में सबसे पहली बात यह है कि समालोचक को यह परख हो कि कला तथा आचार के क्षेत्र पृथक-पृथक् हैं।

इसी प्रकार ए. सी. ब्रेडले (A. C. Bradley) ने अपने 'कविता कविता के लिए' (Poetry for Poetry's sake) शीर्षक सुप्रसिद्ध निबन्ध में काव्य-कला को स्वयं अपना साध्य माना है; और धर्म, संस्कृति तथा नैतिक शिक्षा इत्यादि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं माना।

परन्तु साहित्य या कला के क्षेत्र में इन भावनाओं का तीव्र विरोध भी हुआ है, सुप्रसिद्ध अंग्रेजी आलोचक और कवि मैथ्यू आर्नल्ड ने 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त का तीव्र विरोध करते हुए लिखा है :

---

१. We have done with all moral judgement of art. Some said that poetry was meant to instruct; some, merely to please; some, to do both. Romantic criticism—first enuciated the principle that art has no aim except expression; that its aim is complete when expression is complete; that 'beauty is its own excuse for being'.

२. To say that poetry as poetry is moral or immoral is as meaningless to say that an equilateral triangle is moral and an icosceles triangle immoral.

३. And certainly poetry is not the inculaction of morals, or the direction of politics, and no more is it religion or an equivalent of religion except by some monstrous abuse of words.........

'A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life; a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifferenee towards life.'

अर्थात्—जो काव्य नैतिकता के प्रति विद्रोही है वह स्वयं जीवन के प्रति विद्रोही है और जो काव्य नैतिक भावनाओं के प्रति उपेक्षा-पूर्ण है वह जीवन के प्रति उपेक्षापूर्ण है।

टाल्स्टाय ने भी काव्य और कला की कसौटी नीति तथा धर्म को ही माना है,[1] और उसके जीवन पर पड़े अच्छे और बुरे प्रभाव से उसकी उत्कृष्टता तथा हीनता का मापदण्ड बतलाया है। कवि आडेन (Auden) भी शिक्षा को साहित्य का कर्तव्य मानता है :

"Poetry is not concerned with telling people what is to do but with extending our knowledge of good and evil.

अर्थात्—काव्य का क्षेत्र यद्यपि उपदेश नहीं तथापि उसका आदर्श या उद्देश्य हमें अच्छे या बुरे से सचेत कर देना आवश्यक है।

यूरोप में रस्किन (Ruskin), आई. ए. रिचर्ड्स (I. A. Richards), शैले (Shelley) तथा मिल्टन (Milton) इत्यादि विद्वान् कला और नैतिकता का घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं।

११. भारतीय दृष्टिकोण

हमारे यहाँ भी आचार्यों ने काव्य और नैतिकता के सम्बन्धों पर विचार किया है, और अश्लीलत्व इत्यादि को काव्य में दोष मान-कर काव्य और नीति में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि मम्मट ने काव्य को ब्रह्मा की सृष्टि के नियमों से भी परे माना है[2] और उसे 'अनन्य परतन्त्र' भी कहा है, तथापि (मम्मटाचार्य) ने ही जहाँ काव्य का प्रयोजन आनन्द (सद्यः परनिर्वृतये) माना है, वहाँ कान्ता-सम्मित उपदेश (कान्ता सम्मित-तयोपदेशयुजे) को भी साथ ही ग्रहण किया है। रसों के वर्णन में औचित्य की सीमा का अतिक्रमण करने का कारण रस का रसाभास हो जाता है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय आचार्यों ने भी नैतिक औचित्य को न्याय्य स्थान प्रदान करने का प्रयत्न किया है।

---

१. In every age and in every human society there exists a religious sense of what is good and what is bad common to that whole society, and it is this religious conception that decides the value of the feelings transmitted by art. —Tolstoy : *What is Art?*

२. नियति-कृत नियम रहिताम्—मम्मट

आधुनिक भारतीय मनीषियों में कवीन्द्र रवीन्द्र 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के समर्थक हैं, और कला को किसी भी उपयोगिता से परे मानते हैं। किन्तु कलाओं में वे मंगल के उपासक अवश्य हैं। सुप्रसिद्ध बंगला-उपन्यासकार बंकिमचन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विपरीत उपयोगितावाद के सिद्धांत से प्रभावित दीखते हैं,उनका कथन है कि कवि संसार के शिक्षक हैं। किन्तु वे नीति की शिक्षा नहीं देते। वे सौन्दर्य की चरम सृष्टि करके संसार की चित्त-शुद्धि करते हैं। यही सौन्दर्य की चरमोत्कर्ष साधक सृष्टि काव्य का मुख्य उद्देश्य है। पहला गौण और दूसरा मुख्य है।

सुप्रसिद्ध हिन्दी उपन्यासकार मुंशी प्रेमचंद अपने एतद्विषयक विचारों को इस प्रकार प्रगट करते हैं :

साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक तथा सुन्दर बनता है। दूसरे शब्दों में उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।

हिन्दी-कलाकारों में श्री इलाचन्द्र जोशी 'कला कला के लिए है' सिद्धान्त के अनुगामी हैं। वे लिखते हैं :

विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति, तत्त्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। उसके अलौकिक माया-चक्र से हमारी हृदय की तन्त्री आनन्द की झंकार से बज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्त्व की खोज करना सौन्दर्य-देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।

इस प्रकार कला और नैतिकता के सम्बन्ध के विषय में विद्वानों में न केवल तीव्र वाद-विवाद ही है, अपितु तीव्र मतभेद भी। विचारकों का एक वर्ग तो जीवन में केवल सौन्दर्यानुभूति को उत्पन्न करना ही कला का उद्देश्य मानता है, जबकि दूसरा वर्ग कला और नैतिकता में घनिष्ठ सम्बन्ध को स्वीकार करता है। ऐसी अवस्था में काव्य में नैतिकता के प्रश्न को सुलझा सकना अत्यन्त कठिन है। साहित्य निश्चय ही आचार-शास्त्र, नीति-शास्त्र अथवा धर्म-शास्त्र नहीं, परन्तु उसका जीवन और समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव सभ्यता का कल्याण भले-बुरे के ज्ञान और चित्त की वृत्तियों के परिमार्जन में ही है। नैतिकता के प्रति उच्छृङ्खलता या विद्रोह में नहीं। नीति-निरपेक्ष साहित्य विलास तथा भोग-लालसा के उच्छृङ्खल तत्त्वों से पूर्ण होता है, वह मनुष्य के जीवन में 'शिवं' तथा 'सत्यं' की स्थापना नहीं कर सकता। जो कला जीवन का निर्माण नहीं

करती, उसे सन्मार्ग पर नहीं ले जाती, वह कला व्यर्थ है।

परन्तु हमें सदा यह ध्यान में रखना चाहिए कि कवि या कलाकार भविष्य-द्रष्टा होता है, उसकी पैनी दृष्टि समय के आवरण को चीरती हुई भविष्य के गर्भ में पहुँच जाती है, इसलिए यह आवश्यक नहीं कि कवि या साहित्यकार युग विशेष की स्वीकृत नैतिकता को ही स्वीकार करे। वह अपनी सूक्ष्म दृष्टि द्वारा वर्तमान समाज के नैतिक आधार को दोषयुक्त समझता हुआ उसके प्रति विद्रोह भी कर सकता है और कभी वह अपनी सृजनात्मक शक्ति का आश्रय ग्रहण करके नवीन नैतिक आधारों की सर्जना भी कर सकता है।

साहित्य में नैतिकता की उपेक्षा नहीं की जा सकती, परन्तु कवि या कलाकार युग विशेष की नैतिक भावनाओं से बँधा हुआ ही नहीं रह सकता।

१२. साहित्य और रस

हम पीछे लिख आए हैं कि साहित्य के दो पक्ष होते हैं—भाव पक्ष और कला पक्ष। कला पक्ष का संक्षिप्त विवेचन पीछे किया जा चुका है। भावों का निरूपण और लक्षण-निर्धारण भी हो चुका है। यहाँ हम भारतीय आचार्यों की रस-सम्बन्धी धारणा पर विचार करके रस के विभिन्न भेदों का विवेचन करेंगे।

रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक 'नाट्य-शास्त्र' के पिता भरत मुनि माने जाते हैं, किन्तु काव्य में रस की समीक्षा उनसे पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी थी। यह आज प्रमाणित हो चुका है। हाँ, काव्य शास्त्र में रस को एक सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित करने का श्रेय भरत मुनि को दिया जाता है। पश्चात् के आचार्यों ने भी रस के सम्बन्ध में भरत मुनि की ही इस शास्त्रीय व्याख्या को स्वीकार किया :

आस्वाद्यत्वाद्रसः आस्वादजन्य आनन्द को ही रस कहा जाता है। साहित्य के जिस अंग में आस्वाद नहीं होता वह साहित्य ही नहीं कहलाता। भरत मुनि के अनुसार **न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।**

प्राचीन कवियों ने रस की परिभाषा इस प्रकार की है :

जो विभाव अनुभाव अरु विभिचारिनि करि होय।
थिति की पूरन वासना, सुकवि कहत रस सोय॥

वस्तुतः विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त रति आदि स्थायी भाव 'रस' कहलाते हैं।

हमारे यहाँ भाव को व्यापक अर्थ में ग्रहण करके उसे रस का आधार स्वीकार

किया गया है। स्थायी भाव इनमें प्रमुख हैं। वही रस की अवस्था तक पहुँचते हैं। विभाव स्थायी भाव को जाग्रत कर देने की कारण-सामग्री है। मानव-हृदय में स्थित भाव दो प्रकार के हैं। एक तो वे जो क्षणिक होते हैं और लहरों की भाँति मन में थोड़ी देर के लिए उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं। दूसरे वे हैं जो निरन्तर मन में स्थित रहते हैं और रसास्वादन तक बार-बार भासित होते रहते हैं। पहले संचारी भाव कहलाते हैं और दूसरे स्थायी भाव।

स्थायी भाव—स्थायी भाव दस हैं। (१) रति (२) शोक (३) निर्वेद (४)क्रोध (५)उत्साह (६) विस्मय (७) हास (८) भय (९)घृणा तथा (१०)स्नेह। इन दस स्थायी भावों की अभिव्यक्ति से दस रस बनते हैं। इनके लक्षण और किस स्थायी भाव से कौन सा रस बनता है, यह निम्न रूप से जाना जा सकता है—

(१) रति—स्त्री और पुरुष की पारस्परिक प्रेम-भाव नामक चित्त-वृत्ति को 'रति' कहा जाता है।

रति स्थायी भाव से 'शृंगार' रस बनता है।

(२) शोक—प्रिय वस्तु पुत्र, प्रिया आदि के वियुक्त होने पर मन में उत्पन्न होने वाली व्याकुलता नामक चित्त-वृत्ति को 'शोक' कहा जाता है।

शोक स्थायी भाव से 'करुण' रस बनता है।

(३) निर्वेद—वेदान्त इत्यादि शास्त्रों के निरन्तर अध्ययन, चिन्तन और मनन से संसार की अनित्यता के ज्ञान से उत्पन्न होने वाली विषयों से वैराग्य नामक चित्त-वृत्ति को 'निर्वेद' कहते हैं।

निर्वेद स्थायी भाव से 'शान्त' रस बनता है।

(४) क्रोध—अपने प्रति या अपने किसी प्रिय व्यक्ति के प्रति किसी के प्रबल अपराध से दण्ड देने के लिए उत्तेजित कर देने वाली मनोवृत्ति 'क्रोध' कहलाती है।

क्रोध स्थायी भाव से 'रौद्र' रस बनता है।

(५) उत्साह—दान, दया और दूसरे के पराक्रम आदि के देखने से उत्पन्न होने वाली, उन्नतता नामक मनोवृत्ति 'उत्साह' कहलाती है।

उत्साह स्थायी भाव से 'वीर' रस बनता है।

(६) विस्मय—किसी असाधारण अथवा अलौकिक पदार्थ के दर्शन से उत्पन्न होने वाली आश्चर्य नामक चित्त-वृत्ति को 'विस्मय' कहते हैं।

विस्मय स्थायी भाव से 'अद्भुत' रस बनता है।

(७) हास—बोलने अथवा वेश-भूषा और अंगों के विकार को देखकर

उत्पन्न होने वाली प्रफुल्लता नामक चित्त-वृत्ति को 'हास' कहते हैं।

हास स्थायी भाव से 'हास्य' रस बनता है।

(८) *भय*—प्रबल अनिष्ट करने में समर्थ पदार्थों तथा बाघ इत्यादि भयंकर जन्तुओं के दर्शन से उत्पन्न व्याकुलता नामक चित्त-वृत्ति को 'भय' कहते हैं।

भय स्थायी भाव से 'भयानक' रस बनता है।

(९) *जुगुप्सा*—घृणित वस्तु के देखने आदि से उत्पन्न होने वाली घृणा नामक चित्त-वृत्ति को 'जुगुप्सा' कहते हैं।

जुगुप्सा स्थायी भाव से 'वीभत्स' रस बनता है।

(१०) *स्नेह*—छोटे बच्चों के प्रति प्रेम नामक चित्त-वृत्ति को 'स्नेह' कहते हैं।

स्नेह स्थायी भाव से 'वात्सल्य' रस बनता है।

विभाव-अनुभाव—यद्यपि स्थायी भाव ही रस के प्रमुख निष्पादक हैं, किन्तु उनको जाग्रत करने और उद्दीप्त करने तथा 'रस' की अवस्था तक पहुँचाने के लिए विभाव-अनुभाव आदि विशेष रूप से सहायक होते हैं।

विभाव रति आदि स्थायी भावों को जगा देते हैं। विभाव का शाब्दिक अर्थ है भावों को विशेष रूप से जगा देना है। विभाव दो प्रकार के होते हैं—

(१) आलम्बन विभाव और (२) उद्दीपन विभाव

जिसके प्रति या जिसके विषय में स्थायी भाव उत्पन्न होता है, उसे आलम्बन विभाव कहते हैं। शृङ्गार रस का वर्णन करते हुए, उसके दो मुख्य आश्रय-स्थल आयँगे। प्रथम तो वह, जिसके हृदय में रति भाव की उत्पत्ति हुई और दूसरा वह, जिसके प्रति हृदय में रति भाव उत्पन्न हुआ। शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के प्रेम-वर्णन में शकुन्तला आलम्बन होगी, क्योंकि दुष्यन्त के हृदय में शकुन्तला के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ। दुष्यन्त आश्रय कहलायगा।

शकुन्तला रूपी आलम्बन विभाव द्वारा उत्पन्न दुष्यन्त के हृदय में स्थायी-भाव को जो बढ़ा देते हैं, उद्दीप्त कर देते हैं उन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं। दुष्यन्त के हृदय में उत्पन्न 'रति' रूपी स्थायी भाव को जाग्रत कर देने वाले वे क्या पदार्थ हैं? शकुन्तला का सौन्दर्य, आश्रम का एकान्त, कुसुमित और मादक वातावरण। ये उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत गृहीत किये जायँगे।

अनुभाव के अन्तर्गत उन बाह्य चेष्टाओं को गृहीत किया जाता है जो कि स्थायी भावों के उदय होने पर आश्रय में उत्पन्न होती हैं, (आलम्बन की शारीरिक चेष्टाएँ उद्दीपन के अन्तर्गत गृहीत की जाती हैं) जैसे क्रोध स्थायी भाव के उत्पन्न होने पर आँखें लाल हो जाती हैं, होंठ काँपने लगते हैं और भुजाएँ

फड़कने लगती हैं। इसी प्रकार रति स्थायी भाव के उत्पन्न होने पर चेहरे की कान्ति बढ़ जाती है, उस पर मन्द-मन्द मुस्कान आ जाती है। ये सब शारीरिक और मानसिक चेष्टाएँ अनुभाव के अन्तर्गत गृहीत की जाती हैं। इन्हें अनुभाव इसलिए कहते हैं कि ये चेष्टाएँ भावों का अनुगमन करती हैं अर्थात् स्थायी भाव के पश्चात् उत्पन्न होती हैं। ये चेष्टाएँ अनन्त हैं, इनकी कोई इयत्ता नहीं। क्योंकि भिन्न-भिन्न भावों के उत्पन्न होने पर व्यक्ति भिन्न-भिन्न चेष्टाओं को करता है।

अनुभावों को तीन भागों में विभक्त किया गया है—(१) कायिक, (२) मानसिक और (३) सात्विक।

कायिक अनुभाव वह चेष्टाएँ हैं जो शरीर के अंगों के व्यापार के रूप में प्रकट होती हैं। क्योंकि ये काय–शरीर–से सम्बन्धित होती हैं अतः इन्हें कायिक कहा जाता है। क्रोध में आकर आक्रमण करना, और भुजाओं का फड़कना इत्यादि अनुभाव हैं।

स्थायी भाव के कारण उत्पन्न मनोविकार मानसिक अनुभाव कहलाते हैं। हृदय में भाव अंकुरित होने से ये अनुभाव अपने-आप उत्पन्न हो जाते हैं।

यही अनुभाव मानव-मन की अत्यन्त व्याकुलताजनक दशा से उत्पन्न होते हैं, इनके उत्पादन के लिए किसी प्रकार का यत्न नहीं करना पड़ता; इसलिए ये अयत्नज कहलाते हैं। सात्विक अनुभाव आठ हैं।

संचारी भाव—स्थायी भावों के बीच-बीच में कुछ और भाव भी प्रकट होते रहते हैं, जो कुछ क्षणों के अनन्तर विलीन हो जाते हैं। जैसे प्रेम की अवस्था में औत्सुक्य, हर्ष अथवा लज्जा आदि भाव कुछ देर के लिए उत्पन्न होकर स्थायी भाव रति को बढ़ाकर स्वयं विलीन हो जाते हैं। इन संचरणशील भावों का एक-मात्र उद्देश्य स्थायी भाव को पुष्ट करना है। इन्हें संचारी भाव अथवा व्यभिचारी भाव कहते हैं। इनकी संख्या ३३ मानी गई है, किन्तु इनकी संख्या इनसे अधिक भी हो सकती है।

प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्रियों के मतानुसार प्रत्येक रस का एक स्थायी भाव होता है और स्थायी भाव के साथ आलम्बन और उद्दीपन के रूप में दो विभाव रहते हैं और उनके साथ ही कुछ संचारी भावों की सत्ता भी होती है। पहले हम स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव आदि का विवेचन कर चुके हैं। आगे अब विभाव आदि निर्देश के साथ उदाहरण देकर प्रत्येक रस का विवेचन, विस्तृत रूप से किया जायगा।

श्रृङ्गार रस—यहाँ अब हम सर्वप्रथम श्रृङ्गार रस को लेंगे। क्योंकि रसों में

शृङ्गार को ही प्रमुखता दी जाती है, और इसे रसराज भी कहा जाता है। मानव-मन की आन्तरिक वृत्तियों के प्रति इसकी निकटता भी सर्वमान्य है।

शृङ्गार के दो भेद होते हैं—संयोग और वियोग। जहाँ नायक-नायिका के मिलन का वर्णन रहता है वह शृङ्गार कहलाता है, और जहाँ उत्कट प्रेम के होते हुए भी मिलन के अभाव का वर्णन हो वहाँ वियोग शृङ्गार होता है।

संयोग तथा वियोग की अवस्था में बहुत अन्तर होता है, संयोग की अवस्था वियोग से सर्वथा विपरीत होती है, अतः दोनों अवस्थाओं की पारस्परिक चेष्टाएँ भिन्न होंगी। इनके विभाव, अनुभाव और संचारी भाव भिन्न होते हैं। नीचे शृङ्गार की दोनों अवस्थाओं के विभिन्न उपादानों को रखा जाता है—

स्थायी भाव—रति।

आलम्बन विभाव—नायक और नायिका।

उद्दीपन विभाव—शारीरिक सौन्दर्य और प्राकृतिक सौन्दर्य। वसन्त ऋतु, नदी का किनारा, चाँदनी रात इत्यादि। संयोग शृङ्गार में ये विभाव सुखकर और वियोग में दुःखप्रद होंगे।

अनुभाव—संयोग में प्रेम भाव से देखना, मुस्कराना, स्पर्श करना इत्यादि। वियोग में अश्रु, स्तम्भ, विवर्णता, स्नेह आदि।

संचारी भाव—संयोग-वर्णन में हर्ष, लज्जा, क्रीड़ा, औत्सुक्य आदि। वियोग में ग्लानि, त्रास, वितर्क, जड़ता, उन्माद, निर्वेद इत्यादि।

उदाहरण

संयोग शृङ्गार—

संसर्ग अति लहि हम मिलाए, मुदित कपोल कपोल सों।
दृढ़ पुलकि आलिंगन कियो, भुज मेलि तव भुज लोल सों॥
कछु मंद बानी सन विगत क्रम, कहत तोसों भामिनी।
गए बीत चारहु पहर पै नहिं जात जानी जामिनी॥

वियोग शृङ्गार—

उनका यह कुञ्ज कुटीर वही भड़ता उड़ अंशु अबीर जहाँ।
अलि, कोकिल, कीर, शिखी सब हैं धुन चातक की रट पीव कहाँ॥
अब भी सब साज समाज वही तब भी सब आज अनाथ यहाँ।
सखि जा पहुँचे सुध संग कहीं यह अन्ध सुगन्ध समीर वहाँ॥

करुण रस

स्थायी भाव—शोक।

आलम्बन विभाव—इष्टनाश।

उद्दीपन विभाव—शव-दर्शन, दाह तथा अन्य प्रिय बन्धुओं का विलाप।

अनुभाव—छाती पीटना, निश्वास छोड़ना, सिसकियाँ भरना, जमीन पर गिरना इत्यादि।

संचारी भाव—मोह, निर्वेद, अपस्मार, ग्लानि, उन्माद, जड़ता, विषाद इत्यादि।

उदाहरण

प्रियजन की मृत्यु के वियोग से जनित करुणापूर्ण विलापों के कारण साहित्यिक ग्रन्थ भरे पड़े हैं। 'रामायण' में लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का करुणापूर्ण विलाप, 'रघुवंश' का अज-विलाप, 'जयद्रथ-वध' में द्रौपदी का विलाप बहुत प्रसिद्ध हैं। आज भी देश की करुणापूर्ण स्थिति पर अनेक शोक-गीत लिखे गए हैं। महात्मा गांधी की मृत्यु पर भी बहुत से करुणापूर्ण गीतों की रचना हुई। जाति की दुर्दशा को विचार में रखकर लिखा गया यह करुणापूर्ण पद्य देखिए :

रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

या

कहाँ आज इक्ष्वाकु कुकुत्सु कहाँ मानधाता।
कहाँ दलीप रघु अजहुँ कहाँ दशरथ जग-त्राता॥
पृथ्वीराज हम्मीर कहाँ विक्रम सम नायक।
कहाँ आज रणजीतसिंह जग-विजय-विधायक॥

शृङ्गार की भाँति करुण रस को भी कुछ लोग 'रसराज' कहते हैं। भवभूति इनमें प्रमुख हैं। भवभूति का कथन है कि :

एको रसः करुण एव निमित्त भेदात्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त बुद-बुद तरंगमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्॥

किन्तु अन्य रस-शास्त्री इससे सहमत नहीं। करुण रस की मुखता को वे अस्वीकार नहीं करते, किन्तु 'रसराज' तो वे शृङ्गार को ही मानते हैं। शृङ्गार हमारे जीवन की बहुत सी आन्तरिक और वाह्य परिस्थितियों से सम्बन्धित है, वस्तुतः हमारे जीवन में उसकी व्यापकता सर्वमान्य है, उसके संचारी भावों की संख्या भी नव रसों से अधिक है, और कुछ साहित्याचार्य तो इसे साहित्य की मूल प्रेरणा भी स्वीकार करते हैं, ऐसी स्थिति में शृङ्गार ही 'रसराज' कहला सकता है। किन्तु मनोवृत्तियों के परिष्कार और मानव-दृष्टिकोण की व्यापकता

के अनुसार करुण रस की ही प्रधानता है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

शान्त रस

स्थायी भाव—निर्वेद।

आलम्बन विभाव—संसार की निस्सारता अथवा परमात्मा।

उद्दीपन—तीर्थ, तपोवन, आश्रम, शास्त्र, परिशीलन, साधु पुरुषों का सत्संग तथा उपदेश इत्यादि।

अनुभाव—गृह-त्याग, समाधि लगाना, रोमांच, अश्रु, तथा विषयों के ति अरुचि प्रदर्शित करना।

उदाहरण

(क) मैं तोहिं अब जान्यों संसार।
बाँधि न सकहिं मोहि हरि के बल, प्रकट कपट आगार॥
देखत ही कमनीय कछू, नाहिंन पुनि कियो विचार।
ज्यों कदली तरु मध्य निहारत, कबहुँ न निकसत सार॥

(ख) रहिमन निज मन की बिथा मन ही राखो गोय।
सुनि इठलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहै कोय॥

रौद्र रस

स्थायी भाव—क्रोध।

आलम्बन—अनिष्ट करने वाला पुरुष, शत्रु, अपराधी व्यक्ति।

उद्दीपन—शत्रु या अनिष्ट करने वाले पुरुष की चेष्टाएँ, यथा कटु वचन तथा अकड़ना इत्यादि क्रोध को भड़काने वाली अन्य चेष्टाएँ।

अनुभाव—आँखों का लाल होना, दाँत पीसना, मुख लाल हो जाना, हथियार चलाना, गरजना, काँपना इत्यादि।

संचारी भाव—उग्रता, अमर्ष, मद, मोह, आवेग तथा चपलता आदि।

उदाहरण

सुनत लखन के वचन कठोरा, परसु सुधार धरेउ कर घोरा।
अब जनि देउ दोष मोंहि लोगू, कटु-बादी बालक बध जोगू।
राम-बचन सुनि कछुक जुड़ाने, कहि कछु लखन बहुरि मुसकाने।
हँसत देखि नख-सिख रिस ब्यापी, राम तोर भ्राता बड़ भागी।

वीर रस

रन बैरी सम्मुख दुखी, भिक्षुक आवे द्वार।
युद्ध, दया और दान हित, होत उछाह उदार॥

स्थायी भाव—उत्साह।

उत्साह के विषय विभिन्न हैं। शत्रु से युद्ध करने में, धर्म-रक्षा में, दीनों की दशा देखकर द्रवित होकर दान करने में, सत्य तथा कर्तव्य-पालन इत्यादि में उत्साह का प्रदर्शन हो सकता है। अतः प्राचीन आचार्यों ने इन विभिन्न विषयों का विचार रखकर वीर रस के चार भेद किये हैं—(१) युद्ध, (२) दया, (३) धर्म तथा (४) दान।

इन चारों के आलम्बन इत्यादि भिन्न-भिन्न हैं। 'युद्ध वीर' इनमें प्रमुख है, अतः यहाँ उसके आलम्बन इत्यादि निर्देशित किये जाते हैं।

आलम्बन—विजेतव्य शत्रु।

उद्दीपन—शत्रु की चेष्टाएँ; जैसे सेना, हथियारों का प्रदशन, युद्ध के लिए ललकारना, बाजों का बजना इत्यादि।

उदाहरण

समय विलोके लोग सब, जान जानकी भीरु।
हृदय न हर्ष विषाद कछु, बोले श्रीरघुवीर॥
नाथ शम्भु धनु भञ्जन हारा, हुइहै कोउ एक दास तुम्हारा।

भूषण का एक पद्य देखिए—

साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है।
'भूषन' भनत नाद बिहद नगारन को,
नदी नद मद गैवरन के रलत है॥
ऐल फैल खैल मैल खलक में गैल-गैल,
गजन की ठैल पैल सैल उसलत है।
तारा सो तरनि धूरि धारा पर लगत जिमि,
धारा पर पारा पारावार यों हलत है॥

अद्भुत रस

स्थायी भाव—विस्मय।

आलम्बन—अद्भुत वस्तु अथवा अलौकिक पुरुष या दृश्य।

उद्दीपन—उसके गुणों की महिमा।

अनुभाव—दाँतों तले अँगुली दबाना, गद्गद् स्वर, रोमांच, स्वेद तथा मुख खुला रहना इत्यादि।

संचारी—मोह, आवेग, हर्ष, वितर्क तथा त्रास इत्यादि।

उदाहरण

लीन्हो उखारि पहार बिसाल चल्यो तेहि काल विलंब न लायो।
मारुत-नन्दन मारुत को, मन को खगराज को वेग लजायो॥
तीखी तुरा 'तुलसी' कहतो पै हिए उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो॥

हास्य रस

स्थायी भाव—हास।

आलम्बन—विकृत आकृति या वेश-भूषा वाला अथवा विकृत वाणी बोलने वाला व्यक्ति और विकृत रूप वाली वस्तु।

उद्दीपन—विचित्र वेश-भूषा, विकृत उक्तियाँ तथा चेष्टाएँ।

अनुभाव—आँखों का खिल जाना, शरीर का हिलना, आँखों में पानी आ जाना और दाँतों का दिखाना इत्यादि।

संचारी—चपलता, हर्ष एवं आलस्य इत्यादि।

हिन्दी-कविता में स्वस्थ हास्य रस का अभाव है। हाँ, कुछ व्यंग्य-प्रधान, सुन्दर एकांकी और शब्द-चित्र इधर अवश्य लिखे गए हैं। श्री हरिशंकर शर्मा तथा परिपूर्णानन्द वर्मा की हास्य-मिश्रित व्यंग्यात्मक कहानियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं। श्री निराला जी के व्यंग्य (Satire) में कुछ तीखापन अधिक है। श्रीवास्तव जी की कहानियों का हास्य अशिष्ट होने के कारण रसाभास के अन्तर्गत गृहीत किया जायगा।

उदाहरण

शाब्दिक चमत्कार पर आधारित बिहारी का यह हास्य रस का दोहा बहुत प्रसिद्ध है—

चिरजीवो जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
कै घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर॥

भयानक रस

प्राचीन आचार्यों ने लिखा है—

घोर सत्व देखै सुनै, करि अपराध अनीति।
मिलै शत्रु भूतादि कै, सुमिरै उपजत भीति॥
भीत बढ़ै रस भयानक, दृगजल वेपथु अंग।
चकित चित्त चिन्ता चपल, विवरनता, सुर भंग॥

स्थायी भाव—भय।

आलम्बन—भयानक व्यक्ति या वस्तु। चोर, सिंह, आग, और नदी की बाढ़ आदि।

उद्दीपन—भयानक आलम्बन की चेष्टाएँ।

अनुभाव—काँपना, विवरणता, प्रलय, स्वेद, रोमांच तथा कम्प आदि।

संचारी—आवेग, त्रास, शंका, ग्लानि, मोह तथा दीनता आदि।

उदाहरण

प्रबल प्रचण्ड बरिबण्ड बाहुदण्ड वीर,
धाए जातुधान हनुमान लियो घेरिकै।
महाबल पुञ्ज कुञ्जरारि ज्यों गरजि भट,
जहाँ-तहाँ पटके लंगूर फेरि-फेरिकै॥
मारे लात, तोरे गात, भागे जात, हाहा खात,
कहें 'तुलसीस' 'राखि राम की सौं' टेरिकै।
ठहर ठहर परे, कहरि कहरि उठै,
हहरि हहरि हर सिद्ध हँसे हेरिकै॥

लंका-दहन का एक दृश्य देखिए—

चहुँधा लखि ज्वाल कुलाहल भो पुर-लोग सबै दुख ताप तयो।
यह लंक दशा लखि लंकपती अति संक दसौ मुख सूखि गयो॥

वीभत्स रस

स्थायी भाव—जुगुप्सा।

आलम्बन—घृणित वस्तुएँ; यथा श्मशान इत्यादि।

उद्दीपन—बदबू, कृमि, मक्खियाँ इत्यादि।

अनुभाव—थूकना, मुख बन्द करना, नाक सिकोड़ना, छी-छी करना, मुख फेर लेना इत्यादि।

संचारी—मोह, मूर्च्छा, आवेग, इत्यादि।

उदाहरण

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में और रत्नाकर जी के 'हरिश्चन्द्र काव्य' में श्मशान-वर्णन में वीभत्स रस है। एक पद्य देखिए—

कहुँ सृगाल कोउ मृतक अंग पर ताक लगावत।
कहुँ कोउ सव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत॥
जहँ तहँ मज्जा मांस रुधिर लखि परत बगारे।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहुँ-कहुँ रतनारे॥

बीभत्स रस का एक और पद्य देखिए—

कहूँ धूम उठत बरति कतहूँ है चिता,
कहूँ होत रोर कहूँ अरथी धरी अहै।
कहूँ हाड़ परो कहूँ अधजरो बाँस कहूँ,
कहूँ गीध-भीर मांस नोचत अरी अहै॥
'हरीऔध' कहूँ काक कूकर हैं शव खात,
कतहूँ मसान में छछूँदरी मरी अहै।
कहूँ जरी लकरी कहूँ है सरी-गरी खाल,
कहूँ भूरि धूरि-भरी खोपरी परी अहै॥

वात्सल्य रस

स्थायी भाव—स्नेह।

आलम्बन—बालक, शिशु, पुत्र इत्यादि।

उद्दीपन—आलम्बन की चेष्टाएँ, तुतलाना, खेलना-कूदना, घुटनों के बल चलना, हठ करना, शौर्यादि गुण प्रदर्शित करना इत्यादि।

अनुभाव—चूमना, आलिंगन करना, सिर सूँघना, थपथपाना, टकटकी लगाकर देखते रहना इत्यादि।

संचारी भाव—आवेग, हर्ष, शंका, औत्सुक्य इत्यादि संयोग अवस्था में, और मोह, विषाद, जड़ता इत्यादि वियोग दशा में।

उदाहरण

वात्सल्य-वर्णन में सूरदास को जैसी सफलता प्राप्त हुई है वैसी अन्य किसी को नहीं। वस्तुतः सूर का वात्सल्य-वर्णन इतना काव्यांगपूर्ण और मौलिक है कि अन्य कवियों की एतद्विषयक उक्तियाँ सूर के आगे जूठी जान पड़ती हैं। एक पद्य देखिए—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मो सों कहत मोल को लीनो, तोहि जसुमति कब जायो॥
कहा कहौं, या रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन तुव माता कौन तिहारो तात॥
गोरे नन्द जसोदा गोरी, तुम कत स्याम शरीर।
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर॥
तू मोही को मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन को मुख रिस-समेत लखि, जसुमति अति मन रीझै॥

रस-विरोध—कुछ रस स्वभाव से ही विरोधी माने गए हैं, इन रसों का पारस्परिक विरोध इस प्रकार है—

(१) करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक से शृङ्गार रस का विरोध है। (२) करुण और भयानक हास्य रस के विरोधी हैं। (३) करुण का हास्य और शृङ्गार से, (४) रौद्र का शृङ्गार, हास्य और भयानक से, और (५) वीर रस का भयानक और शान्त से विरोध है। (६) शृङ्गार हास्य, वीर, रौद्र और शान्त भयानक के विरोधी हैं। (७) वीभत्स का शृङ्गार रस से, तथा (८) शान्त का वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य और भयानक से विरोध है! यह विरोध तीन प्रकार का है—एक : आलम्बन-विरोध, दो : आश्रय-विरोध तथा तीन : नैरन्तर्य-विरोध।

१. *आलम्बन-विरोध*—एक ही आलम्बन के विषय में दो विभिन्न रसों का एक साथ न हो सकना आलम्बन-विरोध है। हास्य, वीर, रौद्र और वीभत्स का शृङ्गार से आलम्बन-विरोध है। हास्य का जो आलम्बन होगा वह शृङ्गार का नहीं हो सकता।

२. *आश्रय-विरोध*—रसों का एक ही आश्रय में न हो सकना आश्रय-विरोध होता है। वीर और भयानक का आश्रय-विरोध है, क्योंकि वीर में भय तो हो ही नहीं सकता।

३. *नैरन्तर्य-विरोध*—रसों का निरन्तर—बिना व्यवधान—न आ सकना नैरन्तर्य-विरोध होता है। शृङ्गार और शान्त का ऐसा ही विरोध है। हाँ, शृङ्गार और शान्त के बीच में कोई अन्य रस आ जाय तो वह विरोध शान्त हो जायगा।

कुछ रस इस प्रकार के हैं कि उनमें उपर्युक्त तीनों प्रकार का विरोध नहीं। जैसे शृङ्गार का अद्‌भुत के साथ, भयानक का वीभत्स के साथ, वीर का अद्‌भुत और रौद्र के साथ किसी प्रकार का विरोध नहीं। यह विरोध शान्त भी हो सकता है। विरोधी रसों को पृथक्-पृथक् आलम्बनों तथा आश्रयों में रख देने से तथा अविरोधी रसों के मध्य में रख देने से यह विरोध शान्त हो जाता है। जैसे हास्य और शृङ्गार में आलम्बन-विरोध है। यदि दोनों को पृथक्-पृथक् आलम्बनों में रख दिया जाय तो यह विरोध शान्त हो जायगा। वीर और भयानक में आश्रय-विरोध है, इन्हें भिन्न-भिन्न आश्रयों में रख देने से यह विरोध शान्त हो जायगा। ऐसा ही अन्य रसों के विषय में समझना चाहिए।

रस के अतिरिक्त रसात्मक उक्ति के कुछ अन्य भेद भी हैं, जो इस प्रकार हैं—

बीभत्स रस का एक और पद्य देखिए—

> कहूँ धूम उठत बरति कतहूँ है चिता,
> कहूँ होत रोर कहूँ अरथी धरी अहै।
> कहूँ हाड़ परो कहूँ अधजरो बाँस कहूँ,
> कहूँ गीध-भीर मास नोचत अरी अहै॥
> 'हरीऔध' कहूँ काक कूकर हैं शव खात,
> कतहूँ मसान में छछूँदरी मरी अहै।
> कहूँ जरी लकरी कहूँ है सरी-गरी खाल,
> कहूँ भूरि धूरि-भरी खोपरी परी अहै॥

वात्सल्य रस

स्थायी भाव—स्नेह।

आलम्बन—बालक, शिशु, पुत्र इत्यादि।

उद्दीपन—आलम्बन की चेष्टाएँ, तुतलाना, खेलना-कूदना, घुटनों के बल चलना, हठ करना, शौर्यादि गुण प्रदर्शित करना इत्यादि।

अनुभाव—चूमना, आलिंगन करना, सिर सूँघना, थपथपाना, टकटकी लगाकर देखते रहना इत्यादि।

संचारी भाव—आवेग, हर्ष, शंका, औत्सुक्य इत्यादि संयोग अवस्था में, और मोह, विषाद, जड़ता इत्यादि वियोग दशा में।

उदाहरण

वात्सल्य-वर्णन में सूरदास को जैसी सफलता प्राप्त हुई है वैसी अन्य किसी को नहीं। वस्तुतः सूर का वात्सल्य-वर्णन इतना काव्यांगपूर्ण और मौलिक है कि अन्य कवियों की एतद्विषयक उक्तियाँ सूर के आगे जूठी जान पड़ती हैं। एक पद देखिए—

> मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।
> मो सों कहत मोल को लीनो, तोहि जसुमति कब जायो॥
> कहा कहौं, या रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जात।
> पुनि-पुनि कहत कौन तुव माता कौन तिहारो तात॥
> गोरे नन्द जसोदा गोरी, तुम कत स्याम शरीर।
> चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर॥
> तू मोही को मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
> मोहन को मुख रिस-समेत लखि, जसुमति अति मन रीझै॥

रस-विरोध—कुछ रस स्वभाव से ही विरोधी माने गए हैं, इन रसों क
पारस्परिक विरोध इस प्रकार है—

(१) करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक से शृङ्गार रस का विरे
है। (२) करुण और भयानक हास्य रस के विरोधी हैं। (३) करुण का हा
और शृङ्गार से, (४) रौद्र का शृङ्गार, हास्य और भयानक से, और (५) व
रस का भयानक और शान्त से विरोध है। (६) शृङ्गार हास्य, वीर, रौद्र औ
शान्त भयानक के विरोधी हैं। (७) वीभत्स का शृङ्गार रस से, तथा (८) शा
का वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य और भयानक से विरोध है। यह विरोध त
प्रकार का है—एक : आलम्बन-विरोध, दो : आश्रय-विरोध तथा तीन : नैरन्त
विरोध।

१. *आलम्बन-विरोध*—एक ही आलम्बन के विषय में दो विभि
रसों का एक साथ न हो सकना आलम्बन-विरोध है। हास्य, वीर, रौद्र औ
वीभत्स का शृङ्गार से आलम्बन-विरोध है। हास्य का जो आलम्बन होगा
शृङ्गार का नहीं हो सकता।

२. *आश्रय-विरोध*—रसों का एक ही आश्रय में न हो सकना आश्र
विरोध होता है। वीर और भयानक का आश्रय-विरोध है, क्योंकि वीर में भय
हो ही नहीं सकता।

३. *नैरन्तर्य-विरोध*—रसों का निरन्तर—विना व्यवधान—न
सकना नैरन्तर्य-विरोध होता है। शृङ्गार और शान्त का ऐसा ही विरोध है।
शृङ्गार और शान्त के बीच में कोई अन्य रस आ जाय तो वह विरोध शा
हो जायगा।

कुछ रस इस प्रकार के हैं कि उनमें उपर्युक्त तीनों प्रकार का विरोध नहीं
जैसे शृङ्गार का अद्भुत के साथ, भयानक का वीभत्स के साथ, वीर का अद्
और रौद्र के साथ किसी प्रकार का विरोध नहीं। यह विरोध शान्त भी
सकता है। विरोधी रसों को पृथक्-पृथक् आलम्बनों तथा आश्रयों में रख देने
तथा अविरोधी रसों के मध्य में रख देने से यह विरोध शान्त हो जाता है।
हास्य और शृङ्गार में आलम्बन-विरोध है। यदि दोनों को पृथक्-पृथक् आलम्
में रख दिया जाय तो यह विरोध शान्त हो जायगा। वीर और भयानक
आश्रय-विरोध है, इन्हें भिन्न-भिन्न आश्रयों में रख देने से यह विरोध शान्त
जायगा। ऐसा ही अन्य रसों के विषय में समझना चाहिए।

रस के अतिरिक्त रसात्मक उक्ति के कुछ अन्य भेद भी हैं, जो
प्रकार हैं—

(१) रसाभास तथा भावाभास—जब रसों तथा भावों की अभिव्यक्ति में अनौचित्य प्रतीत हो तब वे 'रसाभास' तथा 'भावाभास' कहलाते हैं।

(२) भावोदय—जब विभाव, अनुभाव आदि सामग्री के प्रबल होने के कारण भाव उत्पन्न होकर ही रह जाता है, उसमें तीव्रता नहीं आ पाती, तो वह 'भावोदय' होता है।

(३) भाव-सन्धि—जहाँ दो भावों की एक साथ एक ही स्थान पर समान रूप से स्थिति हो वहाँ 'भाव-सन्धि' होती है।

(४) भाव-शबलता—जब अनेक भाव एक साथ ही उदय होते हैं अथवा जहाँ अनेक भावों का मिश्रण रहता है, वहाँ 'भाव-शबलता होती है।

(५) भाव-शान्ति—जहाँ एक भाव से उदय होते ही दूसरा भाव उदय होकर अपने से पूर्वोदित भाव से अधिक प्रबल होकर उसे दबा लेता है वहाँ 'भाव-शान्ति' होती है।

रस-निष्पत्ति—इस विषय में अनेक वाद-विवाद प्रचलित हैं और आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार अपने मतों को स्थापित किया है। किन्तु हम वाद-विवाद में न पड़ते हुए रस-सिद्धान्त के प्रवर्तक भरत मुनि के एतद्विषयक मत को उद्धृत करके रस-प्रकरण को समाप्त करेंगे। भरत मुनि का कथन है कि :

विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। ऊपर हम विभाव-अनुभाव आदि सभी का पर्याप्त विवेचन कर चुके हैं। काव्यात्मा रस की निष्पत्ति उन्हीं से होती है।

१३. साहित्य में शैली का प्रश्न

साहित्य के तत्त्वों का विवेचन करते हुए हम पीछे रचना-तत्त्व (Element of style) या शैली का उल्लेख कर आए हैं। रचना-तत्त्व या शैली का सम्बन्ध साहित्य के कला पक्ष से है, पिछले पृष्ठों में रस तथा भावों के विवेचन द्वारा साहित्य के भाव पक्ष का पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है। यहाँ हम साहित्य में शैली की महत्ता और उसके आवश्यक उपकरणों का वर्णन करेंगे।

मनुष्य में यदि आत्माभिव्यक्ति की एक स्वाभाविक और प्रबल प्रवृत्ति विद्यमान होती है और यदि उसमें इस जड़-चेतन जगत् के सम्पर्क में आने के अनन्तर उद्भूत होने वाली नाना प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्त करने की इच्छा

है। वह अपने कथन को, अपनी भाव-भंगिमा और जीवनको सब प्रकार से सौन्दय-युक्त और रमणीय बनाने का प्रयत्न करता है। शैली के मूल में मानव की सौन्दर्य-प्रियता की यही प्रवृत्ति कार्य कर रही है। शैली क्या है? भावों की अभिव्यक्ति का प्रकार, दूसरे शब्दों में किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उसकी ध्वनि आदि का नाम शैली है। शैली की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं। पोप (Pope) का कथन है कि : शैली विचारों की वेश-भूषा (The dress of thought) है।[1] कार्लाइल (Carlyle) के विचार में शैली लेखक का परिधान न होकर उसकी त्वचा है।[2] साहित्य की आत्मा भाव या रस, जिसे वस्तु (Matter) भी कहा जा सकता है, अपने अभिव्यक्ति के प्रकार (Manner) से पृथक् नहीं होसकती। वस्तुतः भाव यदि आत्मा है तो शैली उसका शरीर। शरीर से आत्मा को पृथक् नहीं किया जा सकता। उसके पार्थक्य का अर्थ है शरीर का मृत होना और आत्मा का अदृश्य हो जाना। अतः आत्मा और शरीर की भाँति साहित्य मे भी वस्तु और शैली का अटूट सम्बन्ध है। शैली के विषय में डाक्टर श्याम-सुन्दरदास का यह निर्णय वस्तुतः युक्ति-संगत ही है कि **शैली को विचारों का परिच्छद न कहकर यदि हम उन विचारों का दृश्यमान रूप कहें तो बात कुछ अधिक संगत हो सकती है।**

उपर्युक्त विवेचन से हम साहित्य में शैली के महत्त्व को भी हृदयंगम कर सकते हैं। किन्तु यहाँ हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शैली मुख्य रूप से एक वैयक्तिक प्रयोग है। एक सच्चा कलाकार परम्परागत विचारों और जीवन-दर्शन-सम्बन्धी सिद्धान्तों को भी अपनी विशिष्ट शैली द्वारा नवीन और अभूतपूर्व बना देता है। प्रत्येक कलाकार अपनी भाषा के गठन में वाक्यों की बनावट, शब्द-योजना तथा अलंकरण-सामग्री का प्रयोग अपनी वैयक्तिक रुचि तथा स्वभाव के अनुसार ही करता है। जिस प्रकार हम अपने किसी परिचित या मित्र की बातचीत या शब्द-ध्वनि को सुनकर उसे पहचान लेते हैं उसी प्रकार विशिष्ट कलाकार द्वारा रचा गया पद्य, गीत या वाक्य उसकी विशिष्ट शैली द्वारा पहचाना जा सकता है। महान् कवियों या गद्य-लेखकों की शैली में कभी सादृश्य नहीं होता। इसलिए प्रत्येक महान् लेखक की शैली उसकी वैयक्तिक रुचि और प्रवृत्ति की परिचायक होती है और उसके द्वारा हम उसकी मनोविज्ञानिक समीक्षा भी कर सकते हैं।

---

१. Style is not the coat of writer, but his skin.

२. Style is an index of personality.

किन्तु शैली की वैयक्तिक विशेषताएँ साधारणतया बड़े-बड़े लेखकों में ही प्राप्त होती हैं, साधारण लेखकों में बहुत कम। विभिन्न लेखकों की शैलियों में भिन्नता के होते हुए भी उनमें कुछ समानताएँ होती हैं; इन सामान्य गुणों या विशेषताओं के आधार पर ही प्राचीन भारतीय आचार्यों ने शैली की विवेचना की है। भारतीय आचार्यों के दृष्टिकोण के अनुसार ही हम शैली के विभिन्न उपकरणों की यहाँ विवेचना करेंगे।

शब्द-शक्तियाँ—शैली का सम्बन्ध मुख्य रूपसे भाषा से है और भाषा का आधार शब्द हैं। शब्दों का समुचित और युक्ति-संगत प्रयोग ही शैली की मुख्य विशेषता है। इसीलिए भारतीय आचार्यों ने शब्द-शक्तियों के विवेचन द्वारा शब्दों के समुचित प्रयोग पर विशेष बल दिया है। शब्द-शक्तियाँ तीन हैं—(१) अभिधा (२) लक्षणा और (३) व्यंजना।

अभिधा से शब्द के साधारण अर्थ का बोध होता है। शब्द को सुनते ही यदि उससे अभिप्रेत अर्थ का ज्ञान हो जाय तो वह अभिधा शक्ति का कार्य होगा। अभिधा शक्ति द्वारा शब्द के एक या मुख्य अर्थ का ही बोध होता है।

जहाँ मुख्यार्थ का बोध हो और उसे छोड़कर वाक्य में शब्द के उपयुक्त अर्थ की संगति बैठाने के लिए किसी अन्य अर्थ की कल्पना करनी पड़े वहाँ लक्षणा होती है। लक्षणा शक्ति के अनेक भेद स्वीकार किये गए हैं।[१] जिनका विस्तार-भय से यहाँ विवेचन नहीं किया जा सकता।

अभिधा और लक्षणा द्वारा अर्थ-प्रतीति का कार्य समाप्त हो जाने पर यदि कोई अन्य अर्थ अभिव्यक्त हो, तो उस अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं और जिस शक्ति के सहारे इस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, उसे व्यञ्जना शक्ति कहते हैं। व्यंजना में शब्द का आधार बहुत कम रह जाता है और संकेत-मात्र से ही शब्द से अर्थ की अभिव्यक्ति हो जाती है। व्यञ्जना शक्ति के दो भेद हैं—शाब्दी और आर्थी। इनके बहुत से उपभेद हैं। जिनकी साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में पर्याप्त विवेचना की जा चुकी है।

लक्षणा और व्यञ्जना भाषा की ऐसी शक्तियाँ हैं जिनसे भाषा न केवल अधिक चमत्कारपूर्ण बनती है, अपितु वह अधिक शक्ति-सम्पन्न, भाव-व्यञ्जक

---

१. लक्षणा शक्ति के मुख्य भेदों के नाम ये हैं (१) उपादान लक्षणा, (२) लक्षण लक्षणा, (३) गौणी सारोपा लक्षणा, (४) गौणी साध्यवसाना लक्षणा, (५) शुद्धा सारोपा लक्षणा तथा (६) शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा।

और प्रभावपूर्ण भी हो जाती है। परन्तु इन शब्द-शक्तियों का प्रयोग कभी भी केवल-मात्र चमत्कार या पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं किया जाना चाहिए।

गुण, वृत्तियाँ तथा रीतियाँ—गुणों की संख्या तीन हैं—१. माधुर्य, २. ओज तथा ३. प्रसाद। इन तीनों गुणों को उत्पन्न करने वाले शब्दों की बनावट भी तीन प्रकार की मानी जाती है, उन्हें वृत्ति कहा जाता है। ये तीन होती हैं—(१) मधुरा, (२) परुषा तथा (३) प्रौढ़ा। गुणों के आधार पर ही वाक्य-रचना की भी तीन रीतियाँ हैं—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली।

इन गुणों, वृत्तियों तथा रीतियों का काव्य में यथास्थान समुचित प्रयोग किया जाना चाहिए। आज प्रसाद गुण की अधिकता सर्वत्र स्वीकार की जाती है। निबन्ध में तो इसकी विशेष उपादेयता है। कथा, कहानी, उपन्यास तथा गद्य-काव्य आदि में माधुर्य तथा ओज पर विशेष ध्यान दिया जाता है।[1]

दोष—गुणों के साथ-ही-साथ शैली में कुछ विशिष्ट दोषों को भी गिनाया गया है, इन दोषों से प्रत्येक साहित्यकार या काव्यकार को बचना चाहिए। ये दोष इस प्रकार हैं—

(१) *क्लिष्टत्व दोष*—ऐसे शब्दों का प्रयोग, जिनका अर्थ बहुत कठिनता से हो सकता हो।

(२) *अप्रतीत्व दोष*—पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग, जिन्हें कि केवल विशेषज्ञ ही समझ सकें।

(३) *अप्रयुक्त दोष*—अप्रचलित शब्दों का प्रयोग।

(४) *अश्लीलत्व दोष*—अश्लील शब्दों का प्रयोग।

(५) *ग्राम्य दोष*—साहित्यिक भाषा में बहुत ऐसे शब्दों का प्रयोग, जो कि केवल ग्रामीणों में ही प्रयुक्त किये जाते हों।

(६) *अधिकपदत्व दोष*—आवश्यकता से अधिक शब्दों का या पदों-वाक्यों का प्रयोग।

(७) *न्यून पदत्व दोष*—भाषा की सुपुष्टता नष्ट करने वाले न्यून पदों का प्रयोग।

(८) *विपरीत रचना दोष*—जहाँ रसानुकूल शब्दों का प्रयोग न हो।

(९) *श्रुतिकटुत्व दोष*—शृङ्गार आदि कुछ विशिष्ट रसों में श्रुतिकटु शब्दों का प्रयोग।

---

१. गुणों, वृत्तियों तथा रीतियों के विस्तृत विवरण, विवेचन तथा उदाहरण के लिए कविता का प्रकरण देखें।

(१०) *च्युति संस्कृति दोष*—जहाँ व्याकरण-विरुद्ध अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया हो।

(११) *पुनरुक्ति दोष*—एक शब्द या वाक्य द्वारा विशेष अर्थ की प्रतीति हो जाने पर भी उसी अर्थ वाले शब्द या वाक्य द्वारा उसी अर्थ का प्रतिपादन करना।

(१२) *दुरान्वय दोष*—वाक्य का अन्वय ठीक न होना।

(१३) *पतत्प्रकर्ष दोष*—जहाँ किसी वस्तु की उत्कृष्टता का वर्णन करके फिर उसका इस प्रकार उल्लेख करना जिससे कि उसकी हीनता प्रतीत हो।

ये दोष शब्द, अर्थ और पद तीनों से ही सम्बन्धित हैं और गद्य तथा पद्य दोनों में ही प्राप्त किये जा सकते हैं। आधुनिक गद्य-पद्य के अध्ययन द्वारा और भी कुछ दोष निर्धारित किये जा सकते हैं, किन्तु स्थानाभाव के कारण हम उनका उल्लेख नहीं करेंगे। उपर्युक्त दोषों का साहित्यिक शैलियों में यथासम्भव परिहार किया जाना चाहिए।

अलंकार—अलंकार का भी भाषा-सौष्ठव और शैली के सौन्दर्य-वर्द्धन में विशेष उपयोग हो सकता है। काव्य में अलंकारों की उपादेयता पर पीछे विचार किया जा चुका है।

शैली के भेद—हमारे यहाँ शैलियों का भेद गुणों के आधार पर किया गया है, गुणों का उल्लेख और विवेचन हो चुका है। इन तीन गुणों के आधार पर और शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के संयोग से इस भेद को सब प्रकार से व्यवस्थित और पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है।

पाश्चात्य आचार्यों ने शैली के दो भेद किये हैं—प्रज्ञात्मक और रागात्मक। प्रज्ञात्मक शैली में मस्तिष्क की प्रधानता रहती है, और उसके अन्तर्गत प्रसाद और स्पष्टता की विशेष उपादेयता स्वीकार की जाती है। रागात्मक शैली में हृदय की प्रधानता होती है और उसमें ओज, करुणा तथा हास्य आदि की उद्भावना पर विशेष बल दिया जाता है।

लालित्य के विचार से शैली का एक और भेद भी स्वीकार किया गया है, जिसकी विशेषता माधुर्य, सस्वरता और कलात्मक विवेचन है। शैली के कुछ अन्य प्रकार से भी भेद किये जाते हैं जिनमें ये महत्त्वपूर्ण हैं—(१) चित्रात्मक शैली, (२) काव्यात्मक शैली, (३) मनोवैज्ञानिक शैली, (४) सानुप्रास शैली और (५) रसात्मक शैली।

चित्रात्मक शैली का प्रयोग अधिकतर वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक निबन्धों में होता है। इसमें उपमा, रूपक आदि सादृश्य-मूलक अलंकारों का अधिक प्रयोग किया जाता है। लेखक ऐसे शब्दों का आश्रय लेता है और इतना सजीव वर्णन करता है कि सम्पर्ण विवरण पाठक के सम्मुख साकार हो जाता है। काव्यात्मक शैली में लेखक भावों के उद्रेक पर अधिक बल देता है। उसके वर्णन या विवेचन में काव्य के गुणों की प्रधानता होती है। मनोविज्ञानिक शैली नीरस होती है, उसमें मन की सूक्ष्म अन्तर्वृत्तियों का बहुत विशद वर्णन रहता है। सानुप्रास शैली के अन्तर्गत अनुप्रास तथा तुकबन्दी की भरमार रहती है। रसात्मक शैली में विवेचन की रसात्मकता पर अधिक बल दिया जाता है। ऐसी शैली में लिखे गए निबन्ध इत्यादि पर्याप्त मार्मिक होते हैं।

कुछ आलोचकों ने अलंकारों के प्रयोग की दृष्टि से शैलीके यह दो भेद किये हैं—(१) अलंकार-युक्त शैली तथा (२) अलंकार-विहीन शैली। प्रथम में जहाँ अलंकारों का आधिक्य होता है, वहाँ द्वितीय में उनका अभाव। किन्तु ये भेद उपयुक्त नहीं समझे जाते। वाक्य-विन्यास के ढंग पर भी शैली के दो भेद किये गए हैं।—१. प्रसादपूर्ण शैली प्रवाहयुक्त, चित्रपूर्ण, चलती हुई और सुगम होती है। उसमें अलंकारों का भी आवश्यकतानुकूल प्रयोग किया जाता है। वाक्य इसमें छोटे, सरल और प्रसंगानुकूल होते हैं। ओज, प्रवाह और स्निग्धता इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। २. प्रयत्नपूर्ण शैली में वाक्यों की बनावट कृत्रिम परन्तु कलापूर्ण होती है। उसमें प्रवाह, ओज और हार्दिकता का प्रायः अभाव होता है।

इसी प्रकार वैयक्तिक दृष्टि से भी शैली के अनन्त भेद किये जा सकते हैं, किन्तु उनका यहाँ विवेचन नहीं किया जा सकता। हमारे विचार में तो आज की शैली मुख्य रूप से दो प्रकार की है, एक तो साहित्यिक और, दूसरी विज्ञानिक। इनके कुछ उपभेद भी हो सकते हैं। साहित्यिक शैली में रसात्मकता प्रवाह ओज इत्यादि साहित्यिक गुणों का समावेश रहता है, जबकि विज्ञानिक शैली में तथ्य-कथन और तार्किक विवेचन की प्रधानता रहती है। हिन्दी में आज हम इन दोनों प्रकार की शैलियों के उदाहरण पा सकते हैं।

१४. साहित्य का अध्ययन

साहित्य मुख्य रूप से एक वैयक्तिक कला है। वैयक्तिक आदर्श, अनुभूतियाँ और भावनाएँ साहित्य में सामूहिक रूप से जातीय आदर्शों और भावनाओं को अभिव्यक्त करती हैं। हम पीछे लिख आए हैं कि साहित्य का ऐसा कोई अंग

नहीं जिसमें कि साहित्यकार का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित न हो। वह जीवन की तथा विश्व की गम्भीर समस्याओं की विवेचना अपने दृष्टिकोण के अनुसार करता है। साहित्य में की गई जीवन की आलोचना अनासक्त भाव से नहीं की जाती। हाँ, यह सम्भव है कि साहित्यकार का दृष्टिकोण सर्वत्र मौलिक न हो, किन्तु वह दृष्टिकोण सर्वत्र उसके वैयक्तिक आदर्श और प्रेरणा से प्रभावित रहता है। वस्तुतः वह अपनी कलाकृति के प्रत्येक पृष्ठ पर व्याप्त रहता है, उसके निबन्ध, कविता अथवा कथा का प्रत्येक शब्द उसके हृदय से उद्‌बुद्ध होता है। अतः साहित्य का अध्ययन करते हुए हमारा सर्वप्रथम ध्यान साहित्यकार के व्यक्तित्व पर ही जायगा। उसके व्यक्तित्व का अध्ययन उसकी कलाकृतियों के समझने में पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकता है।

साहित्यकार के व्यक्तित्व का निर्माण उसकी मानसिक दशा के विकास, (Dovelopment), संस्कार तथा आस-पास की सामाजिक तथा देश-काल की परिस्थितियों से निर्मित होता है। वस्तुतः देश, काल तथा सामाजिक परिस्थितियाँ उसके आन्तरिक व्यक्तित्व, मानसिक दशा तथा संस्कार के निर्माण में सहायक होती है, उसकी स्रष्टा नहीं। अतः मानसिक दशा तथा संस्कारों का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए साहित्यकार के जीवन की परिस्थितियाँ और उसके युग की सामाजिक और देशीय स्थिति से परिचय प्राप्त करना चाहिए। दूसरे शब्दों में हमें साहित्यकार के जीवन-चरित से अवगत होना चाहिए। हमें यह जानना चाहिए कि उसके जीवन की प्राथमिक परिस्थितियाँ कैसी थीं, उसका जन्म समाज के किस वर्ग में हुआ, उसकी शिक्षा-दीक्षा किस वातावरण में सम्पन्न हुई तथा उसके मानसिक विकास में सहायक होने वाली कौन-कौन सी बड़ी घटनाएँ हुईं। साहित्यकार की आन्तरिक तथा बाह्य परिस्थितियों के ज्ञान के लिए हमें समाज-शास्त्र और मनोविज्ञान-शास्त्र से पर्याप्त सहायता प्राप्त हो सकती है।

साहित्य में अभिव्यक्त साहित्यकार के व्यक्तित्व के अनन्तर हमारा ध्यान उसकी कलाकृतियों में प्रतिपादित विषय पर जाता है। प्रतिपादित विषय का ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व हमें साहित्यकार के मानसिक विकास और उसके आदर्शों तथा जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण का ज्ञान उसकी रचनाओं के क्रमबद्ध अध्ययन द्वारा प्राप्त कर लेना चाहिए। क्योंकि समयानुक्रम और विकास-क्रम के अनुकूल किया गया उसकी रचनाओं का अध्ययन हमारे सामने उसके कला-कौशल, प्रतिपादित विषय और उसके आन्तरिक जीवन का एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत कर देगा। तदनन्तर हम साहित्य में प्रतिपादित विषय की उत्कृष्टता पर बहुत सुगमता से विचार कर सकते हैं। यद्यपि पाश्चात्य आचार्यों में साहित्य के मूल्यांकन में काव्य में

प्रतिपादित विषय को महत्त्व दिये जाने पर बहुत मतभेद है, क्योंकि क्रोचे आदि अभिव्यंजनावादियों का यह विश्वास है कि काव्य का उद्देश्य विषय का अभिव्यंजन है, और अभिव्यंजन की उत्कृष्टता पर ही साहित्य या काव्य की उत्कृष्टता का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। किन्तु आज यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा रहा है कि केवल अभिव्यंजन की रीति ही काव्योत्कर्ष की कसौटी नहीं हो सकती। साहित्य में प्रतिपादित विषय तथा आदर्श की उत्कृष्टता पर ही किसी भी कला-कृति की महत्ता अवलम्बित है। कबीर, सूर तथा तुलसी की बिहारी, देव तथा केशव से उत्कृष्टता उन द्वारा साहित्य में प्रतिपादित विषय की उत्कृष्टता तथा महत्ता पर ही अवलम्बित है।

विषय की महत्ता की क्या कसौटी हो सकती है? साहित्य में प्रतिपादित विषय यदि क्षणिक न हो, वह किसी एक युग से बँधा न हो, वह यदि युग-युगान्तर तक मानव-हृदय के लिए आकर्षण का केन्द्र हो और उसमें आनन्द तथा प्रेरणा प्रदान करता रहता हो तो वह विषय निश्चय ही उत्कृष्ट और महान् कहा जायगा। यह महान् और अमर विषय मानव-जीवन की शाश्वत वृत्तियों—हर्ष, शोक, प्रेम, विरह, क्रोध, स्नेह, आश्चर्य, जिज्ञासा, ममता तथा उत्साह इत्यादि—पर अवलम्बित होता है जो कि युग-युगान्तरों में सदा-सर्वदा एक रूप में ही वर्तमान रहती हैं, और जो मानव की संवेदनशीलता और चेतन-सम्पन्नता की परिचायिका हैं।

काव्यकार या साहित्यकार के साहित्य में अभिव्यक्त आदर्श, अनुभूतियाँ तथा भावनाएँ यद्यपि उसकी अपनी होती हैं और वे उसके देश की संस्कृति,सभ्यता तथा परिस्थितियों से प्रभावित होती हैं तथापि उसकी उत्कृष्टता इसी बात पर अवलम्बित होती है कि वह सब युगों में, सब देशों में सर्वसाधारण के लिए समान रूप से ही प्रेरणाप्रद तथा आनन्दप्रद हो। संक्षेप में काव्य का विषय मानव की चिरन्तन वृत्तियों से तो सम्बन्धित हो ही, साथ ही उसमें एकराष्ट्रीयता के स्थान पर विश्व-मानवता का चित्रण भी होना चाहिए।

साहित्य में प्रतिपादित विषय की उत्कृष्टता उसमें अभिव्यक्त उच्चादर्श, महान् आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन तथा विराट् भाव-सौन्दर्य पर भी आधारित होता है। साहित्य में प्रतिपादित विषय के अनन्तर हमारा ध्यान साहित्यकार की विषय-प्रतिपादन-शैली पर जाता है। किसी भी कवि या साहित्यकार की रचना-शैली का अध्ययन साहित्य के अध्ययन में उतना ही सहायक हो सकता है जितना कि साहित्यकार के व्यक्तित्व और उसके द्वारा प्रतिपादित विषय का अध्ययन। प्रत्येक कवि या साहित्यकार की शैली उसके व्यक्तित्व की विशेषताओं

से युक्त होती है और हम उस द्वारा रचित उसके पद्य, कथा या निबन्ध के किसी भी एक अंश को सुनकर या पढ़कर उसकी शैली पहचान लेंगे। प्रत्येक लेखक की विचाराभिव्यक्ति की शैली, उसका प्रत्येक पद, वाक्य-खण्ड तथा शब्द-योजना इत्यादि उसकी रुचि के अनुरूप होती है। एक प्रतिभा-सम्पन्न लेखक बार-बार प्रतिपादित विषय को भी अपनी विशिष्ट रचना-शैली द्वारा नवीन बना लेता है। शैली के आवश्यक गुणों का परिचय हम संक्षेप से पीछे दे आए हैं, यहाँ हम इतना बतला देना आवश्यक समझते हैं कि साहित्य के सम्यक् अध्ययन के लिए शैली का अध्ययन भी आवश्यक है।

साहित्य का अध्ययन करते हुए साहित्य के उपर्युक्त अंगों की विशेष समीक्षा करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त साहित्यकार के प्रति हमारे मन में यदि श्रद्धा न हो तो कम-से-कम सहानुभूति तो अवश्य होनी ही चाहिए, तभी हम लेखक से वैयक्तिक सम्बन्धों की स्थापना करके उसके साहित्य का सम्यक् अध्ययन कर सकेंगे।

१५. साहित्य के विविध रूप

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य के विविध रूप इस प्रकार निश्चित किये गए हैं—
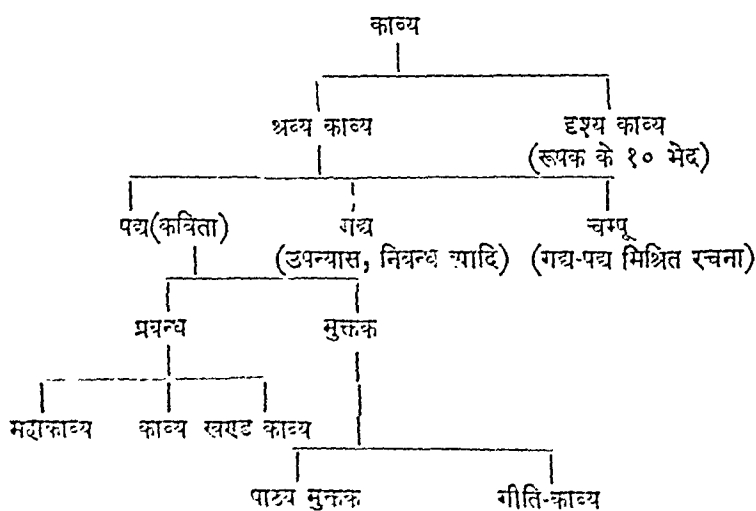
अगले अध्यायों में साहित्य के इन्हीं भेदों की क्रमशः विवेचना की जायगी।

दो कविता

१. पद्य तथा गद्य

प्राचीन आचार्यों ने काव्य के दो मुख्य भेद किये हैं—(१) श्रव्य काव्य तथा (२) दृश्य काव्य। जिसे कानों से सुनकर आनन्द की प्राप्ति हो, वह श्रव्य काव्य है, और जिस काव्य को अभिनीत रूप में देखकर आनन्द की प्राप्ति हो वह दृश्य काव्य कहलाता है। प्राचीन काल में मुद्रण-कला के अभाव में काव्य-रस के पिपासु-जन सुन-सुनाकर काव्य-रस का आस्वादन करते थे। इसी कारण तत्कालीन परिस्थितियों के प्रभाव स्वरूप ही काव्य की इस विधा का नाम श्रव्य काव्य रखा गया। वर्तमान युग में मुद्रण-यन्त्रों से प्राप्त सुविधा के कारण काव्य पढ़कर भी काव्य-रस का उपभोग किया जा सकता है। दृश्य काव्य का सम्बन्ध मुख्य रूप से रंगमंच से है, जिसमें नट विभिन्न चरित्र-नायकों के अभिनय द्वारा दर्शकों के हृदय को रसाप्लावित करते हैं। आज दृश्य काव्य भी श्रव्य काव्य के समान पढ़े तथा सुने जा सकते हैं। परन्तु निश्चय ही इनका सम्बन्ध मुख्य रूप से रंगमंच से है।

श्रव्य काव्य के आकार के आधार पर तीन मुख्य भेद किये गए हैं—(१) गद्य, (२) पद्य, तथा (३) चम्पू। कविता मुख्य रूप से पद्य से ही सम्बन्धित है, अतः कविता की विवेचना के अन्तर्गत केवल पद्यबद्ध साहित्य को ही गृहीत किया जायगा।

यद्यपि साहित्य को या कला को एक अखण्ड अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार कर लेने पर गद्य तथा पद्य में किसी वैज्ञानिक आधार पर भेदोपभेद उपस्थित नहीं किया जा सकता, तथापि स्वाभाविक सुविधा के लिए और शब्दों के स्पष्ट प्रयोग को हृदयंगम करने के लिए ऐसा आवश्यक ही है। गद्य तथा पद्य के भेद को हम स्थूल रूप से इस प्रकार रख सकते हैं—

१. गद्य शब्द की उत्पत्ति 'गद्' धातु से हुई है, और उसका सम्बन्ध साधारण जन की बोल-चाल से रहता है। पद्य का सम्बन्ध 'पद्' धातु से है, इसका कारण

उसमें नृत्य की-सी गति रहती है। गद्य में यति इत्यादि का नियम नहीं माना जाता।

२. गद्य में प्रायः बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता रहती है, जब कि पद्य में भाव-तत्त्व की।

३. भावों की प्रधानता के फलस्वरूप पद्य में गद्य की अपेक्षा संगीतात्मकता प्रधानता रहती है। ताल, लय और छन्द पद्य में अधिकांश पाये जाते हैं। आधुनिक काल की स्वच्छन्द कविताएँ भी ताल और लय से हीन नहीं, और इसी कारण वह गद्य नहीं।

इन भेदों के होते हुए भी अनेक स्थलों पर गद्य भी ताल, लय तथा अलंकार इत्यादि सामग्री से युक्त होकर अत्यन्त चित्ताकर्षक और रसपूर्ण दशा में उत्कृष्ट पद्य के सदृश बन जाता है, और अनेक स्थलों पर छन्द और ताल से युक्त ऐसे पद्य भी मिल जाते हैं जो कि भाव तथा रसहीनता के कारण गद्यवत् प्रतीत होते हैं। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' गद्य में होती हुई भी लय, ताल तथा अलंकार इत्यादि चमत्कारपूर्ण सामग्री से युक्त होकर उत्कृष्ट पद्य को भी पद्य-गुणों की दृष्टि से पीछे छोड़ जाती है। द्विवेदी युग के अधिकांश कवियों की कविताएँ रसहीन छन्दोबद्ध गद्य के सदृश ही हैं। इस अपवाद की उपस्थिति में भी पद्य संगीतात्मकता, ताल तथा लय से युक्त होकर गद्य से स्पष्ट रूप में पृथक् जा पड़ता है। भावों की प्रधानता के फलस्वरूप पद्य में एक स्वाभाविक प्रवाह, गति और शक्ति आ जाती है, जो कि गद्य में अप्राप्य होती है।

२. कविता का लक्षण

साहित्य की भाँति कविता के लक्षणों की भी कमी नहीं, अनेक आचार्यों तथा विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार कविता की परिभाषा लिखी है। सुप्रसिद्ध अंग्रेज कवि तथा आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड ने लिखा है: कविता मूल में जीवन की आलोचना है।[१]

वर्ड्सवर्थ का कहना है कि कविता शान्ति के समय स्मरण की हुई उत्कट भावनाओं का सहजोद्रेक है।[२]

अंग्रेज कवि ले हण्ट (Leigh Hunt) ने लिखा है : कविता सत्य, सौंदर्य, तथा शक्ति के लिए होने वाली वृत्ति का मुखरण है, यह अपने-

१. Poetry is at bottom a criticism of life.

२. Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollected in tranquility.

आपको प्रत्यय, कल्पना तथा भावना के आधार पर खड़ा करती और निर्दिष्ट करती है। यह भाषा को विविधता तथा एकता के सिद्धान्त पर स्वर-लय-सम्पन्न करती है।[१]

प्रसिद्ध अंग्रेज कवि कॉलरिज (Coleridge) लिखता है : कविता उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम-विधान है।[२]

मिल्टन (Milton) ने कविता को सरल, प्रत्यक्षमूलक और रागात्मक कहा है।[3]

आचार्य जॉनसन (Johnson) के विचार में कविता छन्दोमय रचना है।[४] अन्यत्र साहित्य के विभिन्न तत्त्वों का सम्मिश्रण करते हुए जॉनसन लिखता है कि : कविता सत्य तथा प्रसन्नता के सम्मिश्रण की कला है, जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार प्रसिद्ध कवि शैले ने लिखा है : कविता स्फीत तथा सर्वोत्तम आत्माओं के परिपूर्ण क्षणों का लेखा है।

इसी प्रकार हैजलिट (Hazlitt), कार्लाइल (Carlyle), मेकाले (Macaulay) तथा रस्किन (Ruskin) इत्यादि अनेक विद्वानों तथा आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार काव्य की परिभाषाएँ की हैं।

भारतीय दृष्टिकोण—बहुत प्राचीन काल से ही इस देश में भी कविता के स्वरूप-निर्धारण का प्रयत्न किया गया है, और अनेक आचार्यों तथा श्रेष्ठ विद्वानों ने कविता का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन करके उसके अनेक लक्षण अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार प्रस्तुत किये हैं। कविता के लिए काव्य शब्द को समान रूप से प्रयुक्त करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने रसयुक्त वाक्य को काव्य स्वीकार किया है, तो पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीयार्थ प्रतिपादक वाक्य को काव्य कहा है।

आधुनिक समय में हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल कविता का रूप निर्धारित करते हुए लिखते हैं : जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की वह मुक्तावस्था

---

१. The utterance of passion for truth, beauty, and power, embodying and illustrating its conceptions by imagination and fancy, and modulating its language on the principles of variety in unity.

२. Poetry is the best words in the best order.

३. Poetry should be simple, sensuous and passionate.

४. Poetry is meterical composition.

रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती है उसे कविता कहते हैं। सुश्री महादेवी वर्मा लिखती हैं : कविता कवि विशेष की भावनाओं का चित्रण और वह चित्रण इतना ठीक है कि उससे वैसी ही भावनाएँ किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत हो जाती हैं।

इस प्रकार के अनेक लक्षणों से यहाँ अनेक पृष्ठ भरे जा सकते हैं, परन्तु क्या हम इनसे कविता के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे, यह विचारणीय है। वास्तव में उपर्युक्त लक्षण हमें कविता के वास्तविक स्वरूप से परिचित कराने में असमर्थ हैं। क्योंकि कविता के विभिन्न तत्त्वों और उपकरणों में से किसी एक को लेकर ही उपर्युक्त लक्षण निर्धारित किये गए हैं, वे कविता को सम्पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर सकते। कविता के स्वरूप-ज्ञान के लिए हमें यह निर्णय करना चाहिए कि कविता क्या वस्तु है और कविता का निर्माण किन विभिन्न तत्त्वों से हुआ है?

३. कविता क्या है?

यहाँ कविता के लक्षण-निर्धारण से पूर्व उसके स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए। कविता क्या है? इस प्रश्न का उत्तर उपर्युक्त लक्षणों में अपने-अपने ढंग से दिया गया है। परन्तु उपर्युक्त लक्षण एकांगी हैं, क्योंकि वे अधिकतर प्रशंसात्मक हैं, अतः कविता का यथातथ्य स्वरूप-ज्ञान कराने में सर्वथा असमर्थ हैं।

साहित्य-शास्त्र के विद्यार्थी के रूप में हमें इन विभिन्न लक्षणों, उनके गुण-दोषों तथा आदर्शों के झंझट में न पड़ते हुए कविता के वास्तविक स्वरूप का निर्णय करना चाहिए। 'साहित्य' के प्रकरण में हम यह लिख चुके हैं कि पाश्चात्य विद्वान् विंचेस्टर ने काव्य के मूल में चार प्रमुख तत्त्वों की सत्ता को स्वीकार किया है—(१) भाव-तत्त्व (Emotional Element), (२) बुद्धि-तत्त्व (Intellectual Element), (३) कल्पना-तत्त्व (The Element of Imagination) तथा (४) रचना-तत्त्व (The Eliement of style)। कविता में भी इन्हीं तत्त्वों की आवश्यकता है और इनके आधार पर ही इसका रूप निर्धारित किया जाता है। जीवन की विभिन्न अनुभूतियों, भावनाओं तथा आदर्शों की अभिव्यक्ति का लिपिबद्ध रूप ही साहित्य कहा गया है। अथवा जैसा कि मैथ्यू आर्नल्ड ने साहित्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए लिखा है कि साहित्य जीवन की व्याख्या है, कविता साहित्य का एक अभिन्न अंग है। जीवन की व्याख्या में साहित्य की यह विधा किस विशिष्ट प्रकार को अपनाती है?

साहित्य की अन्य विधाओं में और कविता में क्या अन्तर है? यह प्रश्न विचारणीय है, और इन्हीं के उत्तर कविता का स्वरूप निर्धारित करने में सहायक हो सकते हैं।

कविता में भावात्मकता तथा कल्पना की प्रधानता रहती है। जीवन की अनुभूतियों, आदर्शों तथा तथ्यों के वर्णन में कवि की दृष्टि भावपूर्ण तथा कल्पनापूर्ण होती है। इस प्रकार जीवन की प्रत्येक वस्तु, भाव तथा अनुभूति को भावनात्मक तथा चित्ताकर्षक बनाकर कवि अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा वास्तविक अथवा वायवी, नगण्य तथा अस्तित्व-शून्य पदार्थों को भी मूर्त बनाकर नाम और ग्राम प्रदान करता है। वास्तव में कवि अनुभूति, भाव तथा कल्पना द्वारा ही जीवन की व्याख्या करता है।

इस प्रकार कल्पना तथा भाव कविता के प्रमुख तत्त्व कहे जा सकते हैं। परन्तु कोई भी रचना केवल कल्पनात्मक तथा भावात्मक होने के कारण कविता नहीं कहला सकती। क्योंकि गद्य के अनेक ऐसे उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो कि कल्पना, भाव तथा चमत्कार की दृष्टि से किसी भी उत्कृष्ट कल्पना तथा भाव-तत्त्व से परिपूर्ण पद्य से कम नहीं हो सकते। संस्कृत का अमर ग्रन्थ बाणभट्ट की 'कादम्बरी' भाव, कल्पना तथा चमत्कार से पूर्ण होनेके कारण उपर्युक्त तत्त्वों के आधार पर कविताके अन्तर्गत गृहीत किया जा सकता है। अतः कल्पना तथा भाव कविता के प्रमुख तत्त्व अवश्य कहे जा सकते हैं, और इनके अभाव में कोई भी कविता कविता नहीं कहला सकती। किन्तु केवल इन्हीं दो तत्त्वों के आधार पर किसी भी साहित्यिक रचना को कविता नहीं कहा जा सकता। वास्तव में जिस किसी रचना में उक्त सभी विशेषताएँ होती हैं, वह साहित्य का मूल्य तो बढ़ाती ही है, साथ ही उससे उसकी वास्तविक स्थिति का ज्ञान भी हमें हो जाता है।

कवित्वपूर्ण गद्य से पार्थक्य प्रदर्शन करने के लिए कविता में कल्पना तथा भाव के साथ-साथ रागात्मकता होनी चाहिए। अतः भाव तथा कल्पना का छन्दोबद्ध वर्णन ही दूसरे शब्दों में कविता कहला सकता है। छन्द तथा लय-शून्य भाव तथा कल्पनापूर्ण साहित्यिक रचना गद्य के अन्तर्गत गृहीत की जायगी। भाव तथा कल्पना-शून्य छन्दोबद्ध रचना पद्यात्मक गद्य कहलायगी। इस प्रकार भाव तथा कल्पनापूर्ण 'कादम्बरी' का गद्य और ज्योतिष, गणित तथा आयुर्वेद आदि की छन्दोबद्ध संस्कृत रचनाएँ कविता नहीं कही जा सकती। भाव तथा कल्पना वास्तव में यदि कविता की आत्मा हैं तो छन्द शरीर। आत्मा-शून्य शरीर मृत होता है, और शरीर के बिना आत्मा का सांसारिक रूप में अस्तित्व कठिन है।

४. छन्द, लय तथा कविता

पहले हमने भाव तथा कल्पनापूर्ण छन्दोबद्ध रचना को कविता कहा है। छन्दों की इस महत्ता के कारण अनेक आलोचक कविता के इस लक्षण को त्रुटिपूर्ण बतला सकते हैं, क्योंकि आज बलपूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है कि बिना छन्दों का आश्रय ग्रहण किये भी उत्कृष्ट कविता की रचना हो सकती है। सुप्रसिद्ध अंग्रेज कवि कालरिज कहता है कि अत्युत्तम कविता भी छन्दों के बिना हो सकती है।[1] रस्किन ने भी गद्य तथा पद्य दोनों को ही कविता के लिए उपयुक्त माना है। इसी प्रकार सर फिलिप सिडनी इत्यादि ने भी उपर्युक्त कथन का ही समर्थन किया है।

ऐसी अवस्था में छन्द तथा कविता के सम्बन्धों पर उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार यहाँ विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा। कविता पद्यात्मक रचना है, और पद्य और छन्द का सम्बन्ध बहुत पुराना है, परन्तु आकस्मिक नहीं; जैसा कि कुछ आलोचकों का विचार है। मनोवैज्ञानिक रूप से इस विषय पर विचार करने के अनन्तर इस विषय के विशेषज्ञ इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि कवि की भावनाओं और छन्दों का आकस्मिक सम्मिलन नहीं हुआ, अपितु स्वाभाविक रूपेण प्रकृति के वशीभूत हुआ कवि ही इस ओर अग्रसर हुआ है। भाव तथा कल्पनापूर्ण गद्य में हम इसी रागात्मिका प्रवृत्ति का आभास पाते हैं। इस प्रकार का गद्य छन्दोमयता को स्पष्ट अभिव्यक्त करता है। मनुष्य भावावेश की अवस्था में निश्चय ही अपने भावों की अभिव्यक्ति रागात्मक रूप में करता है।

लय तथा ताल से युक्त गद्य कविता के अन्तर्गत गृहीत नहीं किया जा सकता, परन्तु आज हिन्दी में मुक्त छन्द के अन्तर्गत की गई कविताएँ छन्द-हीन होती हुई भी कविताएँ ही कही तथा मानी जाती हैं। इसका कारण यह है कि गद्य तथा पद्य का मुख्य भेद बुद्धि और हृदय की क्रिया का है। गद्य में बुद्धि की प्रधानता होती है, और पद्य में हृदय की। आधुनिक मुक्तक छन्द की कविताएँ प्राचीन बन्धनों के नवीन संस्करण से युक्त हैं, लय का बन्धन छन्द के बन्धन से कम नहीं; और मुक्तक छन्द की कविताएँ लय-शून्य नहीं।

छन्द के विरोधियों का सबसे बड़ा तर्क यह है कि छन्द एक बाह्य संस्कार है उसका अपना कोई स्वतन्त्र नहीं, और यह ऊपर से आरोपित किया गया है।

परन्तु यह एक भ्रम-मात्र है, वास्तविकता तो यह है कि छन्द भी कवि के अन्तर्जगत् की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, जिस पर नियम का बन्धन आरोपित कर दिया गया है। कवि की स्वाभाविक अनुभूति के लिए वह एक बँधा हुआ साँचा नहीं, क्योंकि त्येक कवि या कलाकार अपनी स्वाभाविक प्रकृति के अनुसार नवीन छन्दों की उद्भावना भी कर सकता है। कुछ आलोचक या कवि कविता-कामिनी को छन्दों से मुक्त कराने का प्रयत्न अवश्य कर सकते हैं, परन्तु कविता-प्रेमियों की एक बहुत बड़ी संख्या छन्दोबद्ध कविता से प्राप्त आनन्द को अवश्य स्वीकार करती है। छन्दों की सहायता से ही कविता वास्तव में गद्य की अपेक्षा मानव-हृदयके अधिक निकट है और वह उसे रसाप्लावित करनेमें समर्थ हो सकती है। कवि वास्तव में स्वाभाविक रूप से अपनी भावनाओं और कल्पनाओं की पूर्ण तथा सुष्ठु अभिव्यक्ति के लिए अभिव्यक्ति के इस ढंग को ग्रहण करता है। मिल का यह कथन स्वाभाविक और सत्य है कि **मनुष्य में मनुष्यत्व के बोध के साथ ही अपनी कोमल कल्पनाओं को छन्दोमयी भाषा में अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति प्राप्य है। यह अनुभूतियाँ जितनी ही गम्भीर होंगी छन्द-रचना भी उतनी ही पूर्ण और परिपक्व होगी।**[1]

पद्य केवल गद्य के रूप मे भी प्रयुक्त किया जा सकता है, परन्तु ऐसा होना नहीं चाहिए। इसी प्रकार भाव तथा कल्पनात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का साधन गद्य भी हो सकता है, परन्तु उसका वास्तविक क्षेत्र पद्य ही है। कविता में उसके स्वाभाविक गुण की स्थापना के लिए छन्द या लय का बन्धन आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य भी है।

५. कविता के दो पक्ष

कविता का मुख्य आधार भाव है, और भावों की अभिव्यक्ति का साधन भाषा। इन्हीं दो तत्त्वों के आधार पर काव्य तथा कविता के दो पक्षों—भाव पक्ष तथा कला पक्ष—का प्रादुर्भाव हुआ है। कलाकार भाव, कल्पना तथा बुद्धि आदि के द्वारा जो-कुछ पाठक अथवा श्रोता के सम्मुख रखता है वही कविता के भाव-पक्ष का निर्माण करते हैं। यह भाव ही कविता की आत्मा कहलाते हैं। इस आत्मा के प्रकटीकरण का जो साधन है वह भाषा है, और उसे ही कला पक्ष के अन्तर्गत गृहीत किया जाता है। भाषा काव्य का शरीर है।

१. Ever since man has been man all deep and sustained feel ing has tended to express itself in rhythmical language, and deeper the feeling and the more the characteristic and decided the rhythm

भाव पक्ष—भाव पक्ष के अन्तर्गत साहित्य तथा कविता का सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय गृहीत किया जा सकता है। भाव क्या है? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस प्रकार दिया है : **भाव का अभिप्राय साहित्य में केवल तात्पर्य बोध-मात्र नहीं है, बल्कि वह वेगयुक्त और जटिल अवस्था विशेष है, जिसमें शरीर-वृत्ति और मनोवृत्ति दोनों का ही योग रहता है। क्रोध को ही लीजिए, उसके स्वरूप के अन्तर्गत अपनी हानि या अवमान की बात का तात्पर्य-बोध, उग्र वचन और कर्म की प्रवृत्ति का वेग तथा त्यौरी चढ़ाना, आँखें लाल होना, हाथ उठाना, ये सब बातें रहती हैं।** इसी प्रकार अनेक शरीर तथा धर्म-शास्त्रियों और मनोविज्ञान-शास्त्रियों ने भी भावों की अनेकरूपता को अनुभव करते हुए उनकी विविध प्रकार से समीक्षा तथा परीक्षा करने का प्रयत्न किया है।

कविता का सम्बन्ध मानव के अन्तर्तम के सम्पूर्ण भाव-जगत् से है, वह भाव-जगत् वाह्य तथा आन्तरिक परिस्थितियों से प्रभावित होता हुआ विभिन्न रूप धारण करता रहता है, उसमें इतनी अनेकरूपता विद्यमान रहती है कि उसकी न तो कोई सीमा ही निर्धारित की जा सकती है, और न गणना ही। यही कारण है कि साहित्य के भाव पक्ष का प्रकाशन अत्यन्त कठिन है। प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने भी साहित्य के भाव पक्ष की पृथक्-विवेचना नहीं की। परन्तु भावों के परिमार्जन और परिष्कार के लिए उन्होंने साहित्यकार को विस्तृत शास्त्रीय अध्ययन का आदेश अवश्य दिया है। पाश्चात्य आचार्यों ने भाव पक्ष की पुष्टि के लिए निम्न लिखित तत्त्वों की आवश्यकता स्वीकार की है—

१. कल्पना-तत्त्व (The element of Imagination) २. बुद्धि-तत्त्व (The intellectual Element) तथा ३. भाव-तत्त्व (The element of Emotion)।[1]

कविता में भावों के सम्यक् परिपाक के लिए इन तीनों तत्त्वों की समान आवश्यकता है, किसी भी एक तत्त्व के अभाव में भाव पक्ष निर्बल हो सकता है। भारतीय आचार्यों ने भावों को रसों के अन्तर्गत गृहीत करते हुए उनकी विशद विवेचना की है। शृङ्गार, वीर आदि रसों तथा रति, शोक, मोह आदि स्थायी तथा संचारी भावों का विवेचन रसों के अन्तर्गत किया जा चुका है।

---

१. इन तत्त्वों के विस्तृत विवेचन के लिए 'साहित्य' प्रकरण में पृष्ठ ५ पर देखें।

कला पक्ष—भाव पक्ष को यदि काव्य की आत्मा स्वीकार किया जाता है तो कला पक्ष को उसका शरीर। मानव-मन के विविध भावों की विविध ढंग से की गई अभिव्यक्ति द्वारा ही कलाओं की सृष्टि होती है। भाषा में की गई मानव-भावनाओं की अभिव्यक्ति ही काव्य कहलाती है। चित्रपट पर तूलिका द्वारा अभिव्यक्त मानव-भावना चित्र-कला कहलाती है। भाषा साहित्य में भावाभिव्यक्ति का एक-मात्र माध्यम है। भावाभिव्यक्ति का यह माध्यम रूपी शरीर अपुष्ट, कुरूप तथा बेढंगा होगा तो भाव रूपी आत्मा का प्रकाशन कभी भी ठीक-ठीक रूप में नहीं हो सकेगा। कविता मुख्य रूप से शब्द की साधना है। भाव तो प्रत्येक कविता के मूल में वर्तमान रहते हैं, परन्तु उन्हें भाषा का स्वरूप देकर रीति, अलंकार, माधुर्य तथा ओज आदि गुणों से युक्त करके चमत्कारपूर्ण तथा रसमय बना देना कला-पक्ष का ही काम है।

कवि की भाषा साधारण जन की भाषा से भिन्न होती है, क्योंकि अनेक अमूर्त और वायवी तथ्यों तथा कल्पनाओं के प्रकटीकरण के लिए जन-साधारण की भाषा सर्वथा असमर्थ होती है। कवि कुछ ही शब्दों में मानव-मन की गहन तथा गम्भीर अनुभूतियों को इस रूप में अभिव्यक्त करता है कि वह मूर्त्त रूप में हमारे सामने उपस्थित हो जाती हैं। भाषा की यह मूर्तिमत्ता ही कविता के कला पक्ष की एक प्रधान विशेषता है। जन-सामान्य की व्यावहारिक भाषा से भिन्न होने के कारण कवि की भाषा असाधारण, चमत्कृत, परिष्कृत, परिमार्जित तथा सुसम्पन्न होती है। प्रकृति के प्रत्येक रूप में वृक्षों के कोमल पल्लवों, पक्षियों के सुमधुर कलरवों, तथा सागर के वक्ष पर विलास करती हुई लहरों में तथा एकान्त वन में सदा व्याप्त रहने वाला मधुर संगीत कवि की भाषा में स्वयं ही मुखरित हो उठता है। भाषा में संगीतमय प्रवाह का होना आवश्यक है।

कवि या साहित्यकार अपनी भाषा में कभी भी अनावश्यक शब्दों को नहीं आने देगा। थोड़े-से शब्दों में जीवन के मार्मिक तत्त्वों को अभिव्यक्त कर देने की क्षमता कवि की भाषा में आवश्यक है। दूसरे शब्दों में साहित्यिक संक्षेप कविता के कला पक्ष की एक प्रमुख विशेषता है। वास्तविकता तो यह है कि सच्चे कवि के सम्मुख ऐसे शब्द अपने-आप ही आ उपस्थित होते हैं जो कि **देखन में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर।**

भाषा की इस व्यापकता के लिए ही भारतीय आचार्यों ने अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों का विस्तृत विवेचन किया है। थोड़े शब्दों में बहुत की व्यंजना ही कविता के कला पक्ष की प्रमुख विशेषता है। भाषा की व्यंजना-शक्ति की इस प्रमुखता को स्वीकार करते हुए ही हमारे यहाँ कविता में

ध्वनि-सम्प्रदाय की स्थापना हुई है। भाषा की तीन शक्तियाँ मानी गई हैं—अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना। अभिधा से साधारण अर्थ का ज्ञान होता है, लक्षणा साधारण अर्थ से उत्पन्न बाधा का शमन करके नवीन अर्थ का ज्ञान करवाती है, व्यंजना में शब्द से सांकेतिक अर्थ को ग्रहण किया जाता है। इन तीनों शक्तियों के अनेक भेदोपभेद हैं, जिनका विस्तृत विवेचन यहाँ अनावश्यक है। हाँ, यहाँ यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि लक्षणा तथा व्यंजना शक्तियाँ भाषा को सप्राण बनाने में बहुत सहायक होती हैं। इनका सम्बन्ध अर्थ से है, और इनके द्वारा अर्थ में चित्रोपमता और सजीवता आ जाती है।

हमारे आचार्यों ने काव्य के कला पक्ष के अन्तर्गत गुणों की सत्ता को भी स्वीकार किया है, यह गुण काव्य में रस के उत्कर्ष के हेतु माने गए हैं। आचार्यों में गुणों की संख्या-निर्धारण के विषय में मतभेद है। भरत तथा वामन[1] आदि आचार्यों ने तो शब्द तथा अर्थ के दस-दस गुण स्वीकार किये हैं, परन्तु भोज ने उनकी संख्या २४ स्वीकार की है। मम्मटाचार्य ने इन सम्पूर्ण गुणों को तीन मुख्य गुणों के अन्तर्गत ही सामाविष्ट करने का प्रयत्न किया है, यह तीन गुण हैं—१. माधुर्य, २. ओज तथा ३. प्रसाद।

इन तीनों का सम्बन्ध चित्त की तीन प्रमुख वृत्तियों से माना गया है। (१) माधुर्य का सम्बन्ध चित्त की द्रवणशीलता या पिघलाने से है, (२) ओज का चित्त को उत्तेजित करने से और (३) प्रसाद का चित्त को प्रसन्न कर देने से। माधुर्य तथा ओज का सम्बन्ध काव्य के विभिन्न तीन-तीन रसों से है, परन्तु प्रसाद का सम्बन्ध सभी रसों से माना जाता है।

कविता के लिए आवश्यक इन तीनों गुणों के उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

(१) माधुर्य

उदाहरण

रात शेष हो गई उमंग भरे मन में
आई ऊषा नाचती लुटाती कोष सोने का।
चाँदी रम्य चन्द्रमा लुटाता चला हँसता
और निशा रानी मोद-पूरिता मनोहरा
सीप जो लुटाती चली अंजलि में भर के।

(वियोगी)

---

१. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥

बिन्दु में थीं तुम सिन्धु अनन्त, एक सुर में समस्त संगीत।
एक कलिका में अखिल बसन्त धरा पर थीं तुम स्वयं पुनीत॥

(पन्त)

माधुर्य गुण क्रमशः संयोग से करुण में, करुण से वियोग में और वियोग से शान्त में अधिकाधिक अनुभूत होता है।

ट ठ ड ढ को छोड़कर 'क' से 'म' तक के वर्ण ङ, ञ, ण, न, म से युक्त वर्ण ह्रस्व र और ण समास का अभाव या अल्प समास के पद और कोमल, मधर रचना माधुर्य गुण के मूल हैं।

(२) ओज

उदाहरण

हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती
अमर्त्य वीर-पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो॥

(प्रसाद)

प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुदंड वीर,
धाए जातुधान, हनुमान लियो घेरिकै।
महाबल-पुञ्ज कुञ्जरारि ज्यों गरजि भट,
जहाँ-तहाँ पटके लंगूर फेरि-फेरि कै॥
मारे लात, तोरे गात, भागे जात, हाहा खात,
कहैं 'तुलसीस' 'राखिराम की सौं' टेरिकै॥
ठहरि ठहरि परे, कहरि कहरि उठैं,
हहरि हहरि हर सिद्ध हँसे हेरिकै॥

(तुलसीदास)

इन्द्र जिमि जृम्भ पर बाडव सुअंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल राज है।
पौन बारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है॥

दावा द्रुम दंड पर, चीता मृग-झुण्ड पर,
भूषण वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम-अंश पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥
(भूषण)

ओज गुण क्रमशः वीर से वीभत्स में और वीभत्स से रौद्र में अधिकाधिक अनुभूत होता है।

(३) *प्रसाद*

उदाहरण

छहरि-छहरि झीनी बूँदन परति मानो,
घहरि-घहरि छटा छाई है गगन में।
आय कह्यो स्याम मोसो चलौ आज झूलिबे को,
फूली न समाई ऐसी भई हौं मगन में॥
चाहति उठ्योई उड़ि गई सो निगोड़ी नींद
सोई गये भाग मेरे जागि वा जगन में।
आँखि खोल देखौं तो न घन हैं न घनस्याम
वेई छाई बूँदें मेरे आँसू ह्वै दृगन में॥
(देव)

मिल गए प्रियतम हमारे मिल गए
यह अलस जीवन सफल ही हो गया
कौन कहता है जगत् है दुःखमय
यह सरस संसार सुख का सिन्धु है।
(प्रसाद)

सिखा दो ना हे मधुप-कुमारि, मुझे भी अपना मीठा गान।
कुसुम के चुने कटोरों से करा दो ना कुछ-कुछ मधु पान॥
(पन्त)

प्रसाद गुण सभी रसों तथा रचनाओं में व्याप्त रह सकता है। ऐसे सरल तथा सुबोध शब्द, जिनके श्रवण-मात्र से ही अर्थ की प्रतीति हो, प्रसाद गुण के व्यंजक कहे जाते हैं।

उपर्युक्त तीनों गुणों की उत्पत्ति के लिए शब्दों की बनावट भी तीन प्रकार की मानी गई है, इसे वृत्ति कहते हैं। यह वृत्तियाँ गुणों के अनुरूप मधुरा, परुषा तथा प्रौढ़ा कहलाती हैं। इन्हीं तीन गुणों और वृत्तियों के आधार पर

काव्य-रचना की तीन रीतियाँ मानी गई हैं—१. वैदर्भी, २. गौड़ी तथा ३. पांचाली।

१. वैदर्भी—माधुर्य-व्यंजक वर्णों से युक्त तथा समास रहित ललित रचना वैदर्भी वृत्ति कहलाती है।

उदाहरण

अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू।
सुकृत संभु तनु विमल विभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती।
जन-मन-मंजु-मुकुर-मल-हरनी। किये तिलक गुन-गन-बस-करनी।

(तुलसीदास)

आई मोद पूरिता सोहागवती रजनी,
चाँदनी का आँचल सम्हालती सकुचाती,
गोद में खिलाती चन्द्र चन्द्र-मुख चूमती,
झिल्ली-रव-गूँज चली मानो वनदेवियाँ
लेने को बलैयाँ निशा-रानी के सलोने की।

(वियोगी)

२. गौड़ी—ओज अथवा तेज को प्रकाशित करने वाले वर्णों से युक्त बहुत से समास तथा आडम्बरों से बोझल उत्कट रचना गौड़ी रीति के अन्तर्गत गृहीत की जाती है।

उदाहरण

जागो फिर एक बार
उगे अरुणाचल में रवि,
आई भारती रति कवि कण्ठ में
पल-पल में परिवर्तित होते रहते प्रकृति-पट
जागो फिर एक बार
प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें
अरुण पंख तरुण किरण
खड़ी खोल रही द्वार
जागो फिर एक बार।

(निराला)

यह देख, पेट की आग देख।
इन डसे मुखों का झाग देख।
अपनी माँ के रज से पैदा,

अपनी बेशर्मी से नंगे,
तू ये डाँगर दो टाँग देख।
फिर अपनी चिकनी माँग देख।
ओ कलम-कुशल, ओ व्यंग्य-प्राण।
जिसने देखा हिन्दोस्तान,
हरियाली में देखे हैं
भूखे सूखे किसान
वह गाये कैसे प्रणय-गान ?

३. *पांचाली*—दोनों से बचे हुए वर्णों से युक्त पाँच या छः पद के समास वाली रचना पांचाली कहलाती है।

उदाहरण

इस अभिमानी अंचल में फिर अंकित कर दो विधि अकलंक।
मेरा छीना बालापन फिर करुण लगा दो मेरे अंक॥

(पन्त)

विभिन्न रसों में विभिन्न गुणों और वृत्तियों का उपभोग संगत होगा, निम्नलिखित तालिका इनके पारस्परिक सम्बन्ध को विशेष रूप से स्पष्ट कर देगी—

गुण	वृत्ति	रीति	उपयुक्त रस
माधुर्य	मधुरा	वैदर्भी	शृङ्गार, करुण, शान्त
ओज	परुषा	गौड़ी	वीर, रौद्र व वीभत्स
प्रसाद	प्रौढ़ा	पांचाली	सभी रस समान

कविता की भाषा की इन विशेषताओं के अतिरिक्त उसकी भाषा में व्यवस्था, संवादिता—प्रसंगानुकूल उचित भाषा का प्रयोग—प्राकृतिकता, प्राकृतिक स्वाभाविकता, यथार्थता इत्यादि गुणों का भी अवश्य समावेश होना चाहिए।

कविता के कला पक्ष की पुष्टि के लिए अलंकार भी प्रमुख साधन हैं, नारी के शारीरिक सौन्दर्य की वृद्धि के लिए जिस प्रकार विभिन्न आभूषणों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार कविता-कामिनी के रूप-विलास के लिए भी अलंकारों की उपादेयता स्वीकार की जाती है। परन्तु अलंकार शब्द तथा अर्थ के अस्थिर धर्म हैं, अर्थात् उनके बिना भी काव्य के सौन्दर्य में कमी नहीं आती।

कविता के इन दो विभिन्न पक्षों के अध्ययन के अनन्तर हमें यह सदा

ध्यान में रखना चाहिए कि कविता के कला पक्ष तथा भाव पक्ष में अखण्ड ऐक्य विद्यमान रहता है। निश्चय ही शरीर से आत्मा की श्रेष्ठता सभी को मान्य है, परन्तु शरीर का भी अपना स्वतन्त्र महत्त्व है। कविता के कला पक्ष की सुन्दर विवेचना करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर लिखते हैं : पुरुष के दफ्तर जाने के कपड़े सीधे-सादे होते हैं। वे जितने ही कम हों, उतने ही कार्य में उपयोगी होते हैं। स्त्रियों की वेश-भूषा, लज्जा-शर्म, भाव-भंगी आदि सब ही सभ्य समाजों में प्रचलित हैं, स्त्रियों का कार्य हृदय का कार्य है। उनको हृदय देना और हृदय को खींचना पड़ता है। इसीलिए बिलकुल सरल, सीधा-सादा और नपा-नपाया होने से उनका कार्य नहीं चलता। पुरुषों को यथायोग्य होना आवश्यक है, किन्तु स्त्रियों को सुन्दर होना चाहिए। मोटे तौर से पुरुषों के व्यवहार का सुस्पष्ट होना अच्छा है; किन्तु स्त्रियों के व्यवहार में अनेक आवरण और आभास इंगित होने चाहिएँ। साहित्य भी अपनी चेष्टा को सफल करने के लिए अलंकारों का, रूपकों का, छन्दों का और आभास-इंगितों का सहारा लेता है। दर्शन तथा विज्ञान की तरह अनलंकृत होने से उसका निर्वाचन नहीं हो सकता। भाषा के बिना भावों का अस्तित्व असम्भव है, अपनी कलात्मक वृत्ति के वशीभूत हुआ कलाकार भावाभिव्यक्ति के अपने ढंग को अवश्य ही चमत्कार-पूर्ण, कलात्मक और सौन्दर्यपूर्ण बनायगा। भावों की चिरन्तनता को स्वीकार करते हुए कवि की कुशलता तो उसकी सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यक्ति में ही मानी जाती है। वास्तव में भाव और भाषा का अस्तित्व एक दूसरे पर आश्रित है, और दोनों के एकात्म से ही कविता का निर्माण होता है। आचार्य विश्वनाथ का ये कथन कि रसयुक्त वाक्य ही काव्य है सर्वथा उपयुक्त है। वाक्य द्वारा कविता के कला पक्ष और रस द्वारा भाव पक्ष की समानता को स्वीकार करके आचार्य ने कविता के दोनों पक्षों के अभेद को स्वीकार किया है।

६. कविता में सत्य

काव्य तथा कविता का आधार कल्पना है, अतः यह प्रश्न किया जा सकता है कि कल्पना पर आधारित साहित्य में सत्य का क्या स्थान हो सकता है? अथवा साहित्य में कल्पना तथा सत्य का क्या सम्बन्ध हो सकता है? कुछ लोग निश्चय ही कल्पना-प्रसूत साहित्य में सत्य की सत्ता में सन्देह प्रगट करते हैं। किन्तु यथार्थ में यह सन्देह न केवल व्यर्थ है, अपितु निराधार भी है। कल्पना हमारे लौकिक या विज्ञानिक सत्य के मापदण्ड से दूर होती हुई भी जीवन के

चिरन्तन सत्य के निकट है। जो कुछ प्रत्यक्ष है, वही सत्य है। इस प्रकार का सत्य विज्ञान और जीवन के लौकिक क्षेत्र में मान्य है, काव्य या साहित्य में नहीं। कवि कल्पना में विज्ञानिक सत्य की खोज व्यर्थ होगी। कवि जीवन, जगत्, प्रकृति तथा मन इत्यादि में प्रविष्ट होकर उनके आन्तरिक और चिरन्तन सत्य का अन्वेषण करता है। रवि की भाँति कवि की अन्तर्दृष्टि प्रत्यक्ष जीवन से हटकर और अपरोक्ष जीवन में प्रविष्ट होकर आन्तरिक सत्य का उद्घाटन करती है। साहित्यिक संसार को जैसा देखता है वैसा स्वीकार नहीं करता। अपनी रुचि के अनुसार वह विश्व को परिवर्तित कर लेता है। यदि वह विश्व को जिस रूप में देखता है उसी रूप में उसका वर्णन करे, तो काव्य अनुकृति-मात्र होकर रह जायगा। परन्तु अपनी कल्पना के बल पर वह यथार्थ जगत् के अन्तर्तम में प्रविष्ट होकर स्वाभाविक सत्य की खोज करता है। कल्पना निराधार नहीं होती। कल्पना द्वारा रचित आदर्शों पर ही संसार चलता है, और उन्हीं आदर्शों पर भविष्य का निर्माण होता है। कविता में कवि कल्पना द्वारा प्रकृति के अन्तःस्थल में प्रविष्ट होकर शाश्वत सत्य की खोज करता है। इसका यह सत्य सीमाओं में बँधा हुआ नहीं होता, और न ही वह घटनाओं पर आश्रित होता है। उसका सत्य मानव-भावनाओं पर आश्रित होता है। अतः प्रकृति के सम्पर्क में आने पर मानव-मन में जो भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, उनकी उसके मन पर जो प्रतिक्रिया होती है, जीवन-संघर्ष में हमारे मन में उत्पन्न आशा-निराशा, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद इत्यादि मनोभावनाओं के निष्कपट और सूक्ष्म तथा स्वाभाविक वर्णन में ही कवि-सत्य की परीक्षा होती है। मानव-मन से सम्बन्धित सत्य प्रकृत सत्य की भाँति क्षणिक और अस्थायी नहीं होता, वह चिरन्तन और शाश्वत होता है। राम वन-गमन के अनन्तर दशरथ का करुणापूर्ण विलाप, ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक न होता हुआ भी, क्या असत्य कहा जा सकता है? क्योंकि पुत्र-वियोग से उत्पन्न दुःख जीवन का एक स्वाभाविक सत्य है। कृष्ण के विरह में गोपियों की मनःस्थिति का सूक्ष्म वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से संदिग्ध होता हुआ भी जीवन का एक शाश्वत सत्य है। क्योंकि आज भी प्रिय के वियोग में प्रेमिकाओं के चित्त की वही दशा होती है। 'साकेत' की कैकेयी पश्चात्ताप से सन्तप्त होकर कह उठती है :

युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी।
रघुकुल में थी एक अभागी रानी॥

यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से ये वाक्य सर्वथा असत्य सिद्ध किये जा सकते हैं, तथापि काव्य में इनका वास्तविक सत्य से भी अधिक महत्त्व है। अतः कवि वास्तव में मानव-हृदय के जीवित और शाश्वत सत्य का पुजारी है, अनुकृति

और विज्ञानिक सत्य का नहीं।

कवि मनुष्य की संकल्प-शक्ति का ज्ञान रखता हुआ, उसके मानसिक क्षेत्र में परिवर्तन समुपस्थित कर सकता है। यही कारण है कि तुलसीदास की कैकेयी और मैथिलीशरण गुप्त की कैकेयी में पर्याप्त अन्तर है। किन्तु कवि इतिहास की परम्परा में परिवर्तन नहीं कर सकता, कल्पना के क्षेत्र में स्वतन्त्र होता हुआ भी, वह राणा-साँगा को प्रताप का पुत्र नहीं बना सकता अथवा राम के मुख से पाण्डवों का वर्णन नहीं करा सकता। हां, उसके वर्णन के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अवश्य ही वास्तविक संसार में घटित हुआ हो, परन्तु वह असम्भव नहीं होना चाहिए। वस्तुओं के विकृत रूप का प्रदर्शन, तथ्यों को तोड़ना-मरोड़ना तथा स्थिति और घटनाओं का ऐतिहासिक क्रम के ज्ञान बिना और असंगत वर्णन करना अक्षम्य दोष है।

कविता में वास्तव में जीवन का चिरन्तन सत्य सदा वर्तमान रहता है, महाकवि टेनिसन का यह कथन कि **कविता यथार्थ से अधिक सत्य है**[१] अधिक युक्तियुक्त है।

७. कविता में अलंकारों का स्थान

काव्य शास्त्र में अलंकारों की बहुत महिमा गाई गई है। काव्य-मीमांसाकार राजशेखर ने तो अलंकार को वेद का सातवाँ अंग कहा है। अलंकार शब्द का साधारण अर्थ आभूषण है, जिस प्रकार एक आभूषण रमणी के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देता है, ठीक उसी प्रकार अलंकार भी भाषा तथा अर्थ की सौन्दर्य-वृद्धि के प्रमुख साधन हैं। आचार्य केशवदास ने कहा है :

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु नहिं राजई कविता, वनिता, मित्त॥

केशवदास से बहुत समय पूर्व भामह ने भी यही कहा था :

न कान्तमपिनिर्भूषं विभाति वनिता मुखम्।

अर्थात् वनिता का सुन्दर मुख भी भूषण के बिना शोभा नहीं देता। 'काव्यादर्श' के रचयिता दण्डी ने कहा है :

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।

अर्थात् काव्य के शोभाकारक सभी धर्म अलंकार शब्द वाच्य ही हैं।

सौन्दर्य-प्रसाधन की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है, और आदि काल से ही विभिन्न प्रकार से अपनी इस प्रवृत्ति को तृप्त करता आ रहा है। काव्य के क्षेत्र में भी मनुष्य अपनी सौन्दर्य-साधना की प्रवृत्ति के वशीभूत हुआ अपने

१. Poetry is truer than fact.

कथन के ढंग को या अपने अभिव्यक्त भाव को अधिक आकर्षक, सौन्दर्ययुक्त तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए अलंकारों का आश्रय ग्रहण करता है। अलंकरण की प्रवृत्ति के पीछे मनुष्य का स्वाभाविक उत्साह वर्तमान रहता है, इसी कारण वह इतने बाह्य नहीं जितने कि समझे जाते हैं, उनका हृदय से सम्बन्ध होता है।

अतः अलंकारों का उपयोग काव्य में सौन्दर्य-वर्द्धन के लिए ही किया जाता है, और यह उपयोग भावों और अभिव्यक्ति दोनों के सौन्दर्य-वर्धन के लिए ही हो सकता है। (एक तरफ तो अलंकारों का काम भावों को रमणीय और सौन्दर्ययुक्त बनाना है, दूसरी तरफ उनका काम भावों की अभिव्यक्ति को परिष्कृत करके उन्हें चमत्कारपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक बना देना होता है)। अलंकारों का उद्देश्य वास्तव में किसी भी वर्णन अथवा भाव को ऐसा चमत्कारपूर्ण, रमणीय तथा आकर्षक बना देना होता है कि जिसे पढ़कर पाठक का हृदय रसमय होकर विशिष्ट आनन्द से आप्लावित हो जाय।

किन्तु यहाँ यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि अलंकार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं। कविता-कामिनी का स्वाभाविक सौन्दर्य इनके बिना भी आकर्षक हो सकता है। जिस प्रकार अत्यन्त स्वरूपवती रमणी बिना आभूषणों को धारण किये भी अपने स्वाभाविक सौन्दर्य द्वारा सभी को आकृष्ट कर लेती है, उसी प्रकार कविता भी अपने स्वाभाविक गुणों से युक्त होकर अलंकारों की अनुपस्थिति में भी सौन्दर्ययुक्त हो सकती है।

अलंकार अवश्य ही कविता में चमत्कार लाने के साधन हैं, परन्तु जब वह साधन न रहकर साध्य बन जाते हैं, और उनके पीछे का हृदय का स्वाभाविक उत्साह विलीन हो जाता है, तब वह भार रूप हो जाते हैं। अलंकारों का काव्य में निश्चय ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु वे मूल पदार्थ भाव का स्थान नहीं ग्रहण कर सकते। जहाँ अलंकरणीय पदार्थ भाव का अभाव हो वहाँ अलंकार क्या चमत्कार उपस्थित कर सकते हैं? प्राणहीन शरीर पर यदि अलंकारों को स्थापित कर दिया जाय तो उससे शोभा की क्या वृद्धि हो सकती है? यदि किसी कविता में भाव रूपी आत्मा का अभाव है तो वह अलंकारों से लदी हुई होने पर भी सौन्दर्य-हीन, और आकर्षण-शून्य होगी। रस-भाव-हीन कविता प्राण-हीन जड़ शरीर की भाँति होती है।

इस प्रकार अलंकार काव्य-सौन्दर्य के साधन हैं, वे भाव तथा कल्पना आदि काव्य-तत्त्वों की उपस्थिति में कविता के सौन्दर्य की वृद्धि कर सकते हैं

और उसके आकर्षण को द्विगुणित कर सकते हैं, परन्तु उनके अभाव में अलंकारों की कोई सार्थकता नहीं।

भारतीय आचार्यों ने काव्य के विभिन्न अंगों की भांति अलंकारों का भी अत्यन्त विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। अलंकारों के विवेचन में विशेष विस्तार से काम लिया गया है, और उनके अनेक सूक्ष्म भेदोपभेद भी स्थापित किये गए हैं। इस विशेष विस्तार का एक कारण यह भी है कि भारतीय साहित्य-शास्त्रियों के एक दल ने अलंकारों को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है, और रस इत्यादि अन्य काव्य-गुणों को इन्हीं के अन्तर्गत ग्रहीत किया है। अलंकारों के दो मुख्य भेद हैं, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार। शब्दालंकार शब्द में चमत्कार उत्पन्न करते हैं, और अर्थालंकार अर्थ में। जो अलंकार शब्द तथा अर्थ दोनों में ही चमत्कार लाते हों, उन्हें उभयालंकार कहा जाता है। अनु ास, यमक, श्लेष और वक्रोक्ति इत्यादि शब्दालंकार हैं, क्योंकि इनमें शब्दों द्वारा ही चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। अर्थालंकार में कल्पना की प्रधानता रहती है, और इन अलंकारों के उपयोग में कवि का मुख्य उद्देश्य पाठक की बुद्धि और मन दोनों को ही प्रभावित करना होता है। बुद्धि को प्रभावित करने वाली तीन विभिन्न शक्तियों के आधार पर ही इन अलंकारों को साम्यमूलक, विरोध-मूलक तथा सान्निध्यमूलक के रूप में विभक्त किया जाता है।

साम्य तीन प्रकार का माना जाता है—१. शब्द की समानता, एक ही प्रकार के शब्दों अथवा सदृश-वाक्यों के आधार पर आयोजित सादृश्य, २. रूप या आकार की समानता तथा ३. साधर्म्य अर्थात् गुण अथवा क्रिया की समानता। इन दोनों के अन्तरंग में प्रभाव-साम्य भी निहित रहता है, और प्रभाव-साम्य पर आधारित कविता ही अधिक प्रभावोत्पादक होती है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा तथा सन्देह इत्यादि अलंकार साम्यमूलक अलंकारों के रूप में ग्रहीत किये जाते हैं।

परस्पर-विरोधी पदार्थों के देखने पर उनके पारस्परिक विरोध की छाप हमारे चित्त पर अंकित हो जाती है, इसी से विरोधमूलक अलंकारों का जन्म हुआ है। विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, तथा सम विचित्र इत्यादि बारह विरोध-मूलक अलंकार हैं।

जब हम किन्हीं दो या अधिक पदार्थों को एक साथ या एक के बाद अनिवार्य रूप से आने वाला देखते हैं तब एक वस्तु को देखते ही दूसरी वस्तु का सम्बन्ध हम स्वयं स्थापित कर लेते हैं। इसे ही सान्निध्य कहते हैं। संख्या, पर्याय, परिसंख्या इत्यादि अलंकार सान्निध्यमूलक अलंकार कहलाते हैं।

अलंकारों का उपर्युक्त वर्गीकरण बहुत संक्षिप्त और सीमित है। अलंकारों की सीमा नहीं बाँधी जा सकती और न उनकी कोई संख्या ही निर्धारित की जा सकती है। जब तक मनुष्य में ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा विद्यमान है, तब तक अलंकारों का निरन्तर विकास होता रहेगा और कवि अपनी सूझ, रुचि तथा शक्ति के अनुसार नित्य नवीन अलंकारों की उद्भावना करते रहेंगे।

८. कविता तथा संगीत

मानव-जीवन में संगीत की महत्ता सभी को स्वीकार है। ताल, लय और स्वर द्वारा संगीत में हमारे मनोभावों को तरंगित करने की अद्भुत क्षमता है। संगीत की मधुरता और मादकता का अनुभव केवल मनुष्य ही करता हो ऐसी बात नहीं, अपितु पशु-पक्षी इत्यादि भी संगीत के आकर्षण और माधुर्य को खूब अनुभव करते हैं। संगीत की इसी महत्ता को इतिहासज्ञों ने मुक्त-कंठ से स्वीकार किया है और कहा है कि मनुष्य ने सृष्टि के प्रारम्भ से ही अपनी आन्तरिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए संगीतमयी भाषा को अपनाया है, और यही कारण है कि कविता भी संगीत के प्रभाव से अछूती नहीं रही। कविता संगीत का आश्रय ग्रहण करके हमारे मनोवेगों को तीव्र भाव से जाग्रत और उत्तेजित कर देती है। कविता में छन्द की आवश्यकता संगीत की महत्ता की स्वीकृति का ही लक्षण है।

किन्तु कविता तथा संगीत में पर्याप्त अन्तर है। यह ठीक है कि संगीत और कविता के उद्देश्य में साम्य है, दोनों का उद्देश्य मानव-हृदय को रसाप्लावित करना ही है, परन्तु संगीत का मुख्य कार्य केवल-मात्र भावना को जाग्रत करना है, जब कि कविता में बुद्धि-तत्त्व और कल्पना-तत्त्व के सम्मिश्रण से मनुष्य की विवेक-शक्ति और कल्पना-शक्ति दोनों को जाग्रत करने की क्षमता विद्यमान रहती है।

केवल भाव-जगत् से सम्बन्धित होने के कारण संगीत का प्रभाव अस्थायी होता है, परन्तु कविता मानव-मस्तिष्क और भाव दोनों को ही समान रूप से प्रेरित करने के कारण अधिक स्थायी और प्रभावोत्पादक होती है। संगीत में साहित्यिक तत्त्वों के मिश्रण से मानव-विवेक को भी प्रभावित किया जा सकता है, किन्तु संगीत का मुख्य क्षेत्र तो भाव-जगत् ही है।

९. कविता के भेद

पाश्चात्य और भारतीय आचार्यों ने कविता के अनेक भेदोपभेद किये हैं, संक्षेप से हम इनमें से कुछ भेदों का वर्णन करते हुए कविता के आधुनिकतम

भेदों की विवेचना करेंगे। पाश्चात्य विचारक डंटन ने कविता के दो भेद किये हैं—(१) शक्ति-काव्य (Poetry as an cnergy),(२) कला-काव्य — (Poetry as an art) । प्रथम में लोक-प्रवृत्ति को प्रभावित और परिचालित करने की शक्ति विद्यमान रहती है, तो दूसरी में आनन्द अथवा मनोरंजन की भावना ।

कुछ अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक-काव्य (Dramatic Poetry), (२) प्रकृत-काव्य (Realistic Poetry), (३) आदर्शात्मक काव्य (Idealistic Poetry), (४) उपदेशात्मक काव्य (Didactic Poetry) तथा (५) कलात्मक काव्य (Artistic Poetry) आदि के रूप में अनेक भेद किये हैं।

आधुनिक पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार कविता को व्यक्तित्व-प्रधान अथवा विषयीगत (Subjective) और विषय-प्रधान अथवा विषयगत (Objcctive) भेदों में विभाजित किया जाता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर इन्हीं भेदों की व्याख्या करते हुए लिखते हैं : साधारणतया काव्य के दो विभाग किये जाते हैं। एक तो वह जिसमें केवल कवि की बात होती है, दूसरा वह जिसमें किसी बड़े सम्प्रदाय या समाज की बात होती है।

कवि की बात का तात्पर्य उसकी सामर्थ्य से है जिसमें उसके सुख-दुःख, उसकी कल्पना और उसके जीवन की अभिज्ञता के अन्दर से संसार के सारे मनुष्यों के चिरन्तन हृदयावेग और जीवन की मार्मिक बातें आप-ही-आप प्रतिध्वनित हो उठती हैं।

दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं जिनकी रचना के अन्तःस्थल से एक देश, एक सारा युग, अपने हृदय को, अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके उस रचना को सदा के लिए समादरणीय सामग्री बना देता है। इस दूसरी श्रेणी के कवि ही महाकवि कहे जाते हैं।

डॉक्टर श्यामसुन्दर दास भी उपर्युक्त विभाजन को स्वीकार करते हुए लिखते हैं : कविता को हम दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक तो वह जिसमें कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करके अपने अनुभवों तथा भावनाओं से प्रेरित होता तथा अपने प्रतिपाद्य विषय को ढूँढ निकालता है,और दूसरा वह जिसमें वह अपनी अन्तरात्मा से बाहर जाकर सांसारिक कृत्यों और रागों में बैठता है और जो-कुछ ढूँढ निकालता है उसका वर्णन करता है। पहले विभाग को भावात्मक व्यक्तित्व-प्रधान अथवा आत्माभिव्यंजक कविता कह सकते हैं। दूसरे

विभाग को हम विषय-प्रधान अथवा भौतिक कविता कह सकते हैं।[1] इस प्रकार कविता के भाव-प्रधान और विषय-प्रधान नाम के ये दो भेद पर्याप्त युक्ति-संगत और वैज्ञानिक समझे जाते हैं।

भाव-प्रधान कविता में वैयक्तिक अनुभूतियों, भावनाओं और आदर्शों की प्रधानता रहती है, और कवि अपने अन्तर्तम की अभिव्यंजना द्वारा अपने सुख-दुःख, हास-विलास और आशा-निराशा का चित्रण करके अपने साथ-साथ पाठक को भी भाव-मग्न कर लेता है। क्योंकि उसकी वैयक्तिक भावनाओं का चित्रण भी उसकी स्वाभाविक उदारता के वश, सम्पूर्ण मानव के भाव-जगत् से सम्बन्धित हो जाता है, और पाठक उसका अध्ययन करता हुआ उसमें वर्णित सुख-दुःख, आशा-निराशा को कवि का न मानकर निज का अनुभव करने लग जाता है। भाव-प्रधानता के कारण विषयीगत काव्य में गीतात्मकता की प्रधानता होती है, इसी कारण इसे गीति-काव्य या प्रगीत काव्य कहते हैं। अंग्रेजी में इसे लिरिक (Lyric) कहते हैं।

भौतिक अथवा विषयात्मक काव्य में वर्णन की प्रधानता रहती है, और उसे प्रायः वर्णन-प्रधान (Narrative) काव्य भी कहा जाता है। महाकाव्य तथा खण्ड काव्य इसकी प्रमुख शाखाएँ समझी जाती हैं। कहा जाता है कि विषय-प्रधान कविता का स्रोत मनुष्य की कर्मशीलता है। प्राचीन काल में प्रचलित वीर-पूजा की भावना ही प्राचीन महाकाव्यों के मूल में कार्य करती है। विषय-प्रधान कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह कही जाती है कि उसका कवि के विचारों तथा अनुभूतियों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। भाव-प्रधान कविता में कवि की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होती है, और वह अपनी आन्तरिक अनुभूतियों का काव्य में वर्णन करता है, परन्तु इसके विपरीत विषय-प्रधान कविता में कवि की प्रवृत्ति बहिर्मुखी होती है, और वह बाह्य जगत् में घुल-मिलकर एक हो जाता है। बाह्य जगत् से ही उसे काव्य-प्रेरणा उपलब्ध होती है। भाव-प्रधान कविता की भाँति विषय-प्रधान कविता में कवि के व्यक्तित्व का प्रतिफलन कम हो पाता है, अपितु कवि अपने काल, समाज, देश तथा जाति की प्रवृत्ति में विलुप्त होकर अप्रत्यक्ष रूप से उसका वर्णन करता है।

१०. भाव-प्रधान तथा विषय-प्रधान कविता का अन्तर

ऊपर कविता के दोनों भेदों का संक्षिप्त वर्णन कर दिया गया है, यहाँ दोनों के संक्षिप्त अन्तर को भी जान लेना उचित ही होगा।

१. साहित्यालोचन पृष्ठ ११२

१. भाव-प्रधान कविता में भावों की प्रधानता रहती है, और कवि का उसके काव्य में स्पष्ट व्यक्तित्व मुद्रण होता है। कवि अपने सुख-दुःख, और आशा-निराशा का वर्णन करके अपने अन्तर्तम की बात कहता है।

२. विषय-प्रधान काव्य में वर्णन की प्रधानता रहती है, और कवि अप्रत्यक्ष रूप से कथा को कहता है। वर्णन-प्रधान कविता में कवि का व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से प्रतिफलित नहीं हो सकता। वह अपने सुख-दुःख और आशा-निराशा का वर्णन न करके अपने युग, समाज तथा जाति की प्रवृत्तियों का चित्रण करता है। कवि वर्णन-प्रधान कविता में अपने-आपको उसी प्रकार छिपाए रखता है जिस प्रकार भगवान् अपने-आपको अपनी सृष्टि में।

३. भाव-प्रधान कविता का स्रोत अन्तर्तम के उत्कट मनोवेगों में है, अतः उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होती है।

४. विषय-प्रधान कविता में कवि बाह्य विश्व से कविता की प्रेरणा प्राप्त करता है, बाह्य प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करके उससे वह अपने काव्य के उपकरणों का चुनाव करता है, इसी कारण उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी होती है।

५. भाव-प्रधान कविता में कवि अपना प्रतिनिधित्व अपने-आप करता है, वह अपने मनोवेगों, मनोभावों और अनुभूतियों के वर्णन के लिए किसी बाह्य साधन का आश्रय ग्रहण नहीं करता।

६. विषय-प्रधान कविता में कवि का प्रतिनिधित्व उसके अपने नायक या मुख्य पात्र द्वारा होता है। वह अपनी अनुभूतियों, आकांक्षाओं और आदर्शों का वर्णन विभिन्न पात्रों उनके कथोपकथन, संवाद और विचार-विनिमय द्वारा करता है।

७. भावों की प्रधानता के कारण विषयीगत कविता में रागात्मकता की प्रधानता होती है, और भावों की अभिव्यक्ति गीतों के रूप में होती है।

८. विषय-प्रधान काव्य में वर्णन की प्रधानता रहती है, और उसमें कथाओं का वर्णन किया जाता है। महाकाव्य तथा खण्डकाव्य विषय-प्रधान काव्य के अन्तर्गत ही गृहीत किये जाते हैं।

समीक्षा—उपर्युक्त विभाजन मनोविज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित कहा जाता है। परन्तु यह सर्वथा निर्दोष हो, ऐसी बात नहीं। वस्तुतः यह भेद कविता के न होकर उसकी शैली के ही हैं। व्यक्तित्व की प्रधानता गीति-काव्य में ही है, वर्णनात्मक काव्य में नहीं, यह भ्रमपूर्ण धारणा है। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के व्यक्तित्व का प्रतिफलन होता है, और कवि दोनों में ही समान रूप

से अपने व्यक्तिगत आदर्शों, भावनाओं और अनुभूतियों का चित्रण करता है। हाँ, इस चित्रण के ढंग में अन्तर अवश्य होता है एक में तो कवि आत्म-निवेदन अथवा आत्म-कथन के रूप में अपने आदर्शों की अभिव्यंजना करता है, दूसरे में वर्णनात्मक ढंग से।

भाव-प्रधान कविता में कवि का सम्बन्ध बाह्य जगत् से नहीं होता, यह धारणा भी भ्रामक है। क्योंकि व्यक्तिगत सुख-दुःख, और आशा-निराशा का मुख्य कारण भी सांसारिक सफलताएँ और असफलताएँ ही होती हैं। अपने विचारों को उद्‌बुद्ध करने के हेतु प्रगीत-काव्य के कवि को भी बाह्य संसार के सम्पर्क में आना पड़ता है।

भाव तो सम्पूर्ण साहित्य के प्राण हैं, फिर वर्णन-प्रधान कविता में उसका अभाव किस प्रकार हो सकता है? सभी महाकाव्यों में, जहाँ भावों की प्रधानता रहती है वहाँ गेय-तत्त्वों की भी कमी नहीं होती।

इन तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कविता के यथार्थ विभाजन की एक निश्चित रेखा निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि काव्य वास्तव में एक अखण्ड अभिव्यक्ति है। उसके ये सम्पूर्ण विभाग केवल अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से ही किये जाते हैं, तत्त्वतः सभी प्रकार की कविता में एक ही तत्त्व कार्य कर रहा है।

भारतीय दृष्टिकोण—श्रव्य तथा दृश्य काव्य के रूप में काव्य के भेद करने के अनन्तर भारतीय आचार्यों ने निर्बन्ध के भेद से श्रव्य काव्य के दो भेद किये हैं (१) प्रबन्ध काव्य तथा (२) निर्बन्ध या मुक्तक काव्य।

प्रबन्ध काव्य के भी तीन भेद हैं महाकाव्य, काव्य और खण्ड काव्य।

महाकाव्य में जीवन की समग्र रूप में अभिव्यक्ति की जाती है, और प्राय उसमें जातीय जीवन को उसकी अनेकानेक विशेषताओं के साथ चित्रित किया जाता है। कथा की दीर्घता के साथ महाकाव्य में आकार की विशालता और भावों की बहुलता विद्यमान रहती है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर महाकाव्य की विवेचना करते हुए लिखते हैं कि: वर्णनानुगुण से जो काव्य पाठकों को उत्तेजित कर सकता है, करुणाभिभूत, चकित, स्तम्भित, कौतूहली और अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कर सकता है, वह महाकाव्य है और उसका रचयिता महान् कवि। वह आगे लिखते हैं कि: महाकाव्य में एक महच्च-रित्र होना चाहिए और उसी महच्चरित्र का एक महत्कार्य और महद्-नुष्ठान होना चाहिए। 'वाल्मीकीय रामायण', 'महाभारत', तुलसी-कृत 'राम-चरित-मानस' तथा प्रसाद की 'कामायनी' आदि महाकाव्य के उदाहरण हैं।

काव्य एक ऐसा काव्य-ग्रन्थ है जो महाकाव्य की प्रणाली पर तो लिखा जाता है, परन्तु उसमें महाकाव्य के सम्पूर्ण लक्षण अप्राप्य होते हैं। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इसी प्रकार के सर्गबद्ध कथा-निरूपक काव्यों को 'एकार्थ काव्य कहा है। 'साकेत' आदि काव्य इसी के अन्तर्गत गृहीत किये जाते हैं।

खण्डकाव्य में जीवन के एक रूप का ही वर्णन किया जाता है, और उसमें महाकाव्य की किसी एक घटना को ही काव्य का विषय बनाया जाता है। किन्तु यह घटना अपने-आपमें पूर्ण होती है। जीवन की विविधता में से किसी एक पक्ष का चुनाव करके उसका वर्णन करना ही खण्डकाव्य का मुख्य उद्देश्य होता है। गुप्तजी का 'अनघ', 'जयद्रथ-वध' तथा त्रिपाठी जी का 'स्वप्न', 'मिलन' तथा 'पथिक' और कालिदास का 'मेघदूत' काव्य की इसीविधा के उदाहरण समझे जाते हैं।

निर्बन्ध या मुक्तक काव्य में, प्रबन्ध काव्य का-सा तारतम्य नहीं रहता, उसका प्रत्येक छन्द अपने-आपमें पूर्ण और स्वतन्त्र रूप से रसोद्रेक करने में समर्थ होता है। प्रबन्ध काव्य में जहाँ जीवन की अनेकरूपता अभिव्यक्त होती है, खण्ड काव्य में जीवन के विविध रूप में से किसी एक रूप या प्रकार का वर्णन रहता है, वहाँ मुक्तक काव्य में मन की किसी एक अनुभूति, भाव या कल्पना का चित्रण किया जाता है। निर्बन्ध या मुक्तक काव्य के दो भेद किये जाते हैं—क. मुक्तक (पाठ्य), ख. मुक्तक (गेय)।

क. मुक्तक (पाठ्य) में विषय की प्रधानता रहती है, और उसके छन्द अधिकतर पाठ्य होते हैं, गेय कम। भाव की अपेक्षा इसमें प्रायः विचार की या लौकिक नैतिक भावनाओं की प्रधानता रहती है। शृङ्गार तथा वीर रस पर भी बहुत सुन्दर पाठ्य मुक्तकों की रचना हो चुकी है। बिहारी की 'बिहारी-सतसई', मतिराम तथा दुलारेलाल भार्गव आदि के शृङ्गार-विषयक दोहे शृङ्गार रस पर लिखे हुए पाठ्य मुक्तकों के सुन्दर उदाहरण हैं। वृन्द, रहीम, तुलसी तथा कबीर आदि के दोहे तथा सवैये नीति तथा भक्ति-विषयक मुक्तकों के अन्तर्गत गृहीत किये जाते हैं।

ख. मुक्तक गेय प्रगीत-काव्य कहलाते हैं, अंग्रेजी में इन्हें लिरिक (Lyric) कहा जाता है। इनमें निजत्व अधिक रहता है, भावनाओं की प्रधानता होती है, और इसी कारण इनमें रागात्मकता आ जाती है। ये स्वर, ताल तथा लय से बँधे हुए होते हैं, और गेय होते हैं। वैयक्तिकता, भावात्मकता तथा रागात्मकता इसे स्पष्ट रूप से पाठ्य

मुक्तक से पृथक् कर देती है। प्रसाद, पन्त, निराला, मीरा तथा कबीर तुलसी और सूरदास आदि के गीत प्रगीत-काव्य के अन्तर्गत ही गृहीत किये जाते हैं।

११. प्रबन्ध काव्य के विविध रूप

प्रबन्ध काव्य के तीन भेद माने गए हैं (१) महाकाव्य, (२) काव्य और (३) खण्डकाव्य। यहाँ क्रमशः हम इन तीनों भेदों का संक्षेप से विवेचन करके उनके विकास का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

(१) महाकाव्य—पाश्चात्य आचार्यों के दृष्टिकोण के अनुसार महाकाव्य को वर्णन-प्रधान (Narrative) या विषय-प्रधान (Objective) काव्य के अन्तर्गत गृहीत किया जाता है, और इसे एपिक (Epic) कहा जाता है।

संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों में महाकाव्य के विविध अंगों का अत्यन्त विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है, और महाकाव्य की रूपरेखा को इस प्रकार निर्धारित किया गया है—

१. महाकाव्य का सर्गबद्ध होना आवश्यक है। २. उसका नायक धीरोदात्त, क्षत्रिय अथवा देवता होना चाहिए। ३. यह आठ सर्गों से बड़ा तथा अनेक वृत्तों (छन्दों) से युक्त होना चाहिए, परन्तु प्रवाह को व्यवस्थित रूप में रखने के लिए एक सर्ग में एक ही छन्द होना चाहिए। ४. महाकाव्य की कथा इतिहास- सिद्ध होती है, अथवा सज्जनाश्रित। ५ शृङ्गार, वीर और शान्त रसों में कोई एक रस अंगी रूप में रहता है। ६. प्रकृति-वर्णन के रूप में इसमें नगर, अर्णव (समुद्र), पर्वत, संध्या, प्रातःकाल, संग्राम, यात्रा तथा ऋतुओं आदि का वर्णन भी आवश्यक है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण—महाकाव्य के उपकरणों पर विचार करते हुए पाश्चात्य आचार्यों ने जो विचार व्यक्त किये हैं, उनमें बड़ा मतभेद पाया जाता है। फ्रेञ्च आलोचक ल बस्सु **महाकाव्य को प्राचीन घटनाओं के चित्रण के लिए एक रूपक के रूप में स्वीकार करता है।**[1] डेवनाण्ट का कथन है कि महाकाव्यों का आधार प्राचीन घटनाओं पर ही प्रतिष्ठित होना चाहिए। क्योंकि सामयिक घटनाओं की अपेक्षा प्राचीन घटनाओं के चित्रण में कवि अवश्य ही कल्पना की ऊँची उड़ान ले सकता है। इसके अतिरिक्त उसे इस प्रकार की घटनाओं के चित्रण में अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता भी रहती है।

परन्तु सुप्रसिद्ध आलोचक लुकन ने उपर्युक्त दोनों मतों के विपरीत प्राचीन

---

१. 'Epic and Heroic poetry', P. 1

घटनाओं की अपेक्षा अर्वाचीन घटनाओं को ही महाकाव्य की पृष्ठभूमि बनाना युक्तियुक्त समझा है। क्योंकि उसके विचार में इससे यह लाभ होगा कि उसमें वर्णित चरित्रों की सजीव प्रतिमा जनता के हृत्पटल पर अंकित हो जायगी।

महाकाव्य की आधारभूत घटनाओं के सम्बन्ध में रैसाॅ ने मध्य मार्ग का अवलम्बन किया है और कहा है कि महाकाव्य की घटनाएँ न तो अत्यन्त प्राचीन ही होनी चाहिएँ और न अत्यन्त नवीन ही।

इसी प्रकार महाकाव्य में वर्णित घटनाओं का समय कितना होना चाहिए इस विषय में भी आलोचकों में गहरा मतभेद है। एक आलोचक महाकाव्य में केवल एक वर्ष की घटनाओं के चित्रण को ही पसन्द करता है तो दूसरा नायक के सम्पूर्ण जीवन का चित्रण आवश्यक मानता है।

इस मतभेद के बावजूद भी पाश्चात्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित महाकाव्य की रूपरेखा के कुछ सर्वमान्य तथ्यों को इस प्रकार रखा जा सकता है—

१. महाकाव्य एक विशाल काय प्रकथन-प्रधान (Narrative) काव्य है।

२. इसका नायक युद्धप्रिय होना चाहिए, उसके पात्रों में शौर्य गुण की प्रधानता होनी चाहिए।

३. महाकाव्य में केवल व्यक्ति का चरित्र-चित्रण ही नहीं रहता, उसमें सम्पूर्ण जाति के क्रिया-कलाप का वर्णन होना चाहिए। व्यक्ति की अपेक्षा उसमें जातीय भावनाओं की प्रधानता होती है।

४. कुछ आलोचकों का विचार है कि महाकाव्य के पात्रों का सम्पर्क देवताओं से रहता है, और उनके कार्यों की दिशा निर्धारित करने में देवताओं और भाग्य का हाथ रहता है। किन्तु लुकन का विचार है कि उनके कार्य-कलाप में देवताओं तथा दैवी शक्ति का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

५. महाकाव्य का विषय परम्परा से प्रतिष्ठित और लोकप्रिय होता है।

६. सम्पूर्ण कथा-सूत्र नायक से बँधा रहता है।

७. महाकाव्य की शैली विशिष्ट शालीनता और उच्चता से युक्त होती है, और उसमें एक ही छन्द को प्रयुक्त किया जाता है।

पाश्चात्य तथा भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित महाकाव्य के लक्षणों में विशेष अन्तर नहीं, यह उपर्युक्त तत्त्वों की तुलना से स्पष्ट हो जायगा। पाश्चात्य आचार्यों ने महाकाव्य में जातीय भावनाओं के समावेश पर अधिक बल दिया है, भारतीय महाकाव्यों में जातीय भावनाओं का युद्ध, यात्रा तथा ऋतु-वर्णन

आदि द्वारा अनुप्रवेश हो जाता है। महाकाव्य-सम्बन्धी भारतीय तथा पाश्चात्य आदर्शों में विशेष अन्तर नहीं।

आजकल अवश्य ही महाकाव्य-सम्बन्धी पुरातन आदर्शों का अनुसरण सम्पूर्ण रूप से नहीं किया जा रहा, पुरातन आदर्शों में परिवर्द्धन और संशोधन हो रहे हैं, और नवीन आदर्शों की सृष्टि भी की जा रही है। मानव-सभ्यता विकासशील है, अतः साहित्यिक आदर्शों और उद्देश्यों का विकास भी रुक नहीं सकता।

१२. भारतीय महाकाव्यों की परम्परा

भारतीय महाकाव्यों की परम्परा का प्रारम्भ आदि कवि वाल्मीकि से माना जाता है। वाल्मीकि के महाकाव्य रामायण ने भारतीय जीवन में असीम रस और जीवन का संचार किया है। यही कारण है कि वाल्मीकि महर्षियों में गिने जाते हैं, और उनका देव-तुल्य सम्मान किया जाता है। वास्तव में वाल्मीकि आदि प्राचीन काल के महान् भारतीय कवियों की कृतियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि वे दिव्यदृष्टि-सम्पन्न थे, उनका काव्य अलौकिक था। इसी कारण तो उपनिषद् में कहा गया है कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः। भारतीय संस्कृति में ऋषियों का स्थान बहुत ऊँचा है, उन्हें दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न समझा जाता है, कवि को ऋषि का स्थान प्रदान करके भारतीय जनता ने उनमें अपना अगाध विश्वास प्रगट किया है।

'रामायण' में रामराज्य के रूप में एक आदर्श समाज का चित्रण किया गया है, पृथ्वी पर भी स्वर्गीय सुख-सुविधाओं का अवतरण किस प्रकार हो सकता है? मानव-जीवन को किस प्रकार आदर्श स्वरूप में उपस्थित किया जा सकता है? इत्यादि बातों पर 'वाल्मीकि रामायण' में विचार किया गया है, और एक आदर्श मानव-समाज के चित्रण द्वारा कवि ने इन आदर्शों को पूर्ण करने का प्रयत्न किया है। 'महाभारत' को हमारे यहाँ इतिहास कहा गया है, परन्तु आधुनिक युग में अंग्रेजी समीक्षा-पद्धति के अनुसार उसे भी महाकाव्य माना जाता है। महाभारत के कर्ता महर्षि व्यासदेव माने जाते हैं। महाभारत में व्यासदेव ने जीवन के भौतिक पक्ष की असीम उन्नति को चित्रित करके उसकी नश्वरता और तथ्यहीनता को प्रदर्शित किया है। हिन्दू समाज के नैतिक, धार्मिक और सामाजिक आदर्शों का इसमें बहुत सूक्ष्म विवेचन किया गया है, और वस्तुतः उसे भारतीय संस्कृति का विश्व-कोष कहना ही अधिक उपयुक्त है। मानव-जीवन की जितनी सुन्दर और पूर्ण अभिव्यक्ति महाभारत में हुई है, उतनी

शायद ही अन्य किसी महाकाव्य में हुई हो। जीवन के विविध रूपों पर प्रकाश डालने के लिए महाभारत में अनेक प्रासंगिक कथाओं की रचना की गई है, शकुन्तला, ययाति, नहुष, नल, विदुला तथा सावित्री आदि से सम्बन्धित उपाख्यान बाद के भारतीय साहित्य के आधार बने हैं। यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वानों ने महाभारत के लिए महाकाव्य के भीतर (Epic within epic) महाकाव्य कहा। वस्तुतः यह कथन युक्तियुक्त है कि महाभारत अपने-आप में पूर्ण एक समग्र साहित्य (Whole literature) है।

महाभारत तथा रामायण के अनन्तर संस्कृत साहित्य में इतने शक्तिशाली महाकाव्यों की रचना नहीं हो सकी। इन महाकाव्यों की रचना के पश्चात् का अधिकांश भारतीय साहित्य इनमें वर्णित आख्यानों और उपाख्यानों पर ही आधारित है। ये दोनों महाकाव्य हमारे सम्पूर्ण साहित्य के प्रेरणा स्रोत हैं, और आधुनिक युग में भी हमारे कवि इन्हीं विशालकाय महाकाव्यों के आधार पर अपने काव्यों को आधारित करते रहे हैं।

वाल्मीकि तथा व्यास के पश्चात् कालिदास का स्थान है। कालिदास का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'रघुवंश' है। कालिदास के अनन्तर भारवि (किरातार्जुनीय) तथा माघ (शिशुपाल-वध) आदि का स्थान है। इनके अतिरिक्त अनेक छोटे-बड़े काव्यों और महाकाव्यों की रचना होती रही, जिनका साहित्यिक जगत् में समुचित आदर हुआ है।

१३. हिन्दी के महाकाव्य

हिन्दी का सर्वप्रथम महाकाव्य होने का श्रेय चन्दबरदाई-रचित 'पृथ्वीराज रासो' को ही है। यद्यपि बा० श्यामसुन्दरदास आदि विद्वान् इसे महाकाव्य न मानकर एक विशालकाय वीर काव्य ही मानते हैं, और कथा तथा इसमें वर्णित घटनाओं के आधार पर भी यह अप्रमाणिक माना जाता है, तथापि लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार 'रासो' को महाकाव्य कहना सर्वथा युक्तियुक्त है। क्योंकि इसकी सम्पूर्ण कथा ६६ समयों में विभक्त है, इसमें कवित्त, तोटक, दोहा, गाथा तथा आर्या आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है। इसका नायक पृथ्वीराज क्षत्रिय-कुल-भूषण वीर पुरुष है। इसमें अनेक युद्धों, यात्राओं और प्राकृतिक दृश्यों का बहुत आकर्षक वर्णन किया गया है। 'पृथ्वीराज रासो' में वीर रस के साथ-साथ शृङ्गार तथा शान्त रस का भी पर्याप्त सुन्दर सम्मिश्रण है। बा० श्यामसुन्दरदास ने इस महाकाव्य के महत्त्व को निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है :

'पृथ्वीराज रासो' समस्त वीर-गाथा-युग की सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण रचना है। इस काल की जितनी स्पष्ट झलक इसी एक ग्रन्थ में मिलती है, उतनी दूसरे अनेक ग्रन्थों में भी नहीं मिलती। छन्दों का जितना विस्तार तथा भाषा का जितना साहित्यिक सौष्ठव इसमें मिलता है, अन्यत्र उसका अल्पांश भी नहीं दिखाई पड़ता। पूरी जीवन-गाथा होने से इसमें वीर-गीतों की-सी संकीर्णता तथा वर्णनों की एकरूपता नहीं आने पाई है, वरन् नवीनता-समन्वित कथानकों की ही इसमें अधिकता है। यद्यपि 'रामचरित मानस' अथवा 'पद्मावत' की भाँति इसमें भावों की गहनता तथा अभिनव कल्पनाओं की प्रचुरता उतनी अधिक नहीं है परन्तु इस ग्रन्थ में वीर भावों की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है और कहीं-कहीं कोमल कल्पनाओं तथा मनोहारिणी उक्तियों से इसमें अपूर्व काव्य-चमत्कार आ गया है। रसात्मकता के विचार से उसकी गणना हिन्दी के थोड़े से उत्कृष्ट काव्य-ग्रन्थों में हो सकती है।[1]

'पद्मावत' हिन्दी के श्रेष्ठ महाकाव्यों में गिना जाता है। भक्ति-काल में प्रेमाश्रयी शाखा के सर्वप्रमुख कवि जायसी ने इस महाकाव्य द्वारा लौकिक प्रेम के रूप में अलौकिक और आध्यात्मिक प्रेम की ओर संकेत किया है। पद्मावती और रतनसेन की कथा के साथ-साथ रूपक भी चलता है, ऐसा प्रतीत होता है कि जायसी का मुख्य उद्देश्य इस रूपक द्वारा अपने विशिष्ट धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों को उपस्थित करना ही था। परन्तु कथा-तत्त्व और प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से भी 'पद्मावत' एक उत्कृष्ट प्रबन्ध-काव्य बन पड़ा है।

'पद्मावत' एक प्रेम-कहानी है, उसका पूर्व भाग लोक-वार्ता पर आधारित है, और उत्तर भाग ऐतिहासिक आधार पर। परन्तु ऐतिहासिक भाग में भी कवि ने कल्पना का आश्रय जहाँ-तहाँ ग्रहण किया है, और कथा को अपनी रुचि के अनुसार घटाया-बढ़ाया भी है। 'पद्मावत' की रचना फारसी की मसनवी शैली पर हुई है, संस्कृत-प्रबन्ध-काव्यों की सर्ग-बद्ध शैली पर नहीं। प्रारम्भ में तत्कालीन बादशाह और हजरत मुहम्मद की वन्दना की गई है। फारसी मनसवी-शैली का आश्रय ग्रहण करते हुए भी कवि ने अपने प्रबन्ध काव्य में भारतीय संस्कृति, रीति-रिवाज, धार्मिक परम्पराओं और भारतीय जन-कथाओं के विषय में अपनी अभिज्ञता का पूर्ण परिचय दिया है। शृङ्गार, वीर आदि रसों का वर्णन परम्परागत भारतीय काव्य-पद्धति के अनुसार किया गया है। युद्ध-वर्णन,

1. हिन्दी-साहित्य पृ० ६८

यात्रा-वर्णन तथा राजसी ठाट-बाट के वर्णन में जायसी ने विशेष कुशलता प्रदर्शित की है। प्रकृति-वर्णन में कवि ने अज्ञात के प्रति जो संकेत किये हैं वह अत्यधिक चित्ताकर्षक और उपयुक्त बन पड़े हैं। अलंकारों का भी समुचित प्रयोग किया गया है।

सारांश यह है कि 'पद्मावत' प्रबन्ध-काव्य का एक श्रेष्ठ उदाहरण है। 'रामचरित मानस' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। जीवन के नाना रूपों की अभिव्यक्ति के लिए और मध्यकालीन आदर्श-हीन समाज के सम्मुख एक महान् आदर्श को प्रस्तुत करने के लिए ही इस महाकाव्य की रचना हुई है। यद्यपि तुलसीदास जी ने इस महाकाव्य को 'स्वान्तः सुखाय' ही लिखा है तथापि प्राचीन भारतीय वाङ्मय की समस्त परम्परा को और दार्शनिक तथा धार्मिक सिद्धान्तों को उसमें सन्निहित करने का प्रयत्न किया गया है। तुलसीदास जी ने प्रारम्भ में ही घोषणा कर दी है :

> नाना पुराण निगमागमसम्मतं यद्—
> रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि।
> स्वान्त. सुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा—
> भाषा - निबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

'नाना पुराण निगमागम' के साथ लोक-हित की भावना कार्य कर रही है। 'रामचरित मानस' का कथानक अत्यन्त प्राचीन और परम्परागत प्रचलित है। 'वाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्म रामायण', 'हनुमन्नाटक', 'प्रसन्न राघव' तथा 'श्रीमद्भागवत' और अन्य अनेक ग्रन्थों से उन्होंने अपने महाकाव्य के कथानक की सामग्री चुनी है, किन्तु अनेक स्थलों पर गोस्वामी जी ने अपनी सुविधा के लिए कथा में परिवर्तन भी कर लिया है। यद्यपि 'रामचरित मानस' की कथा तीन विभिन्न पात्रों द्वारा कहलाई गई है, तथापि उसके प्रवाह और स्वाभाविकता में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा। परम्परागत प्राचीन कथा को भी तुलसीदास जी ने अपनी कल्पना तथा प्रतिभा द्वारा इस रूप में रखा है कि वह सर्वथा नवीन और भव्य बन गई है। कथा के अन्तर्गत राजकीय उत्सव, युद्ध, यात्रा, संवाद, तथा उपवन और वाटिकाओं के वर्णन बहुत सुन्दर, स्वाभाविक तथा प्रासंगिक बन पड़े हैं। पात्रों के संवाद प्रसांगानुकूल और स्वाभाविक हैं, वे अधिक लम्बे नहीं, न ही उनमें कहीं शिथिलता आने पाई है।

कथा के अन्तर्गत मार्मिक स्थलों के चुनाव में भी तुलसीदास जी ने मानव की आन्तरिक और बाह्य प्रकृति का अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण करके वर्णन किया है। प्रत्येक पात्र के आन्तरिक विचार इस रूप में प्रकट किये गए हैं कि वह सर्वथा

सजीव और जाग्रत बन पड़ा है। पात्रों तथा प्रसंगों के अनुकूल भाषा ने तो और भी अधिक चमत्कार और प्रवाह ला दिया है। जायसी की अवधी ग्रामीण थी, परन्तु तुलसीदास जी की परिष्कृत तथा संस्कृत-गर्भित साहित्यिक है। गोस्वामी जी ने केशवदास की भाँति छन्दों तथा अलंकारों की रेल-पेल तो प्रदर्शित नहीं की, परन्तु दोहा-चौपाई के अतिरिक्त छप्पय, कवित्त तथा सवैया इत्यादि को भी प्रसंगानुकूल प्रयुक्त किया है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में और प्रकृति-वर्णन में तुलसीदास जी ने काव्य-मर्मज्ञता का पूर्ण परिचय दिया है।

इसी समय के लगभग लिखी हुई केशवदास की 'राम-चन्द्रिका' भी प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत गृहीत की जाती है। किन्तु कथानक का प्रवाह, तारतम्य और प्रबन्ध काव्य के लिए आवश्यक गम्भीर्य का उसमें सर्वथा अभाव है। छन्दों तथा अलंकारों को अधिक महत्त्व प्रदान करने के कारण केशवदास इसमें मार्मिक स्थलों का चुनाव नहीं कर सके। उनकी रुचि पाण्डित्य-प्रदर्शन की ओर ही रही है, चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण बिना प्रसंग-ज्ञान के ही अलंकारों को भरने का प्रयत्न किया गया है, परिणाम स्वरूप कथा में शैथिल्य आ गया है।

चरित्र-चित्रण भी त्रुटिपूर्ण है। अनेक स्थलों पर उन्होंने भगवान् राम के मुख से ही सर्वथा अनुपयुक्त और अप्रासंगिक बातें कहलाई हैं। इस प्रकार प्रबन्ध-निर्वाह, मार्मिक स्थलों के चुनाव और चरित्र में असफल रहने के कारण 'राम-चन्द्रिका' प्रबन्ध काव्य न होकर मुक्तक काव्य कहलाने के ही उपयुक्त है।

आधुनिक युग में राम-काव्य की परम्परा गुप्तजी के 'साकेत' द्वारा पुनर्जीवित हुई है, इस अन्तर में भगवान् राम के जीवन पर काव्य-ग्रन्थ लिखे तो अवश्य गए हैं, किन्तु काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से वे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार 'साकेत' के सृजन में दो प्रेरणाएँ थीं—१. राम-भक्ति और २. भारतीय जीवन को समग्र रूप में देखने और समझने की लालसा। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रेरित उर्मिला-विषयक कवियों की उपेक्षा को दूर करने के लिए 'साकेत' की सर्जना करते हुए भी गुप्तजी राम-कथा के प्रवाह में बह गए हैं।

'साकेत' की कथा 'वाल्मीकीय रामायण' और 'रामचरित मानस' पर ही आधारित है, किन्तु गुप्तजी ने अपनी अनुकूलता के अनुसार उसमें अनेक परिवर्तन कर दिए हैं, यही कारण है कि उसमें मौलिक कथा का-सा आनन्द आता है। उर्मिला को महत्त्व प्रदान करने के लिए कथा का सम्पूर्ण घटना-क्रम साकेत नगरी तक ही सीमित रहा है। जो घटनाएं 'साकेत' में घटित नहीं हुईं वह उर्मिला,

हनुमान और वशिष्ठ जी द्वारा कहला दी गई हैं।

'साकेत' का मुख्य उद्देश्य उर्मिला का विरह-वर्णन है। उर्मिला कवियों की उपेक्षिता रही है, रवीन्द्रनाथ तथा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि इस निर्मम उपेक्षा से विचलित हो उठे, उन्होंने अपने लेखों द्वारा इस अव्यक्त वेदना देवी की ओर कवियों का ध्यान आकृष्ट किया। 'साकेत' की रचना इन्हीं प्रेरणाओं से हुई है, इस काव्य-ग्रन्थ का प्रासाद उर्मिला के अश्रुओं पर ही आधारित है। उर्मिला के अश्रुओं की प्रमुखता के कारण ही कुछ आलोचक 'साकेत' को 'उर्मिला-उत्ताप' कहना अधिक युक्ति-संगत समझते हैं। कवि ने काव्य का नवम सर्ग उर्मिला के विरह-वर्णन में ही खपा दिया है। इस अति रुदन से कुछ लोग क्षुब्ध हो उठे हैं और वे इसे एक महाकाव्य की नायिका के लिए उपयुक्त नहीं मानते। किन्तु उर्मिला को प्रमुखता प्रदान करने के लिए यह स्वाभाविक ही है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उर्मिला का चरित्र बहुत मार्मिक और सुन्दर है, उसमें कोई कमी नहीं।

तुलसीदास ने वाल्मीकि के नर—राम में नारायणत्व का समावेश करके उसे पर-ब्रह्म बना दिया था। उनकी अलौकिकता को हम इसी कारण 'रामचरित मानस' पढ़ते हुए सभी स्थान पर अनुभव करते हैं। सच पूछिए तो काव्य-गुणों की दृष्टि से यह एक बड़ा दोष है, किन्तु गुप्तजी के राम उनसे भिन्न हैं। वे परब्रह्म होते हुए भी मनुष्य हैं, वे अवतार अवश्य हैं किन्तु हमारे से भिन्न नहीं हैं :

राम राजा ही नहीं पूर्णावतार पवित्र।
पर न हमसे भिन्न है, साकेत का गृह-चित्र॥

गुप्तजी निश्चय ही वर्तमान युग की बौद्धिकता से प्रभावित हैं, इनकी धार्मिक भावनाओं का निर्माण इस तर्क-प्रधान युग में हुआ है, फलस्वरूप उनकी श्रद्धा और आस्था बुद्धि-संगत है। तुलसी के श्रद्धाभाजन राम, जो कि उनके लिए भक्ति और पूजा के आदर्श थे, गुप्तजी के लिए वैभवशाली काव्योपयोगी नायक बन गए हैं। उनमें तुलसी के राम की अपेक्षा लौकिकता का आधिक्य है। उनका जन्म परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ही हुआ है, और इसीलिए वे स्वयं कहते हैं :

भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया।
नर को ईश्वरत्व प्राप्त कराने आया॥
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥

वे तुलसीदास के राम की भाँति स्वर्ग या मुक्ति का सन्देश लेकर नहीं आए,

अपितु इस पृथ्वी को ही स्वर्ग बनाने आए हैं। 'प्रिय प्रवास' के कृष्ण की भाँति 'साकेत' के राम में भी सेवा-भावना की अधिकता है।

तुलसीदास जी की 'कुटिल कैकेई' गुप्तजी की सहानुभूति प्राप्त करके 'साकेत' में अत्यन्त निखर उठी है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त जी ने उर्मिला की भाँति कैकेयी को भी महत्त्व देकर उसे काव्य की उपेक्षिता न रखने का विशेष प्रयत्न किया है। चित्रकूट में कैकेयी जिस रूप में उपस्थित की गई है, वह न केवल हमारी सहानुभूति ही प्राप्त कर लेती है, अपितु हम उसे सर्वथा निष्कलंक और निरपराध स्वीकार कर लेते हैं। कैकेयी का कवि द्वारा प्रस्तुत यह सजीव चित्र देखिए :

सबने रानी की ओर अचानक देखा।
वैधव्य-तुषारावृता यथा विधु-लेखा॥
बैठी थी अचल तथापि असंख्य तरंगा।
वह सिंही अब थी हहा गोमुखी गंगा॥

और इसके साथ ही यह शब्द किसके हृदय को द्रवित न कर देते होंगे :

युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी।
रघुकुल में थी एक अभागी रानी॥
निज जन्म-जन्म में सुने जीव यह मेरा।
धिक्कार उसे था महापाप ने घेरा॥

भगवान् राम के निम्न शब्दों के द्वारा गुप्तजी ने कैकेयी के सम्पूर्ण कलंक को धो डाला है :

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई॥

भरत का चरित्र भी बहुत उज्ज्वल तथा त्यागपूर्ण बन पड़ा है। इनके अतिरिक्त लक्ष्मण, हनुमान, सीता, दशरथ आदि के चरित्र भी पर्याप्त आकर्षक और सुन्दर हैं। तुलसीदास की अपेक्षा गुप्तजी अधिक सहिष्णु हैं, यही कारण है कि मेघनाद, रावण तथा कैकेयी के चरित्र अधिक आकर्षक हैं।

परन्तु तुकबन्दी का मोह गुप्तजी में अवश्य है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। भाषा में भी कहीं-कहीं रूखापन प्राप्त हो जाता है, किन्तु नाटकीय तत्त्वों के समावेश से (जैसा कि प्रथम सर्ग में और अन्यत्र भी) उसकी कथा में पर्याप्त रोचकता आ गई है।

'वाल्मीकि रामायण' या 'रामचरित मानस'-जैसे महाकाव्यों की तो आज हम आशा नहीं कर सकते। अब तो गीतिकाव्य की ही प्रधानता है। 'साकेत' आदि महाकाव्य प्राचीन महाकाव्यों के कथानकों के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं। उनमें नैसर्गिकता अथवा मौलिकता का अभाव है, और कल्पना की प्रधानता है। वे अपने समकालीन मानव-समाज के आदर्शों और परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं, उनमें किसी महान् आदर्श की उपस्थिति नहीं होती। तथापि प्रबन्ध-काव्य के लक्षणों और सांस्कृतिक महत्ता की दृष्टि से 'साकेत' हिन्दी के उत्कृष्ट महाकाव्यों में गिना जा सकता है।

'साकेत सन्त' लिखकर पं० बलदेवप्रसाद मिश्र ने भरत के चरित्र को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया है। राम-चरित्र से सम्बन्धित होने पर तो भरत की महत्ता है ही, किन्तु स्वतन्त्र रूप से भी भरत का त्यागपूर्ण जीवन एक काव्य-ग्रन्थ के लिए उपयुक्त हो सकता है। 'साकेत सन्त' में भरत के पावन चरित्र का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। वर्तमान युग की बौद्धिकता के प्रभाव के फलस्वरूप इसमें कल्पना अथवा भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता की प्रधानता है। यही कारण है कि इसमें यत्र-तत्र शुष्कता भी आ गई है, किन्तु मार्मिक स्थलों के वर्णन में कवि ने अपनी भावुकता का अच्छा परिचय दिया है। वर्तमान युग की विचार-धाराओं से भी 'साकेत सन्त' का कवि पर्याप्त प्रभावित है। एक राष्ट्रीयता, भारत की अखण्डता और गांधीवादी नैतिकता की भावनाएँ इसमें यत्र-तत्र मिल जाती हैं।

कृष्ण-चरित्र पर लिखे काव्य-ग्रन्थों में हरिऔध जी का 'प्रिय-प्रवास' प्रमुख है। इसमें करुण तथा वियोग शृङ्गार के अतिरिक्त वात्सल्य के वियोग पक्ष की प्रमुखता है। हरिऔध जी ने आधुनिक दृष्टिकोण से राधा कृष्ण के चरित्र की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। कृष्ण नायक हैं, यद्यपि काव्य-ग्रन्थ में उनका प्रत्यक्ष अवतरण बहुत थोड़ा ही है। कृष्ण के लोकरंजक रूप का वर्णन तो पर्याप्त हो चुका है, किन्तु उनके लोक-रक्षक रूप का वर्णन नहीं हुआ। हरिऔध जी ने इस कमी को पूर्ण करने का प्रयत्न किया है, उन्होंने कृष्ण के प्रेमी हृदय के प्रदर्शन के साथ उनके कर्त्तव्य-परायण रूप का भी दिग्दर्शन कराया है। कृष्ण रूप, सौन्दर्य तथा सहृदयता आदि गुणों से युक्त महापुरुष हैं, उनमें सेवा-भाव की प्रधानता है। नवयुवकों के वह स्वभाव-सिद्ध नेता हैं, वृद्धों के प्रिय हैं

और व्रज-युवतियों के आराध्य। क्या नन्द, क्या यशोदा, क्या गोप, क्या आभीर और क्या गोपियाँ सभी उनके गुणों पर मुग्ध हैं। गोपियों से गो-रस सम्बन्धी छेड़-छाड़ चीर-हरण आदि की लीलाओं को हरिऔध जी ने अपने ग्रन्थ में नहीं रखा। उनके लोक-हितकारी रूप को ही हरिऔध जी ने प्रधानता प्रदान की है :

प्रवाह होते तक शेष-श्वास के,
सरक्त होते तक एक भी शिरा।
सशक्त होते तक एक लोभ के,
किया करूँगा हित-सर्व भूत का॥

कृष्ण चरित्र से सम्बन्धित अलौकिक कथाओं की व्याख्या कवि ने अपने ढंग पर की है। उँगली पर गोवर्धन-धारण की कथा निम्न लिखित रूप में गृहीत की गई है :

लख अपार प्रसार, गिरीन्द्र में,
व्रजधराधिप के प्रिय पुत्र का।
सकल लोक लगे कहने उसे,
रख लिया है उँगली पर श्याम ने॥

यह आधुनिक युग की बौद्धिकता की प्रधानता का ही परिणाम है।

काव्य की नायिका राधा में भी कवि ने कर्तव्य-भावना की प्रधानता दिखाई है। राधा रूप-गुण-सम्पन्ना संयमशीला युवती के रूप में चित्रित की गई है। हृदय से श्याम घन से मिलने की इच्छुक होती हुई भी वह केवल अपने वैयक्तिक स्वार्थ के लिए कृष्ण को कर्तव्य-विमुख नहीं करना चाहती :

प्यारे जीवें, जग-हित करें, गेह चाहे न आवें।

कहीं-कहीं लोक-हित की यह भावना प्रेम की प्रबलता के कारण दब भी गई है, परन्तु राधा ने अपनी एतद्विषयक स्वाभाविक कमजोरी का वर्णन अत्यन्त मार्मिकता से किया है :

मैं नारी हूँ, तरल उर हूँ, प्यार से वंचिता हूँ।
जो होती हूँ विकल-विमना-व्यस्त वैचित्र्य क्या है?

प्रेम और कर्तव्य-भावना में संघर्ष स्वाभाविक है, किन्तु ऐसी अवस्था में लोक-हित की भावना को ही प्रमुखता दी जानी चाहिए। राधा ने ऐसा ही किया है, लोक-हित के लिए उसने अपने स्वार्थ की बलि दे दी है। राधा का विरह-वर्णन भी बहुत शिष्ट और सौम्य है।

यशोदा तथा नन्द आदि का चित्रण भी बहुत मार्मिक है। प्रकृति-वर्णन

प्रसंगानुकूल है। काव्य के नायकों की आन्तरिक प्रकृति के अनुकूल बाह्य प्रकृति का चित्रण भी हुआ है। ऋतु-वर्णन में भी कवि ने अवसर की अनुकूलता का ध्यान रखा है; जैसे, दावाग्नि के समय ग्रीष्म का वर्णन और गोवर्धन-धारण के समय वर्षा का। 'प्रिय प्रवास' की भाषा संस्कृत-गर्भित है, किन्तु अनेक स्थलों पर ब्रज, अवधी तथा अरबी-फारसी के शब्द भी प्रयुक्त किये गए हैं। संस्कृत के अपरिचित शब्दों के प्रयोग के कारण भाषा क्लिष्ट हो गई है। विविध छन्दों का प्रयोग सुन्दर बन पड़ा है। भाषा, भाव और महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार 'प्रिय प्रवास' की समीक्षा उसकी उत्कृष्टता को संदिग्ध नहीं रहने देती। किन्तु कथानक के स्खलन और विरह-वर्णन की प्रधानता के कारण 'प्रिय प्रवास' की कथा का प्रवाह अटूट नहीं रहा।

पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र द्वारा लिखित 'कृष्णायन' नामक महाकाव्य भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। मिश्र जी ने सम्पूर्ण कृष्ण-चरित्र को अपने प्रबन्ध-काव्य का विषय बनाया है। पुस्तक की भाषा अवधी है, और गोस्वामी जी के अनुकरण पर उन्होंने भी दोहा, चौपाई और सोरठा छन्द को अपनाया है। 'कामायनी' हिन्दी का उत्कृष्टतम महाकाव्य है। 'प्रसाद' जी ने मानवीय संस्कृति और मानवीय भावनाओं की अपने इस महान् काव्य-ग्रन्थ में विशद व्याख्या की है। कामायनी का कथानक ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद् तथा श्रीमद्भागवत पर आधारित है।

कथानक के विभिन्न तत्त्वों को शृङ्खला-बद्ध करने के लिए कवि ने कल्पना से भी काम लिया है। काव्य के मुख्य पात्र तीन हैं—मनु, श्रद्धा तथा इड़ा; यदि मानव की महत्ता को स्वीकार किया जाय तो साढ़े तीन। मनु द्वारा नूतन मानव-सृष्टि का प्रादुर्भाव और विकास ही इस कथानक की आधार-भूमि है, किन्तु इस कथानक के साथ-ही-साथ आध्यात्मिक विवेचन के लिए रूपक भी चलता रहता है। मनु, इड़ा तथा श्रद्धा अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखते हुए भी सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, क्योंकि 'मनु अर्थात् मन के दोनों पक्षों—हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।' इस प्रकार 'कामायनी' में ऐतिहासिक घटनाओं के साथ रूपक का भी बहुत सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है।

केवल कथानक की दृष्टि से 'कामायनी' का अध्ययन करने वाले पाठक को अवश्य ही निराश होना पड़ेगा। क्योंकि कथानक बहुत संक्षिप्त और कहीं-कहीं विशृङ्खल भी है। कथा का प्रारम्भ हिमालय के हिमावृत शैल-शृङ्गों से होता है। प्रलय के अनन्तर केवल मनु बच रहते हैं, वे हिमालय की एक सुदृढ़ चट्टान

पर बैठकर देव-सृष्टि के विगत विलास का चिन्तन करते हैं। उनका जीवन अभाव-मय है और उसी के परिणामस्वरूप उनके मन में प्रथम बार चिन्ता का आगमन होता है। परन्तु प्रलय-रात्रि के अवसान के अनन्तर सूर्योदय की सुनहली किरणों के साथ ही एक बार फिर मनु के हृदय में आशा जागृत हो जाती है। देव-सृष्टि के दम्भ, विलास और वैभव की निरर्थकता को अनुभव करते हुए वे इस विराट् विश्व में व्याप्त किसी 'अनन्त रमणीय' की खोज के लिए आकुल हो उठते हैं। इसी वातावरण में वे यज्ञ करने का निश्चय करते हैं। किन्तु शीघ्र ही उन्हें अपना यह एकाकी जीवन बोझल हो उठता है, तभी काम-गोत्रजा श्रद्धा का आगमन होता है। श्रद्धा के प्रणय में आबद्ध होकर मनु उसकी प्राप्ति के लिए चंचल हो उठते हैं। यज्ञ-कर्म के अनन्तर सोम-पान करके दोनों उत्तेजना के वशीभूत हो एकान्त में मिलते हैं। शीघ्र ही श्रद्धा गर्भवती होकर भावी शिशु के लिए पर्ण-कुटी का निर्माण करती है। मनु श्रद्धा की इस संलग्नता से ईर्ष्यायुक्त हो उसे छोड़कर चले जाते हैं। सारस्वत देश में पहुँच मनु इड़ा के निमन्त्रण पर शासन-भार सँभालकर यन्त्रमयी मानव-सभ्यता का निर्माण करते हैं। सुख के सभी साधन एकत्र किये गए, किन्तु मनु की प्यास न बुझी; वह इड़ा को पाने लिए आकुल हो उठे। इड़ा ने कहा, "मैं तुम्हारी प्रजा हूँ।" मनु ने कहा, "किन्तु मैं तुम्हें रानी बनाना चाहता हूँ।" इड़ा पर अनधिकार-चेष्टा के फलस्वरूप प्रजा के अतिरिक्त सम्पूर्ण देव-वर्ग मनु पर कुपित हो उठा। संघर्ष (युद्ध) प्रारम्भ हुआ, प्रलय की अवस्था उत्पन्न हो गई, मनु संघर्ष में आहत होकर, मूर्च्छित हो गए।

इधर श्रद्धा ने स्वप्न में यह सब-कुछ देखा, वह मानव को साथ लेकर मनु की खोज करती हुई सारस्वत देश पहुँचती है। घायल मनु श्रद्धा के कर-स्पर्श से शीघ्र ही चेतना-युक्त हो जाते हैं। वहाँ श्रद्धा मानव को इड़ा को सौंपकर मनु के साथ कैलाश की ओर चल पड़ती है, मार्ग में वह आकाश में स्थित इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान लोक का रहस्य मनु को बतलाती है। कैलाश पर्वत के उस निर्जन प्रान्त में रहकर ही वे दोनों तप करते हैं और अखण्ड आनन्द में लीन हो जाते हैं। बहुत दिनों के पश्चात् एक दिन इड़ा और मानव एक तीर्थ-यात्रियों के दल के साथ मनु और श्रद्धा को खोजते हुए वहाँ पहुँचते हैं, और श्रद्धा तथा मनु के उपदेश को पाकर वे भी अखण्ड आनन्द में निमग्न हो जाते हैं।

प्रारम्भिक सर्गों में कथा का प्रवाह कुछ धीमा है। ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि ने चिन्ता, काम, आशा, लज्जा आदि सर्गों के रूप में स्वतन्त्र गीतों की रचना की हो। अन्तिम भाग में कथा का प्रवाह तीव्र है, और घटना-क्रम भी

सुव्यवस्थित है। यद्यपि कवि ने अपनी उर्वरा कल्पना द्वारा रोचकता को बनाए रखने का प्रयत्न किया है, फिर भी कहीं-कहीं कथानक उखड़ गया है।

कलात्मक विकास की दृष्टि से 'कामायनी' प्रसाद जी की कला की चरम सीमा है। कवि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावों को भी शब्द-चित्र द्वारा प्रस्तुत करने में बहुत सफल हुआ है। 'चिन्ता'-जैसे अव्यक्त भाव को भी प्रसाद जी ने शब्दों में इस प्रकार उपस्थित किया है कि वह हमारे सामने स्पष्ट चित्रवत् साकार हो जाती है। इसी प्रकार 'लज्जा' सर्ग में भी कवि ने लज्जा का अनुपम चित्र यों प्रस्तुत किया है :

> नीरव निशीथ में लतिका-सी तुम कौन आ रही हो बढ़ती?
> कोमल बाँहें फैलाये-सी आलिंगन का जादू पढ़ती॥
> किन इन्द्र-जाल के फूलों से लेकर सुहाग-कण राग-भरे;
> सिर नीचा कर हो गूँथ रही माला जिससे मधु-धार ढरे?
> छूने में हिचक, देखने में पलकें आँखों पर झुकती हैं।
> कलरव परिहास भरी गूँजें अधरों पर सहसा रुकती हैं॥
> संकेत कर रही रोमाली चुपचाप बरजती खड़ी रही।
> भाषा बन भौंहों की काली रेखा-सी भ्रम में पड़ी रही॥
> तुम कौन? हृदय की परवशता? सारी स्वतंत्रता छीन रहीं।
> स्वच्छन्द सुमन जो खिले रहे जीवन-वन से हो बीन रहीं॥

प्रसाद जी की कल्पना बहुत रंगीन है, मानवीय चित्र भी बहुत आकर्षक हैं, श्रद्धा का यह शब्द-चित्र देखिए :

> मसृण गान्धार देश के नील,
> रोम वाले मेषों के चर्म।
> ढक रहे थे उसका वपु कान्त,
> बन रहा था वह कोमल वर्म॥
> नील परिधान बीच सुकुमार,
> खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
> खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
> मेघ बन बीच गुलाबी रंग॥
> आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम-
> बीच जब घिरते हो घनश्याम।
> अरुण रवि-मण्डल उनको भेद
> दिखाई देता हो छवि-धाम॥

अवयव की दृढ़ माँस-पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य अपार में मनु का, और बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल में इड़ा का बहुत ही सुन्दर शब्द-चित्र बना है।

'कामायनी' में प्रकृति निरन्तर कवि के साथ है। प्रकृति के भयंकर और सुकुमार दोनों ही रूपों का वर्णन चित्रोपम है। कवि ने पात्रों की अवस्था के अनुकूल ही प्रकृति की अवस्था चित्रित की है। जब श्रद्धा और मनु का मिलन होता है तब मधुमय बसन्त की उपस्थिति होती है, और जब इड़ा और मनु में मतभेद हो जाता है तो प्रकृति भी क्षुब्ध हो उठती है।

'कामायनी' के कवि की सबसे बड़ी विशेषता उसकी मौलिकता है, वह नक्काल नहीं है। उसने जो-कुछ लिखा है वह शत-प्रतिशत उसकी अपनी अनुभूति है। विश्व और जीवन की समस्याओं को उसने अपने दृष्टिकोण के अनुसार देखा और उनका सुलझाव भी अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही किया। सस्ती भावुकता के प्रेमी पाठकों के लिए 'कामायनी' की रचना नहीं हुई, उसका लक्ष्य तो चिन्तनशील सरस हृदय है।

प्रसाद जी ने श्रद्धा द्वारा मानव को इड़ा के सुपुर्द करके बुद्धि और श्रद्धा के समन्वय का प्रयत्न किया है। यंत्र-युग की भौतिकता को निन्द्य ठहराकर उन्होंने गांधीवाद का समर्थन किया है, और जीवन की आनन्द के रूप में परिणति करके उन्होंने शैव-दर्शन का प्रतिपादन किया है। 'कामायनी' में प्रकृति के विभिन्न रूपों का चित्रण किया गया है, सांस्कृतिक विकास और सांस्कृतिक संघर्ष के वर्णन का भी अभाव नहीं। विभिन्न छन्द, रस, रीति तथा अलंकार 'कामायनी' को महाकाव्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं।

'कामायनी' निश्चय ही हिन्दी-साहित्य के नवयुग का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य और विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि है। वैयक्तिकता की प्रधानता के फलस्वरूप आधुनिक युग में महाकाव्य अधिक नहीं लिखे जा रहे, गीति-काव्य की ही प्रधानता है। उपर्युक्त महाकाव्यों के अतिरिक्त 'वैदेही-वनवास' (हरिऔध), 'कुरुक्षेत्र' (दिनकर), 'आर्यावर्त्त' (मोहनलाल महतो 'वियोगी'), 'दैत्यवंश' (हरदयालुसिंह), 'नूरजहाँ' (गुरुभक्तसिंह 'भक्त') आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

१४. पाश्चात्य महाकाव्य

महर्षि वाल्मीकि की भाँति होमर (Homer) पाश्चात्य साहित्य का सर्वप्रथम महाकवि माना जाता है, और उसके 'इलियड' (Illiad) में ग्रीक के इतिहास में प्रसिद्ध 'ट्राजन-वार' नामक युद्ध का वर्णन किया गया है। ट्राय के

राजकुमार पेरिस द्वारा मेनिलास की स्त्री रूपवती हेलेन के भगाए जाने पर इस युद्ध का प्रारम्भ हुआ। बहुत भीषण युद्ध हुआ। ग्रीस-निवासियों की विजय हुई और हेलेन मेलिनास को मिल गई।

'ओडेसी' (Odyssey) में यूलीसिस नामक ग्रीक-नरेश की रोमांचकारी यात्रा का वर्णन है। होमर एक महान् प्रतिभा-सम्पन्न कवि था उसकी कल्पना-शक्ति बहुत उर्वरा थी। उसके काव्य के पात्र सशक्त हैं, उसने अत्यन्त सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विवेचन करके उनका बहुत सुन्दर चित्रण किया है। सुप्रसिद्ध अंग्रेज आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड ने होमर के काव्य में तीन प्रमुख गुण माने हैं—

(१) *वेग*—होमर की कविता पहाड़ी निर्झर की भाँति वेगमयी है।

(२) *विशदता*—होमर की कविता के भाव बहुत विशद और प्रसाद गुण-युक्त हैं।

(३) *भावों की उच्चता*—यह मनुष्यत्व में देवत्व की स्थापना करती है।

होमर के काव्य में हम ग्रीस की सभ्यता को प्रतिबिम्बित होता हुआ पाते हैं।

वर्जिल (Vergil) का 'इनियड' (Aenied) होमर के काव्य के नमूने पर ही आधारित है।

इटली का दाँते नामक कवि पाश्चात्य साहित्य में होमर और वर्जिल की टक्कर का कवि माना जाता है। १८ वर्ष की अवस्था में एक रूपवती कुमारी पर मुग्ध होकर दाँते ने एक अमर प्रेम-प्रधान गीति-काव्य की रचना की। किशोरावस्था के इस सफल प्रेम ने दाँते के सम्पूर्ण जीवन को संवेदन-प्रधान बना दिया। 'डिवाइन कामेडी' दांते का महाकाव्य है, इसके प्रथम खण्ड में नरक की कथा है, दूसरे में पाप-क्षय-भूमि का वर्णन है, और तीसरे में स्वर्ग का।

मिल्टन (Milton) के 'पैराडाइज़ लास्ट' (Paradise Lost) में ईश्वर के विरुद्ध शैतान के विद्रोह तथा पतन का और मनुष्य के उद्धार का वर्णन है। इसमें साम्प्रदायिक भावनाओं की प्रधानता है, वह अपने युग का प्रतिनिधि ग्रन्थ नहीं।

पाश्चात्य साहित्य में इस प्रकार के अनेक महाकाव्यों की रचना हुई, परन्तु 'इलियड' तथा 'ओडेसी' की-सी क्षमता उनमें अप्राप्य है।

१५. खण्ड काव्य

साहित्य दर्पणकार पंडित विश्वनाथ ने खण्ड काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है :

तत्तु घटना प्राधान्यात् खण्डकाव्यमिति स्मृतम्।

अर्थात् खण्ड काव्य वह है जो किसी घटना विशेष को लेकर लिखा गया हो। अन्यत्र खण्ड काव्य का लक्षण इस प्रकार किया गया है :

खंड काव्य भवेत् काव्यस्यैक देशानुसारि च।

अर्थात् खण्ड-काव्य वह है जो किसी महानायक के जीवन के एक ही पहलू अथवा तत्सम्बन्धी एक ही घटना पर प्रकाश डाले। इस प्रकार खण्ड काव्य में एक ही घटना की प्रधानता होती है, और उसमें मानव-जीवन के एक ही अंश पर प्रकाश डाला जाता है। अतः जिस श्रव्य काव्य में किसी महापुरुष के जीवन के एक ही अंग का विश्लेषण हो उसे हम खण्ड काव्य कह सकते हैं। खण्ड-काव्य में एक ही छन्द प्रयुक्त होता है। खण्ड काव्य की आधुनिक एकांकी से तुलना की जा सकती है।

हिन्दी में खण्ड काव्य—हिन्दी-साहित्य में खण्डकाव्य की परम्परा विभिन्न रूप में विकसित हुई है; हिन्दी-साहित्य के आदि काल में राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों की अस्थिरता के कारण काव्य के इस अंग की पर्याप्त अभिवृद्धि नहीं हो सकी।

भक्ति काल की प्रेमाश्रयी शाखा के कवियों द्वारा लिखित मृगावती (कुतबन), चित्रावली (उसमान), ज्ञान-दीप (शेखनबी) तथा इन्द्रवती (नूर मुहम्मद) इत्यादि प्रेम-गाथाएँ खण्ड-काव्य के अन्तर्गत गृहीत की जा सकती हैं। क्योंकि इनमें प्रबन्धात्मक तत्त्वों का अभाव है। कथा-तत्त्व और छन्द की दृष्टि से इन्हें खण्ड-काव्य ही समझना चाहिए।

गोस्वामी तुलसीदास, नरोत्तमदास और आलम, ये भक्ति काल के तीन प्रमुख खण्ड काव्य-रचयिता हैं। गोस्वामी जी के कवितावली, गीतावली, जानकी-मंगल और पार्वती-मंगल उत्कृष्ट खण्ड-काव्य हैं। नरोत्तमदास का 'सुदामा-चरित' तो बहुत प्रसिद्ध है, इसमें करुण रस की प्रधानता है, और इसकी भाषा अत्यन्त मधुर और प्रसाद-गुण-युक्त ब्रजभाषा है। काव्य के प्रधान नायक कृष्ण हैं। सुदामा के दैन्य का बहुत मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है। 'सुदामा-चरित' का निम्न लिखित पद्य बहुत प्रसिद्ध है :

सीस पगा न झगा तन पै, प्रभु जाने को आहि, बसे केहि ग्रामा।
धोती फटी-सी लटी दुपटी अरु, पाय उपानहु को नहिं सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक, रह्यो चकि सों वसुधा अभिरामा।
पूछत दीन दयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा॥

आलम का 'माधवानल काम कंदला' एक सुन्दर खण्ड काव्य है, इसमें शृङ्गार और प्रेम की प्रधानता है। नन्ददास का 'भ्रमर-गीत' और 'रासपंचा-

ध्यायी' भी उत्कृष्ट खण्ड काव्य हैं, इनके कथानक प्रायः पौराणिक हैं।

रीति काल में सुजान-चरित्र (सूदन), छत्रप्रकाश (लाल) तथा हमीर हठ (चन्द्र शेखर) इत्यादि अनेक ऊँचे दर्जे के खण्ड काव्य लिखे गए। व्रजवासी-दास, पद्माकर तथा सबलसिंह चौहान ने भी इस विषय में विशेष प्रयत्न किया। नवयुग के प्रारम्भ में पंडित श्रीधर पाठक ने जभाषा तथा खड़ी बोली में बहुत सुन्दर खण्ड काव्य लिखे। 'उजड़ ग्राम' तथा 'श्रान्त पथिक' दोनों अंग्रेजी कवि गोल्डस्मिथ (Gold smith) के काव्यों के अनुवाद हैं। बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' द्वारा लिखित 'गंगावतरण', 'उद्धव शतक' तथा 'हरिश्चन्द्र' उत्कृष्ट खण्ड काव्य हैं। तीनों खण्ड-काव्यों की कथा पौराणिक है। भाषा विशिष्ट प्रवाह तथा ओजयुक्त है। वर्णन की मार्मिकता तथा कथा की रोचकता रत्नाकर जी के काव्यों की प्रमुख विशेषता है। इसी समय पंडित नाथूरामशंकर ने 'वायस-विजय' तथा 'गर्भरण्डारहस्य' नामक खण्ड काव्य लिखे थे। उनकी कथा मनोरंजक है, करुण रस की प्रधानता है, भाषा में ओज और प्रवाह है। बाबू मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ-वध' आचार्यों के लक्षण के अनुरूप है। महा-भारत के जयद्रथ की कथा इसका आधार है, वीर तथा करुण रस की प्रधानता है। भाषा प्रसंगानुकूल तथा प्रवाहमयी है। सम्पूर्ण काव्य में हरिगीतिका छन्द ही प्रयुक्त किया गया है। एक पद्य देखिए :

मेरे हृदय के हार हा ! अभिमन्यु अब तू है कहाँ ?
दृग खोलकर बेटा ! तनिक तो देख हम सबको यहाँ ॥
मामा खड़े हैं पास तेरे, तू मही पर है पड़ा।
हा ! गुरुजनों के मान का तो बोध था तुझको बड़ा ॥

'जयद्रथ-वध' के अतिरिक्त गुप्तजी के 'पंचवटी' 'अनघ' 'काबा कर्बला' तथा 'नहुष' भी सफल खण्ड काव्य हैं। गुप्तजी के अनुज श्री सियारामशरण गुप्त जी हिन्दी के एक उत्कृष्ट कवि हैं, उन्होंने 'मौर्य-विजय' तथा 'रंग में भंग' नामक दो छोटे खण्ड काव्य लिखे हैं। इन खण्ड काव्यों का कथानक क्रमशः मौर्यकाल तथा राजपूत काल की दो ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित है। 'पथिक', 'मिलन' तथा 'स्वप्न' पंडित रामनरेश त्रिपाठी के तीन बहुत सुन्दर खण्ड काव्य हैं। तीनों काव्यों का कथानक काल्पनिक और चरित्र-चित्रण बहुत सुन्दर है। भावपूर्ण वर्णन-शैली काव्य में चमत्कार और सरसता को द्विगुणित कर देती है। प्रकृति-वर्णन त्रिपाठी जी के खण्ड काव्यों की प्रमुख विशेषता है। ये खण्ड-काव्य प्रायः देश-भक्तिपूर्ण कथानकों पर आधारित हैं। 'पथिक' का यह पद्य देखिए :

राग रथी रवि रागपथी अविराग विनोद बसेरा।
प्रकृति-भवन के सब विभवों से सुन्दर सरस सबेरा॥
एक पथिक अति मुदित उदधि के बीच विचुम्बित तीरे।
सुख की भाँति मिला प्राची से आकर धीरे-धीरे॥

निराला का 'तुलसीदास' भी खण्ड काव्य के अन्तर्गत ही गृहीत किया जाता है। 'नवीन की 'विस्मृता उर्मिला' तथा डॉक्टर रामकुमार वर्मा की 'चित्तौड़ की चिता' आधुनिक समय के सुन्दर खण्ड-काव्य हैं। पन्त जी की 'ग्रन्थि' एक प्रेम-प्रधान सफल खण्ड काव्य है। निराला जी की शैली ओजपूर्ण है। डॉक्टर रामकुमार वर्मा के खण्ड काव्य में वर्णन की प्रधानता है, और पन्त जी की 'ग्रन्थि' प्रेम-कथा पर आधारित है।

सामयिक युग में कथा-काव्य के ह्रास के कारण खण्ड काव्य की परम्परा का विशेष विकास नहीं हो रहा।

१६. मुक्तक काव्य

प्रबन्ध काव्य का विवेचन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है, अब हम कविता के दूसरे प्रमुख भेद—मुक्तक काव्य पर विचार करेंगे। मुक्तक काव्य में प्रबन्ध काव्य के समान कथा द्वारा रसाभिव्यक्ति नहीं होती। उसमें प्रत्येक अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है और बिना किसी पूर्वापर प्रसंग के अर्थ को प्रकट कर देता है।

अभिनव गुप्ताचार्य ने इसीलिए कहा है: **पूर्वापर निरपेक्षाति येन रस चर्वणा क्रियते तन्मुक्तम्।** अर्थात् पूर्वा पर प्रसंग और पद्यों का सहारा न होने पर भी जिसमें रस की अभिव्यक्ति हो जाय उसे मुक्तक कहते हैं। 'अग्नि पुराण' में कहा गया है: **मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारः क्षमः सताम्।** अर्थात् मुक्तक रचना उसे कहते हैं जो अपना अर्थ व्यक्त करने में स्वतः समर्थ हो।

पीछे हमने सुप्रसिद्ध आलोचक बा० गुलाबराय के अनुसार मुक्तक काव्य के पाठ्य और गेय दो भेद किये हैं, वस्तुतः यह भेद बहुत स्थूल हैं और केवल अध्ययन की सुविधा के लिए ही किये गए हैं। गेय तथा पाठ्य मुक्तक की विभाजक रेखा अत्यन्त सूक्ष्म है। हिन्दी-साहित्य में नीति, शृङ्गार तथा वीर रस-विषयक सूक्तियाँ और दोहे पाठ्य मुक्तक के अन्तर्गत ही गृहीत किये जाते हैं।

१७. प्रगीत-काव्य

गेय मुक्तक प्रगीत-काव्य कहलाते हैं। प्रगीत में वैयक्तिक अनुभूति की प्रधा-

नता रहती है, अतः गीति-काव्य की सर्जना तभी होती है जब भावों के आवेश से प्रेरित होकर निजी उद्‌गारों को काव्योचित भाषा में प्रकट किया जाता है। ये भाव स्वयं कवि के अथवा उसके जीवन से सम्बन्धित भी हो सकते हैं और कवि-निर्मित किसी पात्र के भी। कहने का अर्थ तो यह है कि सजीव भाषा में व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसकी आन्तरिक अनुभूतियां तथा भावों के साक्षात् कराने की क्षमता ही प्रगीत-काव्य की विशेषता है। किन्तु व्यक्तिगत भाव और अनुभूति की तीव्रता प्रगीत-काव्य में रागात्मकता को भर देती है। गीति-काव्य में रागात्मकता, निजीपन और अनुभूति की प्रधानता रहती है।

प्रगीत-काव्य का कवि गीति-काव्य में जो-कुछ कहता है, वह उसकी निजी अनुभूति होती है, उसमें उसके अपने दृष्टिकोण की प्रधानता रहती है। व्यक्तित्व की इसी प्रधानता के साथ गीति-काव्य में रागात्मकता आ जाती है। अतः प्रगीत-काव्य में संगीत दूसरा प्रधान तत्त्व है, किन्तु यह संगीत बाह्य कम और आन्तरिक अधिक होता है। प्रगीति-काव्य की भाषा सरल, सरस, सुकुमार और मधुर होनी चाहिए। अपरिचित और मनगढ़न्त शब्दों का प्रयोग तथा अनुप्रास और दार्शनिक शब्दों की भरमार गीति-काव्य में वर्जित है। शैली की दृष्टि से भी, गीति-काव्य में सरलता तथा सुकुमारता होनी आवश्यक है। भावों की स्पष्टता, भाषा और विषय का तथा विषय और भाव का सामञ्जस्य गीति-काव्य की प्रभावोत्पादकता और पूर्णता के लिए आवश्यक है। साहित्यिक संक्षेप का सर्वाधिक प्रयोग गीति-काव्य में ही होता है, क्योंकि भाव तथा संगीत में तीव्रता उत्पन्न करने के लिए विस्तार की कमी अनिवार्य है।

उपर्युक्त तत्त्वों को दृष्टि में रखते हुए सुश्री महादेवी वर्मा ने गीति-काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है :

सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था, विशेषकर गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।[1]

प्रगीत-काव्य का मुख्य रूप गीत ही है।

१८. प्रगीत-काव्य का वर्गीकरण

वर्गीकरण के आधार की विविधता के कारण गीति-काव्य के भी विभिन्न भेद हो सकते हैं। जातीय या राष्ट्रीय आधार को ग्रहण करते हुए हम प्रगीत-काव्य को अंग्रेजी गीति-काव्य, भारतीय गीति-काव्य तथा फ्रेञ्च गीति-काव्य आदि के रूप में विभाजित कर सकते हैं और भाषा के आधार पर हिन्दी गीति-

---

१. 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' पृष्ठ १४१

काव्य,मराठी गीति-काव्य, उर्दू गीति-काव्य इत्यादि के रूप में। मानसिक, बौद्धिक तथा आकार के आधार पर गीति-काव्य भावात्मक, रागात्मक, विचारात्मक तथा कल्पनात्मक इत्यादि अनेक रूपों में विभाजित हो सकते हैं। अंग्रेजी साहित्य-शास्त्र में गीति-काव्य के विविध रूपों का बहुत सूक्ष्म वर्गीकरण किया गया है, किन्तु हिन्दी गीति-काव्य के लिए उसे उसी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः आकार और वृत्ति (मूड) के अनुसार किया गया वर्गीकरण ही युक्ति-संगत और विज्ञानिक हो सकता है। व्यावहारिक सुविधा के लिए हम निम्न-लिखित प्रकार से गीति-काव्य का वर्गीकरण कर सकते हैं—

१. प्रेम-गीत, २. व्यंग्य-गीत, ३ धार्मिक गीत, ४.शोक-गीत, ५. युद्ध-गीत, ६. वीर-गीत, ७ नृत्य-गीत ८. सामाजिक गीत, ६. उपालम्भ-गीत, १०. गीति-नाट्य, ११ सम्बोधन-गीत तथा १२. सानेट-चतुर्दश पदी गीत इत्यादि।

१. प्रेम-गीत—प्रेम-गीत में प्रेम के दोनों पक्ष—संयोग और वियोग—सम्मिलित हैं। प्रेम-गीत ही सम्भवतः गीति-काव्य का सर्वाधिक प्राचीन रूप है, क्योंकि विरह-पक्ष ही तो कविता का जन्मदाता है। विश्व का प्राचीन साहित्य प्रेम-गीतों में ही उपलब्ध है। 'रामायण' तथा 'मेघदूत' आदि में अनेक सुन्दर गीत प्राप्त हो जाते है, यद्यपि इन गीतों में इतिवृत्त की प्रधानता है। विद्यापति, जयदेव, सूरदास, घनानन्द (सवैये भी गेय होने के कारण गीति-काव्य के अन्तर्गत ही गृहीत किये जा सकते हैं), रसखान, आलम तथा देव और आधु-निक युग में हरिश्चन्द्र, प्रसाद, पन्त, निराला, बच्चन एवं अंचल आदि ने उत्कृष्ट प्रेम-गीत लिखे हैं।

२. व्यंग्य-गीत—व्यंग्य-गीत (Satire) साहित्य और जाति की सजी-वता के परिचायक होते हैं। हिन्दी-साहित्य की अधिकांश राजनैतिक परिस्थितियाँ दासतापूर्ण रहती हैं, इसी कारण इसमें व्यंग्य-गीत का समुचित विकास नहीं हो सका। सूरदास के गीतों में व्यंग्य की मात्रा अवश्य मौजद है। कबीर की अनेक व्यंग्य-प्रधान उक्तियाँ तो बहुत सजीव हैं, एक गंगा-स्नान को जाने वाली स्त्री पर कसी गई कटूक्ति :

> चली है कुल बोरनी गंगा नहाय।
> सतुआ कराइन बहुरी भुंजाइन घूँघट ओट भसकत जाय।
> गहरी बाँधिन मोटरी बाँधिन, खसम के मूँड़े दिहिन धराय॥

तुलसीदास जी ने 'परशुराम-लक्ष्मण-संवाद' तथा 'अंगद-रावण-संवाद' में अपनी व्यंग्य-शक्ति का बहुत सुन्दर परिचय दिया है। आधुनिक युग में व्यंग्य-

प्रधान गीत-लेखकों में निराला सर्वश्रेष्ठ हैं।

३. धार्मिक गीत—धार्मिक गीतों का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है। उत्सवों या संस्कारों के समय गाये जाने वाले गीत आध्यात्मिक विरह-मिलन के तथा रहस्यवादी गीतों के अन्तर्गत गृहीत किये जाते हैं। उत्सव तथा यज्ञ आदि से सम्बन्धित शुद्ध धार्मिक गीत लोक-गीत के ही अङ्ग हैं। आध्यात्मिक विरह-मिलन से सम्बन्धित तथा रहस्यवादी गीत साहित्यिक गीतों के अन्तर्गत गृहीत किये जा सकते हैं। कबीर, दादू तथा सुन्दरदास आदि ने बहुत सुन्दर आध्यात्मिक विरह-मिलन के गीतों की रचना की है। आधुनिक युग में लिखे गए महादेवी तथा प्रसाद के एतद्विषयक गीत हिन्दी की अमूल्य निधि हैं।

४. शोक-गीत—शोक-गीत को अंग्रेजी में एलिजी (Elegy) कहते हैं, हिन्दी में इसका प्रचलन अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव के फलस्वरूप ही हुआ है। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में गीति-काव्य का इस प्रकार का कोई वर्गीकरण नहीं। शोक-गीत के वैयक्तिक प्रेम, विरह, निराशा, मानसिक क्षोभ और देश तथा जाति का ह्रास इत्यादि अनेक विषय हो सकते हैं। करुण रस की इसमें प्रधानता होती है। देश के नेताओं की मृत्यु पर अथवा अपने किसी परमप्रिय के निधन पर लिखी हुई कविताएँ शोक-गीत के अन्तर्गत ही गृहीत की जाती हैं। भाव तथा हार्दिक अनुभूति शोक-गीत के प्राण हैं।

हिन्दी-साहित्य में शोक-गीत की परम्परा बहुत पुरानी नहीं, इन गीतों का समुचित विकास आधुनिक युग में ही हुआ है। एक दृष्टि से तो घनानन्द इत्यादि कुछ प्रेम-मार्गी कवियों के आत्म-पीड़ा-प्रधान सवैये शोक-गीतों के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। किन्तु अंग्रेजी ढंग के शोक-गीत आधुनिक युग की देन हैं। गांधीजी की मृत्यु पर अनेक शोक-गीत लिखे गए हैं। लोकमान्य तिलक, मालवीयजी तथा अन्य नेताओं की स्मृति में लिखे गए गीत भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आयँगे। भारतेन्दु तथा गुप्तजी की राष्ट्रीय कविताएँ शोकोच्छ्वास से पूर्ण हैं। आधुनिक निराशामय वातावरण में अनेक शोक-गीत लिखे गए हैं, किन्तु इनमें गीति-तत्त्व का अभाव है। प्रसाद जी की कुछ कविताएँ शोक-गीत का बहुत सुन्दर उदाहरण हो सकती हैं। 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना का यह गीत देखिए :

आह ! वेदना मिली विदाई।
मैंने भ्रमवश जीवन-संचित मधुकरियों की भीख लुटाई।
छल-छल थे संध्या के श्रम-कण
आँसू गिरते थे प्रति क्षण-क्षण

मेरी यात्रा पर लेती थी नीरवता अनन्त अँगड़ाई।

इसी प्रकार :

जो घनीभूत पीड़ा थी,
मस्तक में स्मृति-सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर,
वह आज बरसने आई॥

५. युद्ध-गीत और ६. वीर-गीत—युद्ध-गीत और वीर-गीत (Ballads) वस्तुतः एक ही चीज है। वीर-गीतों में कथा-तत्त्व भी विद्यमान रहता है। वीर-पूजन की भावना से वीर-गीत का प्रारम्भ माना जाता है। मानव-समाज में आदि काल से ही वीर-पूजन की भावना विद्यमान रही है, अतः वीर-गीतों का इतिहास बहुत प्राचीन है। 'रामायण', 'इलियड', तथा 'ओडेसी' आदि प्राचीन महाकाव्यों का विकास वीर-गीतों से हुआ है, और उनके मूल में वीर-पूजन की भावना ही विद्यमान है। वीर-गीत की भाषा ओजपूर्ण होनी चाहिए। अनेक बार युद्धों का कारण स्त्रियाँ होती हैं, जहाँ नहीं होतीं वहाँ कवि उसकी कल्पना कर लेते हैं। इस प्रकार वीर-गीतों में शृङ्गार का पुट भी रहता है। गायक द्वारा गीतों में वर्णित हाव-भाव के अनुकरण से वीर-गीतों में नाटकीय तत्त्वों का भी समावेश हो गया है। आधुनिक समय में वीर-गीत का परिष्कृत रूप राष्ट्रीय गीत हैं, किन्तु वे वृत्ति और प्रकृति में परिवर्तित होकर स्वतन्त्र रूप धारण कर चुके हैं।

वीर-गीत का रूप बहुत प्राचीन है, हिन्दी-काव्य के आदि काल में वीर-गीतों की ही प्रधानता है। आल्हा-ऊदल के चरित्र का वर्णन, वीर-गीतों के रूप में ही हुआ है। 'आल्ह-खण्ड' वस्तुतः वीर-गीतों (Ballads) का ही संग्रह है। आधुनिक युग में भी उत्कृष्ट वीर-गीत लिखे गए हैं, निरालाजी की 'यमुना के प्रति', दिनकर जी की 'हिमालय के प्रति' तथा सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' आदि कविताएँ अच्छे वीर-गीत हैं।

७. नृत्य-गीत—नृत्य-गीत का विकास लोक-गीतों (Folk songs) के रूप में हुआ है। ये प्रायः सामूहिक रूप में गाये जाते हैं, इन्हें कोरस भी कह सकते हैं। हिन्दी में नृत्य-गीतों का अभाव है।

८ सामाजिक गीत—सामाजिक गीतों में समाज की रूढ़ि-ग्रस्त व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना होती है। इनमें व्यंग्य की प्रधानता रहती है। कहीं-कहीं कवि अपने गीतों द्वारा पाठकों तथा श्रोताओं को समाज-सुधार के लिए विशेष रूप से प्रेरित करता है।

९. उपालम्भ-गीत—उपालम्भ-गीत विरह में प्रिय की निष्ठुरता के स्मरण से उत्पन्न होते हैं। प्रिय का उपेक्षा भाव हृदय को संतप्त कर देता है, और तभी कोमल उलाहनों से युक्त गीत की सर्जना की जाती है। व्यथा, पीड़ा, विषाद और व्यंग्य उपालम्भ-गीत के प्राण हैं। हिन्दी-साहित्य में सूरदास के उपालम्भ अपनी मार्मिकता के कारण विशेष विख्यात हैं। 'भ्रमर गीत' तो मानो उपालम्भ-काव्य ही है। उसका चन्द्रोपालम्भ-विषयक निम्न लिखित गीत देखिए :

या बिनु होत कहा अब सूनो ?
लेकित प्रगट कियो प्राची दिसि, बिरहिनि को दुख दूनो ?
सब निरदय सुर, असुर शैल, सखि ! सायर सर्प समेत।
धन्य कहौं वर्षा ऋतु तम चुर, औ कमलन को हेत।
जुग-जुग जीवै जरा वापुरी मिलै राहु अरु केत॥

सूरदास का-सा मृदुल उपालम्भ अन्यत्र दुर्लभ है। कविरत्न पंडित सत्य-नारायण का निम्न गीत उपालम्भ-गीत का उत्कृष्ट उदाहरण है :

भयो क्यों अनचाहत को संग ?
सब जग को तुम दीपक, मोहन ! प्रेमी हमहुँ पतंग॥
लखि तव दीपति देह-शिखा में निरति, विरह लौ लागी।
खींचत आप सों आप उतहि यह, ऐसी प्रकृति अभागी॥
यद्दपि सनेह-भरी तव बतियाँ, तउ अचरज की बात।
योग वियोग दोउन में इक सम नित्य जरावत गात॥

१०. गीति-नाट्य—गीति-नाट्य नाटकीय प्रणाली पर आधारित गीति-काव्य है। कवि अपनी अनुभूतियों और भावनाओं की अभिव्यक्ति विभिन्न पात्रों द्वारा करवाता है। गीति-काव्य का यह एक उत्कृष्ट कलात्मक रूप है, केवल सिद्ध-हस्त कवि ही इसमें सफलता प्राप्त कर सकते हैं। प्रसादजी का 'करुणालय' तथा 'महाराणा का महत्त्व', निराला का 'पंचवटी-प्रसंग', भगवतीचरण वर्मा का 'तारा', तथा उदयशंकर भट्ट का 'मत्स्यगन्धा', 'राधा' और 'विश्वामित्र' उत्कृष्ट गीति-नाट्य हैं। 'महाराणा का महत्त्व' का एक पद्य देखिए :

सुन्दर मुख की होती है सर्वत्र ही
विजय, उसे………
प्रिये ! तुम्हारे इस अनुपम सौन्दर्य से
वशीभूत होकर वह कानन-केसरी,

दाँत लगा न सका, देखा—'गांधार का
सुन्दर दाख'—कहा नवाब ने प्रेम से।

११. सम्बोधन-गीत—सम्बोधन-गीत (Ode) का प्रचलन भारतीय साहित्य में भी उपलब्ध है। 'मेघदूत' में यक्ष मेघ को सम्बोधित करके अपनी अवस्था का वर्णन करता है। प्राचीन हिन्दी-साहित्य में भी कभी किसी दूती या दूत अथवा पक्षी को सम्बोधित करके कहे गए गीत प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु उनमें अन्योक्ति की प्रधानता रहती है। आधुनिक ढंग के सम्बोधन-गीतों का प्रचलन अंग्रेजी साहित्य के ओड्स (Odes) के अनुकरण पर हुआ है। सम्बोधन-गीत में किसी वस्तु विशेष—भाव, विचार, युग, प्राकृतिक दृश्य अथवा किसी भी वस्तु—को सम्बोधित करके कवि अपनी भावनाओं, अनुभूतियों तथा विचारों को अभिव्यक्त करता है। शैली की उत्कृष्टता, भावों का उल्लास तथा अक्षुण्ण चमत्कार सम्बोधन-गीत की प्रमुख विशेषताएँ हैं। सम्बोधन-गीत का एक उदाहरण देखिए :

अन्धकार के प्रति

अब न अगोचर रहो सुजान।
निशानाथ के प्रियवर सहचर।
अंधकार स्वप्नों के यान॥
किसके पद की छाया हो तुम ?
किसका करते हो अभिमान ?
तुम अदृश्य हो दृग अगम्य हो,
किसे छिपाये हो छविमान ?

(पन्त)

आज हिन्दी-साहित्य में अनेक सम्बोधन-गीत लिखे जा रहे हैं। निराला की 'यमुना के प्रति', भगवतीचरण वर्मा की 'हिन्दू', 'नव वधू', 'नूरजहाँ' और पन्त की 'छाया' इत्यादि कविताएँ सम्बोधन-गीत के सफल उदाहरण हैं।

१२. सानेट—सानेट (Sonnet) को हिन्दी में चतुर्दश पदी गीत कहते हैं। हिन्दी-साहित्य में इसका प्रचलन अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से ही हुआ है, किन्तु हिन्दी की प्रकृति के विपरीत होने के कारण इसका अधिक प्रचार नहीं हो सका।

अन्य प्रकार—इन भेदों के अतिरिक्त आजकल राष्ट्रीय गीतों की भी रचना हो रही है। प्राचीन काल में वीर-गीत ही रचे जाते थे, किन्तु आज धीरे-धीरे राष्ट्रीय गीत वीर-गीतों का स्थान ले रहे हैं। राष्ट्रीय गीतों में जातीय ओज,

गर्व तथा शालीनता की अभिव्यक्ति होती है। उनमें देश के प्रति गौरव, प्रेम तथा सम्मान की भावना को उत्पन्न किया जाता है। पराधीनता के कारण हिन्दी के राष्ट्रीय गीतों में देश की वर्तमान दुःख-दैन्यपूर्ण अवस्था के वर्णन के साथ अतीत के गौरव की याद बराबर दिलाई जाती है। राष्ट्रीय तथा जातीय जागरण की भावनाओं से पूर्ण गीत भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत गृहीत किये जाते हैं। मैथिली-शरण गुप्त, प्रसाद, पन्त तथा निराला आदि ने राष्ट्रीय भावनाओं से पूर्ण अनेक सुन्दर गीत लिखे हैं। प्रसाद जी द्वारा लिखित एक सुन्दर राष्ट्रीय गीत देखिए :

अरुण यह मधुमय देश हमारा !
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस ताम-रस गर्भ विभा पर
नाच रही तरुशिखा मनोहर
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल-कुंकुम सारा।
लघु सुर-धनु-से पंख पसारे
शीतल मलय समीर सहारे
उड़ते खग, जिस ओर मुँह किये—समझ नीड़ निज प्यारा।
बरसाती आँखों के बादल
बनते जहाँ भरे करुणा जल,
लहरें टकरातीं अनन्त की पाकर जहाँ किनारा।

मातृभूमि की वन्दना में लिखे गए पाठकजी, गुप्तजी तथा दिनकरजी इत्यादि के गीत बहुत सुन्दर, सरस तथा ओजपूर्ण हैं।

उपदेशात्मक (Diadactive) गीत भी लिखे जाते हैं। उपदेश अथवा शिक्षा की प्रधानता इन गीतों की प्रमुख विशेषता होती है। तुलसी, सूर, कबीर, सुन्दर तथा नानक इत्यादि कवियों के अनेक गीत उपदेश-प्रधान हैं। आधुनिक युग में बा० मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔधजी तथा पाठकजी इत्यादि कवियों ने इसी श्रेणी के बहुत-से गीत लिखे हैं। विचार-प्रधान गीत प्रसाद, पन्त तथा निराला द्वारा लिखे गए हैं। पन्तजी के 'गुञ्जन' तथा 'युगवाणी' के अनेक गीत विचारात्मक (Reflective) हैं।

१९. लोक-गीत तथा साहित्यिक गीत

उपर्युक्त गीत दो विभिन्न श्रेणियों—लोक-गीत और साहित्यिक गीत– के अन्तर्गत रखे जाते हैं। वस्तुतः लोक-गीत का विकसित रूप ही साहित्यिक गीत है। लोक-गीत जन-साधारण के जीवन के सन्निकट होते हैं, और उनमें मानव-

जीवन की वासना, प्रेम, घृणा, लालसा तथा उल्लास-विषाद आदि विषयक उन प्रारम्भिक अनुभूतियों का चित्रण होता है जो कि सामाजिक शिष्टाचार से ऊपर नहीं उठ पातीं। वर्णन-सम्बन्धी कृत्रिमता—शैली इत्यादि—से वह सर्वथा स्वतन्त्र होते हैं। साहित्यिक रूढ़ियों तथा प्रतिबन्धों से रहित होने के कारण तथा मानव-मात्र की स्वाभाविक और सहज अनुभूतियों के निकट होने के कारण भावों, अनुभूतियों और जीवन का जो शुद्ध और यथार्थ रूप अपनी सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ लोक-गीत में प्रकट होता है, वह साहित्यिक गीत में अभिव्यक्त नहीं हो सकता। लोक-गीत वस्तुतः उस मानव-संस्कृति और समाज के प्रतिनिधि हैं जो कि नागरिक वातावरण और कलात्मक साहित्यिकता से दूर ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित हैं। शिष्ट, मर्यादित और कलात्मक गीत समाज के केवल उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो कि नागरिक तथा सुसंस्कृत है। इसीलिए लोक-गीत किसी भी देश की जन-संस्कृति, विचार-धारा और चिन्तन-पद्धति की जानकारी में साहित्यिक गीतों की अपेक्षा अधिक सहायक हो सकते हैं।

लोक-गीत को अंग्रेजी में फोक सांग (Folk Song) कहा जाता है, और साहित्यिक प्रगीत को लिरिक (Lyric)। लोक-गीत और साहित्यिक गीत की जीवन के क्रमशः शैशव और यौवन से तुलना की जा सकती है। यदि लोक-गीत शैशव है तो साहित्यिक गीत यौवन। जिस प्रकार शैशव का विकास यौवन है, उसी प्रकार लोक-गीत का विकास साहित्यिक गीत हैं। दोनों का अन्तर स्पष्ट है, किन्तु दोनों में साम्य भी अवश्य है। लोक-गीत का लेखक अपने व्यक्तित्व को सामाजिकता में तिरोहित कर देता है, किन्तु उसका निजीपन इसमें विलुप्त नहीं हो पाता। उत्सव तथा संस्कार आदि के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों के अतिरिक्त चक्की पीसते समय, चर्खा कातते समय तथा धान कूटते समय भी जो गीत गाये जाते हैं, उनमें भी हृदय का उत्साह और मनोरंजन की भावना निरन्तर विद्यमान रहती है। लोक-गीत का सम्बन्ध पारिवारिक जीवन से होता है; प्रेम, विरह, भाई-बहन का स्नेह, ऋतु, पर्व, उत्सव तथा सास-ससुर का बरताव इत्यादि इसके अनेक विषय हो सकते हैं। लोक-गीतों में स्त्रैण भावना की अधिकता होती है, साहित्यिक गीतों में पौरुष की। लोक-गीत सामाजिक जीवन के निकट होते हैं, उनका प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत होता है; साहित्यिक-गीत विशिष्ट वर्ग से सम्बन्धित होते हैं और उनका प्रभाव-क्षेत्र संकुचित होता है। साहित्यिक गीतों में व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है, यद्यपि लोक-गीत का जन्म भी वैयक्तिक अनुभूतियों से ही हुआ है तथापि उसमें कवि का व्यक्तित्व सामाजिक सत्ता में ही समाविष्ट हो जाता है।

प्रम, संयोग-वियोग, विवाह, वधू की विदाई इत्यादि विषयक अनेक सुन्दर लोक-गीत प्रचलित हैं। सुहाग-रात की दीर्घता के लिए की गई इस अभ्यर्थना की मार्मिकता देखिए :

आजु सुहाग के रात चन्दा तुम उइहौ।
चन्दा तुम उइहौ सुरुज मति उइहौ॥
मोर हिरदा बिरस जनि किहेउ मुरुग मति बोलेउ।
मोर छतिया बिहरि जनि जाइ तु पह जिनि फाटेउ॥
आजु करहु बड़ि राति चन्दा तुम उइहौ।
धिरे-धिरे चल मोरा सुरुज बिलम करि अइहो॥

युवती के हार्दिक उत्साह का यह बहुत सुन्दर चित्रण है।

आज लोक-गीतों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। पं० रामनरेश त्रिपाठी, श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, कृष्णानन्द गुप्त, सूर्यकरण पारीक, नरोत्तम स्वामी, रामसिंह, राम इकबालसिंह 'राकेश', श्याम परमार, श्यामाचरण दुबे तथा कृष्णचन्द्र शर्मा 'चन्द्र' इत्यादि ने लोक-गीतों के संग्रह पर बहुत परिश्रम किया है।

साहित्यिक गीतों का रूप और वृत्ति के अनुसार हम पीछे वर्गीकरण कर आए हैं, और उनके रूप पर भी विचार कर चुके हैं। हिन्दी के गीतों में संवेदना की प्रधानता है, कथाश्रित गीतों की रचना कम ही होती है।

२०. साहित्यिक गीतों में प्रकृति-चित्रण

प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करने की प्रवृत्ति बहुत पुरानी है, आज भी कवि भावातिरेक में सब बन्धनों से मुक्त होकर प्रकृति में एकाकार होने का प्रयत्न करता है। हिमाच्छादित शैल-शृङ्गों में, निरन्तर झरते झरनों में, पुष्पों से लदी लताओं में, आकाश में घिरते श्याम मेघों में, शरत् की चन्द्रिका और बसन्त की मादकता में, कवि किसी रहस्यमय अज्ञात शक्ति को अनुभव करके उद्वेलित हो उठता है। प्रकृति में उस विराट् के दर्शन की लालसा बहुत प्राचीन है। आज भी छायावादी तथा रहस्यवादी कवि प्रकृति द्वारा परमात्मा की अनुभूति को प्राप्त करते हैं। रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति-चित्रण उद्दीपन के रूप में किया है। किन्तु गीति-काव्य मे न तो शुद्ध प्रकृति-चित्रण ही हो सकता है और न उद्दीपन के रूप में वर्णन ही। गीति-काव्य का सम्बन्ध भावना अथवा अनुभूति से होता है, वह प्राकृतिक सौन्दर्य के उपकरणों को महत्त्व अवश्य देता है, किन्तु अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति ही उसका मुख्य उद्देश्य होता है। वह अपनी अनुभूति तथा भाव को प्रकृति के सौन्दर्य में एकाकार करके उसमें तीव्रता ला देता

है। गीतिकार कवि प्रकृति को अपनी अनुभूति से अधिक महत्त्व नहीं दे सकता। इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण में प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता रह सकती है, किन्तु कवि अपनी भावनाओं का विस्तार उसमें प्राप्त करता है। सावन में घिरते-घुमड़ते मेघों को देखकर उसे प्रियतमा की याद आ जाती है, वह उसे लक्ष्य करके अपनी विरह-संतप्ता प्रेमिका के लिए सन्देश देता है। शरत् की शीतल चन्द्रिका उसे व्यथित कर देती है, वह प्रेम-भरे मधुर क्षणों को स्मरण करके तड़प उठता है, तो वसन्त की मधुर मादक यामिनी मिलन के क्षणों में नवचेतना, नव जीवन, नवीन उत्साह और नवीन पुलक को उत्पन्न करने वाली हो जाती है। मन की अवसादमयी अवस्था के समय खिली हुई चाँदनी स्वप्न-सदृश प्रतीत होती है:

बहुत दिन के बाद आई है उदासी, दर्द अपना जग रहा है।
चाँदनी छाई हुई है सब तरफ, पर चाँद सपना लग रहा है॥

वियोग की अवस्था में ही तो सूरदास की गोपियाँ कहती हैं:

बिनु गुपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब वै लता लगति अति सीतल अब भई विषम ज्वाल की पुञ्जैं॥

कारी घटा देखि बादर की नैन नीर भरि आये में भी कवि अपनी मनोव्यथा को प्रकृति से उद्दीप्त होता हुआ पाता है। आज का कवि भी यही अनुभव करता है:

पर्ण कुंजों में न मर्मर गान।
सो गया थककर शिथिल पवमान॥
अब न जल पर रश्मि-बिम्बित लाल।
मूँद उर में स्वप्न सोया ताल॥
सामने द्रुम-राजि तम साकार।
बोलते तम में विहग दो-चार॥
झींगुरों में शोर खग के लीन।
दीखते ज्यों एक रव अस्पष्ट अर्थ-विहीन॥
दूर श्रुत अस्फुट कहीं की तान।
बोलते मानो तिमिर के प्रान॥

(दिनकर)

छायावादी तथा रहस्यवादी कवियों के प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी गीतों में प्रकृति का मानवीकरण किया गया है। प्रकृति के रम्य उपकरणों में मानवीय भावनाओं का आरोप करके उनमें किसी रहस्यमयी अज्ञात शक्ति के अन्वेषण का प्रयत्न

उनमें स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। प्रकृति का प्रत्येक सौन्दर्यशाली उपकरण किसी गहरी अनुभूति और प्रेरणा का वाहक हो जाता है, झरते हुए झरने केवल झरने-मात्र न रहकर जीवन की गतिशीलता के परिचायक हो जाते हैं, मेघ में चमकती हुई विद्युत् जीवन की क्षण-भंगुरता और नश्वरता की याद दिला देती है। इसी जिज्ञासापर्ण प्रवृत्ति को हम महादेवी जी के निम्न लिखित गीत में देख सकते हैं :

कनक-से दिन, मोती-सी रात।
सुनहली साँझ, गुलाबी प्रात॥
मिटाता रँगता वारम्वार।
कौन जग का यह चित्राधार॥
शून्य नभ में तम का चुम्बन।
जला देता असंख्य उडुगन॥
बुझा क्यों उनको जाती मूक।
भोर ही में उजियाला फूँक॥
गुलालों से रवि का पथ लीप।
जला पश्चिम में पहला दीप॥
विहँसती संध्या भरी सुहाग।
दृगों से झरता स्वर्ण-पराग॥
उसे तम की वढ़ एक झकोर।
उड़ाकर ले जाती किस ओर॥

'आ वसन्त रजनी' शीर्षक गीत में महादेवी जी वसन्त का वायवीकरण करके उसे इस रूप में प्रस्तुत करती हैं :

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी !
तारकमय नव वेणी-बन्धन,
शीश फूलकर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय सित घन अवगुण्ठन,
मुक्ता दल अविराम बिछा दें चितवन से अपनी।
पुलकती आ, वसन्त रजनी॥

सन्ध्या-सुन्दरी को परी-सी चित्रित करते हुए निराला जी लिखते हैं :

दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या-सुन्दरी परी-सी

धीरे-धीरे-धीरे !
तिमिरांचल चंचलता का नहीं कहीं आभास
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर—
किन्तु जरा गम्भीर—नहीं है उसमें हास-विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले-काले बालों से
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।

प्रसाद जी ऊषा-नागरी को नायिका के रूप में चित्रित करते हुए प्राकृतिक सौन्दर्य का इस प्रकार मानवीकरण करते हैं :

बीती विभावरी जाग री।
अम्बर-पनघट में डुबो रही
तारा-घट ऊषा नागरी॥
खग-कुल कुल-कुल-सा बोल रहा
किसलय का अंचल डोल रहा
लो यह लतिका फिर भर लाई
मधु-मुकुल नवल रस गागरी।

प्राचीन काल में हिन्दी-कवियों ने प्राकृतिक दृश्यों को उपदेश का साधन बनाकर भी चित्रित किया है।

आज के इस संघर्षमय युग में कवियों के लिए प्रकृति विश्रान्ति का विशेष आश्रय-स्थल है। जब मनुष्य का हृदय स्वजनों के विश्वास-घातों से व्यथित हो उठता है, जब उसके स्नेह-सिक्त स्वप्न भंग हो जाते हैं, जब उसे विश्व में पीड़ा, आह और जलन के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता तब ही वह आकुल होकर कह उठता है :

ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे !
जिस निर्जन में सागर-लहरी
अम्बर के कानों से गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे !

जीवन की वास्तविकताओं से भागकर प्राकृतिक सौन्दर्य में अपने-आपको खोने की प्रवृत्ति छायावादी कवियों में विशेष रूप से उपलब्ध है।

२१. रहस्यवाद

रहस्यवाद अन्तरात्मा की उस रहस्यमय भावना का नाम है जिससे वह

अज्ञात शक्ति को पाना चाहता है और उससे ऐसा गाढ़ा नाता जोड़ना चाहता है जिससे वह और उसका प्रियतम कभी भिन्न न हों। ऐसी भावना प्राप्त होने पर जीवात्मा उसके प्रेम में इतना डूब जाता है कि उसे अपना ज्ञान नहीं रहता। उसे अपने और परमात्मा के बीच एकरूपता ही अनुभव होती है। इस दिव्य एकीकरण में जीवात्मा को इतना आनन्द प्राप्त होता है कि वह बाह्य वस्तुओं से सम्बन्ध तोड़ देता है और उस पर सदैव एक भावोन्माद-सा चढ़ा रहता है। यहाँ तक कि एक में दूसरे के गुण झलकने लगते हैं। जीवात्मा की अन्तःप्रवृत्ति होने के कारण इन्द्रियाँ ठीक विषयों को ग्रहण नहीं करतीं। वह इन्द्रिय-विषयाश्रय बाह्य-प्रवृत्ति को छोड़कर उस भावना के लोक में पहुँचना चाहता है, जहाँ मैं-मेरा और तू-तेरा का ज्ञान ही नहीं रहता। यही रहस्यवाद की विशेषता है। उस दिव्य शक्ति रूप परमात्मा को पाने तथा पाकर उसमें अपने को खो देने की इस अन्तःप्रवृत्ति वाले व्यक्ति को रहस्यवादी कहते हैं।

उत्पत्ति—रहस्यवाद की उत्पत्ति कैसे हुई? जब मनुष्य अपने चारों ओर फ़ैले हुए इस विशाल संसार के प्राकृतिक दृश्यों को देखता है तो उसके हृदय में प्रश्न उठता है कि इस निखिल प्रपंच का मूल क्या है? उसका जीवात्मा इस बात का अनुभव करता है कि इस समस्त प्रपंच का कारण एक अज्ञात शक्ति है। ऐसा अनुभव होते ही वह अज्ञात तथा अव्यक्त की खोज में लगता है। उसके हृदय में एक आध्यात्मिक भावना जागृत होती है, वह उस अज्ञात की आराधना करता है। इस आध्यात्मिक उद्भावना तथा उपासना का ही एक स्वरूप रहस्यवाद है।

मनुष्य जब से अपनी मानवीय विवशता में अथवा प्राकृतिक व्यापारों की विशालता में किसी एक अलक्षित शक्ति के प्रभाव तथा अस्तित्व की कल्पना करने लगा, तब ही से रहस्यवाद का बीजारोपण हुआ। जब उसने यह समझा कि उसकी परिमित शक्तियों और विश्व की अपरिमित शक्तियों का संचालक एक ही सर्व-शक्तिमान् परमात्मा है और उसकी प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है, उसी समय रहस्यवाद की भावना सिहर उठी। वास्तव में रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है। जिसके भावावेश में प्राणी अपने ससीम और पार्थिव अस्तित्व से असीम एवं अपार्थिव महा अस्तित्व के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है। दूसरे शब्दों में 'रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहता है और वह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में भी अन्तर नहीं रह जाता।' रहस्यवाद की सत्ता काव्य में भी है

और दर्शन में भी। काव्य के रहस्यवाद का प्राण भाव है और उसका उद्गम-स्रोत हृदय है। दर्शन के रहस्यवाद का प्राण ज्ञान है और उसका उद्गम मस्तिष्क है। ध्यान रहे, हम यहाँ पर काव्यगत रहस्यवाद का ही विवेचन करेंगे।

काव्यगत रहस्यवाद—हम यह बता चुके हैं कि काव्यगत रहस्यवाद का सम्बन्ध ज्ञान से न होकर हृदय से है। रहस्यवादी कवि एक दार्शनिक की भाँति तर्क-वितर्क की उलझन में नहीं उलझता, वह तो अपनी भावुकता के सहारे अपने प्रिय से मिलने के लिए व्याकुल हो उठता है। (अपनी सूक्ष्म भावना को वह केवल मूर्त आधारों द्वारा ही व्यक्त कर सकता है।) अस्तु उसे रूपकों की शरण लेनी पड़ती है। हिन्दी के आदिम रहस्यवादी कवि कबीर की ये पंक्तियाँ देखिये :

माली आवत देखकर, कलियाँ उठीं पुकार।
फूले-फूले चुनि लिये, काल्हि हमारी बार॥

इस पंक्तियों में जीवन-मरण-सम्बन्धी एक दर्शन के साथ कवि की भावुकता का भी समावेश है और इनके भावों को मूर्त आधारों की सहायता से प्रकट किया गया है।

रहस्यवाद में जीव इन्द्रिय-जगत् से बहुत उठ जाता है। वह अपनी भावुकतामयी भावना से अनन्त और असीम प्रेम के आधार से एक हो जाना चाहता है। क्योंकि 'मैं, मेरा और मुझ' का त्याग रहस्यवाद का एक अति आवश्यक अंग है। हृदय की प्रेममयी भावना साकार होकर अपनी ससीमता को उस असीमता में विलीन कर देना चाहती है। इसी में उसके हृदय की प्रेम-पूर्ति है, जैसे सागर से मिलकर एक जल-बिन्दु की। यहाँ आत्मा अपनी संसारी सत्ता भूलकर गा उठती है :

मैं सबनि औरनि मैं हूँ सब,
मेरी बिलगि-बिलगि बिलगाई हो।
ना हम बार, बूढ़ नाहीं हम,
ना हमरे चिलकाई हो॥

अभिव्यक्ति के प्रतीक—हम पहले लिख चुके हैं कि रहस्यवाद को अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। विषय के अनुसार हमारे प्रतीक भी होने चाहिए। क्योंकि दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए हम रेलगाड़ी का प्रतीक नहीं ले सकते। इसी प्रकार मधुर-भाव की अभिव्यक्ति के लिए हम कटु तथा भावों के विपरीत प्रतीकों द्वारा काम नहीं ले सकते। प्रतीकों में मूल वस्तु

की किसी स्थिति-विशेष का साम्य तो होना चाहिए। हमारे दैनिक जीवन में दाम्पत्य-प्रेम बहुत तीव्र और व्यापक है। हमारे सारे जीवन-क्षेत्र में इसका प्रभाव अनन्य है। वास्तव में इसी पार्थिव-प्रेम के विशद मनोधिकार द्वारा किसी अंश में, रहस्य भावमय उस अखंड स्वरूप के दोनों पक्षों—संयोग और विप्रलंभ—की सफल अभिव्यक्ति हो सकती है। अन्यथा हमारे पास उस महा-मिलन की अभिलाषा एवं आकांक्षा की अभिव्यक्ति करने का कोई दूसरा साधन नहीं है। यही कारण है कि कबीर, जायसी, मीरा, दादू आदि सन्तों में इसकी बहुलता है। रागात्मक भावों की अभिव्यक्ति का यही उपयुक्त साधन है। इस पर भी उस अनन्त ज्योति के साक्षात्कार से प्राप्त सुख की उपमा साधकों ने गूँगे के खाये हुए गुड़ से दी है।

तीन स्थितियाँ—छायावाद की भाँति रहस्यवाद की भी तीन स्थितियाँ हैं। पहली स्थिति तो वह है जब साधक अथवा कवि उस अनन्त शक्ति से सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इस स्थिति में उसे भौतिकता से परे उठ जाना पड़ता है। उसे सांसारिक, सामाजिक तथा शारीरिक अवरोधों की चिन्ता नहीं रह जाती। वह संसार से उदासीन होकर परलोक से प्रीत करता है। आश्चर्य तथा विस्मय ही उसके आधार होते हैं। यह संस्कार-हीन सामीप्य की अवस्था है। उस समय जीवन तथा सत्य की विस्मृति-सी रहती है। सभी बातों का एक भूला-भूला-सा अनुभव होता है।

दूसरी अवस्था वह है जब आत्मा परमात्मा के सहवास-अनुभव के सुफल स्वरूप उसे प्यार करने लगती है। इस प्रेम में हृदय की साधारण भावुक स्थिति नहीं रहती, यह प्रेम तो अगाध और अबाध होता है। इस प्रेम से लौकिक तथा अलौकिक जीवन में सहज ही एक ऐसा सामंजस्य हो जाता है कि उससे अन्तर्जगत् तथा बाह्य जगत् एक दूसरे से मिल जाते हैं। प्रेम की एकाग्रता के सिवा और किसी का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। फिर तो :

गुरु प्रेम का अंक पढ़ाय दिया।
अब पढ़ने को कुछ नहिं बाकी॥

इस प्रेम की बाढ़ में डूबने-उतराने का सुख, बस गूँगे का गुड़ है। इस प्रेम के प्रवाह में अन्य सब भावनाएँ लीन हो जाती हैं। जैसे आकाश के घोर घन-गर्जन में घर की चक्की का स्वर समा जाता है।

तीसरी अवस्था रहस्यवाद की चरम साधना की स्थिति है। इस अवस्था में आत्मा तथा परमात्मा की भिन्नता जाती रहती है। आत्मा सहज ही में परमात्मा के गुणों का अपने में आरोप कर लेती है। जैसे कस्तूरी-पात्र बिना कस्तूरी के

भी सुगन्धित रहता है। रहस्यवाद की यह अवस्था व्यक्तिगत ही समझनी चाहिए। इसका एक कारण है। यह अनुभूति इतनी दिव्य, इतनी अलौकिक होती है कि संसार के शब्दों में उसका स्पष्टीकरण असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। वह कान्ति दिव्य है, अलौकिक है। हम उसे साधारण आँखों से नहीं देख सकते। वह ऐसा गुलाब है जो किसी बाग में नहीं लगाया जा सकता केवल उसकी सुगन्ध ही पाई जाती है। वह ऐसी सरिता है कि हम उसे किसी प्रशान्त वन में नहीं देख सकते, प्रत्युत उसे कल-कल नाद करते हुए ही सुन सकते हैं। वह पावन अनुभूति शब्दों की सीमा में नहीं बँध सकती। साधारण मनुष्य का हृदय भी इतना विशाल नहीं होता कि उसमें यह अलौकिक भाव-राशि समा सके। अस्तु, कभी-कभी रहस्यवादी मौन भी धारण कर जाता है। उसका उत्तर केवल यही रह जाता है :

नश्वर स्वर में कैसे गाऊँ, आज अनश्वर गीत।

अथवा

शब्दों के सीमित साधन से
उर के आकुल आराधन से
मन के उद्वेलित भावों का
कैसे रूप बनाऊँ ?

अनुभूति का तत्त्व—वास्तव में रहस्यवाद की अनुभूति का तत्त्व इतना व्यक्तिगत है कि वह संसार की व्यावहारिक भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। हमारे अलौकिक अनुभव तो अलौकिक भाषा में ही सफलता से व्यक्त हो सकते हैं। इसलिए रहस्यवादी कविता में ही अपने भावों को व्यक्त करते हैं। गद्य के अपरिष्कृत विषय को ऐसे रूप में परिवर्तित करने की निराश चेष्टा में, जिससे उनकी आवश्यकता की पूर्ति किसी रूप में हो सके, रहस्यवादी कविता की ओर जाते हैं; जो उनके अनुभव के कुछ संकेतों को हीन-से-हीन पर्याप्त रूप में प्रकाशित कर सके। अपनी कविता की मुग्ध ध्वनि से, उसके अप्रस्तुत रूप से अपरिमित व्यंग्य-शक्ति के विलक्षण गुण से, उसकी लचक से वे प्रयत्न करते हैं कि उसी अनन्त सत्य के कुछ संकेतों का प्रकाशन कर दें जो सदैव सब वस्तुओं में निहित है। ठीक उसी ध्वनि, उसी तेज और उनकी रचनाओं के ठीक उसी उत्कृष्ट नाद से, उस प्रकाश से, कुछ किरणें फूट निकलती हैं, जो वास्तव में दिव्य हैं। इसके अतिरिक्त एक कारण और भी है। प्रेम, वेदना एवं करुणा के मनोभाव प्रायः स्वभावतः ही कविता में मुखरित होते रहते हैं। क्योंकि भावों की उन्मादमयी अभिव्यक्ति गद्य की अपेक्षा पद्य के अधिक गम्भीर

पड़ती है। गद्य शुष्क मस्तिष्क की तथा पद्य भावुक एवं संवेदनशील हृदय की भाषा है। इसलिए संसार की रहस्यमयी अभिव्यक्तियाँ अधिकतर पद्य में ही पाई जाती हैं।

संगीत तथा काव्य की, लय एवं सौन्दर्य की आकुल अनुभूतियाँ हमें विस्मय, सम्भ्रम तथा आनन्द से विभोर कर देती हैं। उन अनुभूतियों की उद्भावना क्यों होती है? यह कहना कठिन है। प्राकृतिक तथा मानवीय सौन्दर्य से मनुष्य अनेक बार इतना मुग्ध हो जाता है कि उसे आत्म-विस्मृति-सी हो जाती है। पर्वत, सागर और चन्द्र को देखकर मन में एक आनन्द का उद्वेलन होने लगता है, किन्तु यथार्थतः विचार करने पर यह क्रमशः पाषाण-समूह, जल-राशि तथा ग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। गुलाब का फूल वर्णयुक्त पात्रों की एक परिणति-मात्र है, किन्तु उसमें मनोमुग्धता का समावेश है। सौन्दर्य-विहीन कृष्ण-वर्ण कोयल के स्वर में मधुरता का कितना अनुभव छिपा रहता है। इन सभी समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। सौन्दर्य का रहस्य अभी तक स्पष्टतया उद्घाटित नहीं हुआ। सौन्दर्य का संदेश तो हम पाते हैं, किन्तु भेजने वाले का पता तथा स्वरूप अब भी हमारी खोज का विषय है। यहीं हमें अपनी आत्मा की उस अनुभूति का परिचय मिलता है, जिसे रहस्यवाद कहा जाता है। इस अनुभूति का प्रथम चरण सत्य का अनुसन्धान करना है और द्वितीय चरण 'आत्मा स्वयं सत्य है' की धारणा पर विश्वास करना है। इन्हीं दोनों चरणों के आधार पर रहस्यवादियों की आध्यात्मिक जीवन-यात्रा निर्भर है। इसी से कहा जाता है कि **देवो भूत्वा देवमर्चयेत्**। इस विश्लेषण से हम सहज ही में यह समझ सकते हैं कि रहस्यवाद आत्मा का विषय है, ऐसे काव्य में आत्मा की आकुलता का ही आभास मिलता है। इसका सम्बन्ध सीधा वस्तु-विधान से रहता है। अभिव्यंजन-विधान से नहीं। यथा :

पानी ही ते हिम भया, हिम भी गया विलाय।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाय॥

इस युक्ति में 'अहम्' और 'परम' की अभिन्नता प्रतिपादित की गई है। 'हिम' और 'पानी' की तत्त्वतः एकरूपता से उसका आभास कराया गया है। यहाँ पहुँचकर अहम् परम् में लीन हो जाता है। यह भाव कबीर की इस रहस्यमयी उक्ति तक पहुँच जाता है कि :

'तू' 'तू' कहता 'तू' भया, मुझमें रही न 'मैं'।

यही साधक और साध्य का एकीकरण है। इसी प्रकार :

हाँ सखि, आओ बाँह खोल हम
लगकर गले जुड़ा लें प्राण?
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अन्तर्धान?

यह साधक की उत्सुकता-भरी तड़पन है। विश्व के रहस्य को विदीर्ण करने का प्रयास कवि की आत्मा ने किया है। इसका उदाहरण नीचे की पंक्तियों में बहुत सुन्दर मिलता है:

फिर विकल हैं प्राण मेरे
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है?
जा रहे जिस पंथ से युग-कल्प उसका छोर क्या है?
क्यों मुझे प्राचीर बनकर आज मेरे श्वास घेरे?

इसी प्रकार कबीर ने भी गाया था:

जो मरने से जग डरे, मोहि परम आनन्द।
कब मरिहौं कब पाइहौं पूरन परमानन्द॥

रहस्यवाद की प्राचीनता—जब हम रहस्यवाद की प्राचीनता पर ध्यान देते हैं तो पता चलता है कि सभ्य जगत् की सभी जातियों में कुछ ऐसे साधक थे जो अलौकिक रहस्य की खोज में रहते थे। उनकी चिन्तन-प्रणाली जन-साधारण से भिन्न होती है। प्रत्यक्ष जगत् के बोध तथा प्रमाण से इस आध्यात्मिक जगत् की तुलना करना व्यर्थ है। इस रहस्यमयता को समझने के भिन्न-भिन्न माध्यम साधकों ने खोजे हैं। इस चिन्तन-प्रणाली के अनुसार साधकों की चार कोटियाँ निर्धारित की गई है—

१. प्रेम और सौन्दर्य-सम्बन्धी रहस्यवादी, २. दार्शनिक रहस्यवादी, ३. धार्मिक तथा उपासक रहस्यवादी तथा ४. प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवादी।

इस प्रकार अपनी-अपनी भावनाओं के अनुकूल उपायों से मनुष्य उस परम सत्य तक पहुँचने का प्रयास करता है। यह उसकी आत्मा का गुण है, विषय तथा तर्क का नहीं। आनन्दमय आत्मा की प्राप्ति तर्कों से नहीं होती। वहाँ तो—आज जीवन में किसी की चाह की तो खोज अविचल। याद रखना पड़ता है। आगे अवश्य ही आलोक दिखाई देगा। इन कोटियों के अनुसार प्रथम कोटि में प्राचीन कवियों में कबीर और जायसी का नाम उल्लेखनीय है। कबीर का यह पद तो प्रेम और सौन्दर्य का प्रत्यक्ष रूप है:

नयनन की कर कोठरी,
पुतली पलँग बिछाय।

पलकन की चिक डारि कै;
पिय को लीन्ह बिठाय ॥

आज का रहस्यवादी कवि अपने को किसी भी एक कोटि में नहीं बाँध सकता। क्योंकि उसका तो निश्चय है कि :

सजग प्रहरी-से निरन्तर,
जागते अलि रोम निर्भर
निमिष के बुद्-बुद मिटाकर
एक रस है समय सागर
हो गई आराधनामय, विरह की आराधना ले।

दूसरी कोटि में अंग्रेजी कवि 'ब्लेक' तथा 'ब्राउनिंग' का नाम लिया जा सकता है। 'तुलसी' तथा 'सूर' के भी कुछ पद इसी कोटि के हैं। आधुनिक कवियों में श्री निराला जी का भी नाम इसी कोटि में रखा जा सकता है। प्रसाद तथा माखनलाल चतुर्वेदी की भी कुछ अभिव्यक्तियाँ इसी कोटि की हैं। यथा :

चहकते नयनों में जो प्राण।
कौन किस दु:ख-जीवन के गान ?

× × ×

द्रुत भलमल-भलमल लहरों पर,
वीणा के तारों के-से स्वर—
क्या मन के चल-दल पत्रों पर—
अविनश्वर आदान ?

तीसरी कोटि में 'मीरा' तथा निर्गुणवादी कवि आते हैं। इसका आधार एकान्त तथा उपासना है। यथा :

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा ना कोई।
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई॥
अब तो बात फैल गई, जानत सब कोई।
'मीरा' प्रभु लगन लागी, होनी होय सो होई॥

तुलसीदास का सिया राममय सब जग जानी वाला पद भी इसी कोटि का है। चौथी श्रेणी में अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ तथा हिन्दी के कोमल कवि श्री पन्त जी का नाम रखा जा सकता है। यथा :

मिले तुम राकापति में आज,
पहन मेरे दृग-जल का हार।

काला अवगुण्ठन किये अभिसारिका-सी मालूम पड़ती है और चमकते हुए तारे हँसते-से ज्ञात होते हैं। इनमें भी कवि कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष में अप्रत्यक्ष का भावात्मक चित्र ही खींचता है। यथा नदी के तीर पर बैठा हुआ कवि उसकी लहरों में लास्य देखकर उनमें चेतना का आरोप करता हुआ नर्तकी के नृत्य का वर्णन करता है।

सर्व व्यापक प्राणों की छाया—छायावादी कवि प्रकृति के पुजारी की भांति विश्व के कण-कण में अपने सर्व-व्यापक प्राणों की छाया देखता है। मनुष्य को बाह्य सौन्दर्य से हटाकर प्रकृति के साथ उसका अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित कराने का कार्य छायावाद ने ही किया है। छायावादी कवि मनुष्य के अश्रु, मेघ के जल-कण और पृथ्वी के ओस-कण का एक ही कारण, एक ही मूल्य समझता है। छायावाद में रोमांटिसिज्म की भांति कलाकार का कला से अधिक महत्त्व माना गया है। क्योंकि कला में कलाकार के भावात्मक व्यक्तित्व की छाप अवश्य रहती है। छायावादी कवि का मुख्य उद्देश्य असाधारण भावावेश को व्यक्त करना होता है। प्रत्येक युग में अनन्त प्रकृति के बीच विषमता को देखकर भावुक लोगों ने ऐसी अभिव्यक्तियों की शरण ली है। छायावाद की तीन अवस्थाएँ हैं—प्रथम अवस्था में सृष्टि के प्रति विस्मय का भाव अपने सन्देह में सजग रहता है, दूसरी अवस्था में कलाकार को मानसिक अशान्ति व आकुलता का आभास मिलता है, उस समय कलाकार कुछ खो-सा जाता है। तीसरी अवस्था में उसका उद्देश्य पूरा हो जाता है। उसको अपने प्रेम का प्रकाश प्राप्त हो जाता है और वह सन्तोष से अपने-आपमें अपने को लीन कर लेता है। यही छायावाद की चरम परिणति है। यहाँ पहुँचकर छायावादी उसी ध्येय को प्राप्त कर लेता है जिसे दार्शनिक एवं रहस्यवादी। इसलिए हम कह सकते हैं कि जिस समय प्रथम मानव ने कल-कल करती हुई निर्झरिणी में अपने ही प्राणों-जैसी प्राण-छाया देखी, उसी समय छायावाद की भावानुभूति उसके हृदय में उदित हुई। जिस समय क्रौंच पक्षी की मर्म-वेदना का आघात आदि-कवि वाल्मीकि को बेसुध कर गया, जिस समय उनके हृदय की संवेदना तथा करुणा प्रथम श्लोक के रूप में मुखरित हो उठी थी उसी समय छायावाद की आत्मा सिहर उठी थी। वास्तव में करुणा हमारे विकास का साधन है, शायद यही कारण है कि प्राचीन युग इतना करुण नहीं था।

अव्यक्त तथा अस्पष्ट सत्ता की खोज—बात यह है कि मानवेतर आध्यात्मिक तत्त्व का निरूपण शब्दों की संकुचित सीमा में नहीं हो सकता। उसकी सर्वव्याप्त छाया को प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रहण करके, उसके

अव्यक्त व्यक्तित्व का आरोप करके यदि उस पूर्ण तत्त्व के प्रकाशन का प्रयत्न किया जाय तो वही छायावाद होगा। ईश्वर की सत्ता संसार की वस्तु-मात्र में प्रतिबिम्बित है। इसी आधार पर हम उसके अचिन्तनीय तथा अव्यक्तस्वरूप का आराधन कर सकते हैं। आँखों के सामने विस्तृत आकाश शून्य के अतिरिक्त क्या है ? किन्तु हम उसके नीले रंग तथा उसकी छाया का आभास जल में पाते हैं, यही उसकी अरूप सत्ता है। उस अव्यक्त तथा अस्पष्ट सत्ता की खोज करना मानव-प्रकृति का स्वाभाविक धर्म है। इस चेष्टा की काव्यमय भावना ही छायावाद है। उदाहरण के लिए प्रकृति में प्रेयसी का आरोप सदा से होता आया है, मानव और मानवेतर जीवन में तादात्म्य भावना की कल्पना भी बहुत पुरानी है। उसे आज भी हम अपने काव्य में पाते हैं। यह आरोप भी दो प्रकार का होता है। प्रकृति के किसी अंश को एक पार्थिव व्यक्तित्व देना तथा प्रकृति के किसी अंश में एक व्यापक व्यक्तित्व का आरोप करना इस कविता की प्रमुख विशेषता है। प्रथम श्रेणी की कविता को हम छायावादी कविता नहीं कह सकते, क्योंकि वह वस्तुवाद की सीमा में आबद्ध होगी। उदाहरण के लिए कलिका के प्रति कवि कहता है :

> री सजनि वन-राजि की शृङ्गार !
> मुग्ध मतों के हृदय के मुँदे तत्त्व अगाध।
> चपल अलि की परम संचित गूँजने की साध ॥
> बाग की बागी हवा की मानिनी खिलवाड़।
> पहनकर तेरा मुकुट इठला रहा है झाड़ ॥
> खोल मत निज पँखुड़ियों का द्वार।
> री सजनि, वन-राजि की शृङ्गार !

इन पंक्तियों में कलिका को सजनि का व्यक्तित्व दिया गया है, किन्तु वह स्थूल सीमित तथा मानवीय है। इसलिए यह वस्तुवाद की कविता है। वस्तुवाद की स्थूलता छायावाद में सूक्ष्म हो जाती है, वस्तु-भेद की कृत्रिमता अभेद की प्राकृतिकता में परिणत हो जाती है और व्यापक व्यंजन सूक्ष्म कल्पना तथा आध्यात्मिक ध्वनि के प्राधान्य के बल से छायावाद वस्तुवाद की सीमा पार कर जाता है। छायावादी कविता का एक उत्कृष्ट उदाहरण देखिए :

> चुभते ही तेरा अरुण बान।
> बहते कन कन से फूट फूट,
> मधु के निर्झर-से सजल गान।

नव कुन्द कुसुम-से मेघ पुंज,
बन गए इन्द्र-धनुषी वितान।
दे मृदु कलियों की चटक ताल,
हिम-बिन्दु नचाती तरल प्राण॥
धो स्वर्ण-प्रात में तिमिर-गात,
दुहराते अलि नित मूक तान।
चुभते ही तेरा अरुण बान।
सौरभ का फैला केश-जाल,
करती समीर-परियाँ विहार।
गीली केसर, मद झूम-झूम,
पीते तितली के नव कुमार॥
मर्मर का मधु संगीत छेड़,
देते हैं, हिल पल्लव अजान।
फैला अपने मृदु स्वप्न पंख,
उड़ गई नींद निशि क्षितिज पार,
अधखुले दृगों के कंज कोष,
पर छाया विस्मृति का खुमार,
रँग रहा हृदय से अश्रु-हास,
वह चतुर चितेरा सुधि-विहार।

इस कविता में रश्मि, निर्झर, हिम-बिन्दु समीर, पल्लव, नींद, कंज तथा विहान को एक चेतन व्यक्तित्व दिया गया है। अस्तु, यह प्रकृति के आंशिक रूपों में सूक्ष्म चेतन व्यक्तित्व की स्थापना छायावाद के प्राण बनकर प्रांजल-सी हो उठी है।

वास्तव में छायावाद हमारे लिए कोई नई चीज नहीं है। छायावाद की भावना में भी वही मूल तत्त्व हैं जो वर्तमान काव्य का सृजन करते हैं। वे मूल तत्त्व हैं—सौन्दर्य, विस्मय, अद्भुत, करुणा तथा प्रकृति-प्रेम। अब हमें इन्हीं तत्त्वों पर कुछ विचार करना है।

छायावादी कवि की विशेषताएँ—छायावादी कवि हमारे आस-पास के संसार की इतिवृत्तात्मकता को न छूकर उसकी जीवन-स्पर्शिता को ग्रहण करता है, क्योंकि इतिवृत्तात्मकता का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है, बाह्य सौन्दर्य से है—आन्तरिक तथा सूक्ष्म से नहीं। बाह्य सौन्दर्य वाला कवि एक फूल के अंग-प्रत्यंग का ही वर्णन करेगा, किन्तु छायावादी कवि उस फूल के उस प्राणमय सूक्ष्म को

अपनायगा, जिससे वह एक स्वाभाविक आत्मीयता का अनुभव करता है। छायावादी कवि यथार्थ वस्तु का संसर्ग इन्द्रिय और चैतन्य से करने का प्रयास करता है। संसार का कण-कण इसी भावना से मधुर कोमल पाश में बँधा है, इसी रागिनी की स्वर-लहरी कण-कण में व्याप्त है। आज का कवि विज्ञान की बाह्य सौन्दर्य-साधना से युक्त मानव-समाज को आन्तरिक जीवन की सौन्दर्य-साधना पर आरूढ़ करना चाहता है। वह अपने ही अन्तरात्मा को प्रकृति के नाना रूप-रंगों में खोजकर निकाल लेता है। इस आन्तरिक सौन्दर्य का एक छोटा-सा उदाहरण देखिए :

जिसकी सुन्दर छवि ऊषा है
नव बसंत जिसका शृङ्गार,
तारे हार, किरीट सूर्य-शशि
मेघ केश, स्नेहाश्रु तुषार,
मलयानिल मुख वास जलधि मन
लीला लहरों का संसार।
उस स्वरूप को तू भी अपनी मृदुल बाहों में लिपटा ले।

प्रेम-भावना का तत्त्व—सौन्दर्य के पश्चात् हमें प्रेम-भावना के तत्त्व पर विचार करना है। सौन्दर्य प्रेम का उत्पादक है। सौन्दर्य-दर्शन में जिस प्रकार विकास एवं संकोच होगा, उसी प्रकार प्रेम की भिन्न-भिन्न कोटियाँ होंगी। छायावाद की सौन्दर्य-भावना के साथ उसका प्रेम भी बहुत स्थूल नहीं। प्रेम जीवन की मूल प्रेरक शक्ति है। मनुष्य-मात्र की कोई प्रेरणा उसके अभाव में जीवित नहीं रह सकती। किन्तु व्यापक सौन्दर्य की भावना ही छायावाद की प्रेम-भावना का आधार है। वह भावना ऐसी होनी चाहिए :

जो कुछ कालिमा भरी है
इस रक्त-मांस में मेरे।
यह जलन जला देगी तव,
मैं योग्य बनूँगा तेरे॥

प्रेम की साधना बड़ी पवित्र होनी चाहिए। प्रेम के शान्त धवल प्रदेश पर उद्दाम वासना का आकर्षण, अशान्ति तथा आक्रमण देखकर कवि का हृदय वेदना से व्यथित हो जाता है। वह एक करुण क्रन्दन के स्वर में कहता है :

प्रणय की महिमा का मधु मोद।
नवल सुषमा का सरल विनोद॥

विश्व-गरिमा का जो था सार।
हुआ वह लघिमा का व्यापार॥

इन पंक्तियों में अप्रत्यक्ष रूप से प्रेम की पवित्रता का निदर्शन है। जो एक छायावादी कवि की भावना का मूल तत्त्व है। अब हमें वेदना की भावना तथा करुणा पर विचार करना है। वास्तव में वेदना विश्व-जीवन की मूल-रागिनी है। कवि-कंठ की मधुर स्वर-लहरी अनादि काल से वेदना-सिंचित रही है। क्रौंच पक्षी के अन्तस्तल के करुण निःश्वास से वेदना-विह्वल होकर आदि कवि वाल्मीकि ने कविता-कामिनी को संसार में अवतरित किया था। सृष्टि-क्रम में, जन्म-मरण, हास-रुदन तथा विरह-मिलन से घिरा कवि-हृदय जब अपनी मानवीय विवशताओं की ओर दृष्टिपात करता है, तब उसके सामने विषाद का एक अन्धकार छा जाता है। असफल अभिलाषाएँ करुण क्रन्दन कर उठती हैं। ऐसे समयमें कविको ईश्वरीय अनुकम्पा एवं सत्तापर सन्देह होने लगता है। यही उसकी वेदना तथा करुणा के कारण हैं। छायावाद में वेदना का प्रवाह स्वाभाविक मनोभावों को लेकर होता है। अभिव्यक्ति की अपूर्णता, प्रेम की असामंजस्यता, कामनाओं की विकलता, सौन्दर्य की अस्पष्टता, मानवीय दुर्बलताओं के प्रति संवेदनशीलता, प्राकृतिक रहस्यमयता तथा भौतिक विकलता ही इसका आधार है:

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ आज अनश्वर गीत।
मेरे हँसते अधर नहीं जग की आँसू-लड़ियाँ देखो।
मेरे गीले पलक छुओ मत, मुरझाई कलियाँ देखो॥
मुझको मिला न कोई ऐसा जो कर लेता प्यार।

ऊपर की पंक्तियों में वेदना भिन्न-भिन्न कारणों को लेकर प्रवाहित हुई है। हमारा वर्तमान काव्य वेदना का एक हृदय-स्पर्शी संगीत लेकर आया, जिसने हमारी आस्था की रक्षा की है। प्रेयसी की निष्ठुरता से कवि-हृदय तप्त उसाँसें निकालता है—यद्यपि काव्य में व्यक्तिगत अनुरक्ति तथा पार्थिव अतृप्ति की वेदना का कोई महत्त्व नहीं, किन्तु यदि वह व्यापक हो तो उसका प्रभाव बहुत ही कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है, ऐसी करुण वेदना जीवन की तत्त्वमयी आवश्यक वास्तविकता है; किन्तु वह इस रूप में सामने आती है:

एक करुण अभाव में चिर तृप्ति का संसार संचित।

दुःख की उपयोगिता कवि के भावना-क्षेत्र को इतना परिपूर्ण कर देती है कि उसमें सुख के लिए कुछ भी स्थान नहीं रह जाता। दुःख का पक्ष उनकी इन पंक्तियों से सहज ही में सबल पड़ जाता है:

तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा।

उनकी इस पीड़ा में एक माधुर्य है, एक नवजीवन फूँकने की शक्ति है। पन्तजी की इन पंक्तियों को देखिये :

दुःख इस मानव-आत्मा का रे, नित का मधुमय भोजन।
दुःख के तम को खा-खाकर; भरती प्रकाश से वह मन॥
अपनी डाली के काँटे हैं, नहीं बेधते अपना तन।
सीने से उज्ज्वल बनने में, तपता नित प्राणों का धन॥
आँसू की आँखों से मिल, भर ही आते हैं लोचन॥

× × ×

प्रकृति-भावना—अब हमें छायावाद में प्रकृति-भावना पर विचार करना है। यदि देखा जाय तो प्रकृति-प्रेम तो छायावाद की जान है। छायावादी कवियों ने प्रकृति की सुषमामयी गोद में किलोलें करके उसका बड़ा ही सुन्दर एवं मार्मिक चित्रण किया है। जिस प्रकार अंग्रेजी की रोमांण्टिक कविता ने प्रकृति के अन्तस्तल में प्रवेश करके उसमें अमर सौन्दर्य, अलौकिक रहस्य तथा जीवन के मधुर सम्बन्ध के चित्र अंकित किये हैं, उसी प्रकार छायावादी कवि ने भी प्रकृति-प्रिय गान गाये हैं :

सिखा दो ना अयि मधुप-कुमारि,
तुम्हारे मीठे-मीठे गान।
कुसुम के चुने कटोरों से,
करा दो ना कुछ-कुछ मधु-पान॥

फिर तो वह कृति का इतना दुलारा और परिचित प्राणी हो जाता है कि वह उसी के साथ खेलता है, कलरव करता है और उसी में मिल-सा जाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगता है जैसे इन पक्षियों को भी उसी ने गाना सिखाया हो :

विजन-वन में तुमने सुकुमारि,
कहाँ पाया यह मेरा गान।
मुझे लौटा दो विहग-कुमारि,
सजग मेरा सोने-सा गान॥

पन्त जी ने 'बादल', 'चाँदनी', 'छाया', तथा 'एकतारा' कविताओं में प्रकृति के बहुत ही सुन्दर एवं सजीव चित्र दिये हैं। निराला जी की 'जुही की कली', 'शेफालिका' कविताओं में प्रकृति-चित्रण एवं प्रकृति-पर्यवेक्षण की जिस अद्वितीय प्रतिभा के दर्शन होते हैं, वह हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति है। निराला की

'सन्ध्या-सुन्दरी' तो इतनी सजीव हो उठी है कि कविता पढ़ते ही उसके स्पन्दन का आभास होने लगता है :

> दिवसावसान का समय
> मेघमय आसमान से उतर रही है
> वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
> धीरे, धीरे, धीरे,
> तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
> मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर
> किन्तु जरा गम्भीर नहीं है उनमें हास-विलास।

प्राचीन परिपाटी के प्रति क्रान्ति—भाव और विचार की इस नवीनता तथा अलौकिकता के साथ आधुनिक हिन्दी-साहित्य में छायावाद ने प्राचीन परिपाटी के प्रति क्रान्ति और विद्रोह की ज्वाला भी फूँकी है। प्रबन्ध काव्य की परम्परा एक तरह से छूट-सी गई है, उसके स्थान में गीति-काव्य का निर्माण हुआ है। प्रसाद, निराला तथा पन्त ने सब प्रथम बंगला-साहित्य तथा अंग्रेजी-साहित्य के प्रभाव से हिन्दी-साहित्य में उसका श्रीगणेश किया। गीति-काव्य का नेतृत्व महादेवी जी के हाथ में रहा। उनके गीतों-जैसी मधुरता एवं रमणीयता अन्यत्र नहीं है। कालिदास तथा तुलसी के शब्द-चित्र अतीत की गोद में सो गए थे; किन्तु इन कवियों ने उनका पुनर्निर्माण किया। पुराने छन्दों को तिलांजलि देकर नये-नये छन्दों का निर्माण किया गया। नवीन छन्दों के साथ-साथ मुक्तक छन्द भी कविता में गूँजने लगे। इसका सूत्रपात निराला जी ने किया। कल्पना-शक्ति अधिक गतिशील तथा सरस हो गई, साथ ही कविता-कला संगीत-कला के साथ एकाकार होकर स्वयं मधुरता की मूर्ति बन गई। वास्तव में छायावाद ने हमारे साहित्य में अपना एक विशेष स्थान बना लिया है।

इतिहास—अब हमें छायावादके इतिहास पर एक दृष्टि डालनी है। छायावाद कोई नवीन वस्तु नहीं है, हमारे प्राचीन काव्य में भी छायावाद की झलक मिलती है। वेदों के द्वारा दिया गया ऊषा तथा संध्या का जो सूक्ष्म एवं व्यापक वर्णन है, उसे हम छायावाद के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। सन् १६०६ ई० से छायावाद का विकास तब आरम्भ हुआ था जब कि प्रसाद के 'कानन-कुसुम' और मासिक-पत्र 'इन्दु' ने खड़ी बोली की कविता में एक नवीन धारा का सूत्रपात किया था। इसी धारा को छायावाद का नाम दिया गया। १६२५ तक 'पल्लव' और 'आँसू' के प्रकाशन के साथ वह धारा स्थायित्व प्राप्त कर चुकी थी। साधारण जनता में यह नाम सामयिक कविता के लिए १६३७ तक चलता रहा।

'प्रगतिवादी' काव्य का जन्म इसके बाद की कथा है। वास्तव में जिस किसी ने इस नाम का सूत्रपात किया, उसका उद्देश्य सामयिक काव्य की हँसी उड़ाना था। उसे एक नई श्रेणी की कविता का परिचय प्राप्त हुआ, जिसमें उसने बंगाल के श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'गीताञ्जलि' और अंग्रेजी रोमाण्टिक कवियों की रहस्यवादी कही जाने वाली कविताओं की छाया देखी। इसलिए व्यंग्य के तौर पर उस कविता को छायावाद का नाम दिया गया। धीरे-धीरे छायावाद ने बंगाली भावुकता और रहस्यवादी आध्यात्मिकता के सिवा अनेक व्यंगों का विकास किया। परन्तु नाम वही (छायावाद) चलता रहा, अन्त में महादेवी वर्मा आदि की उच्चतम कविताओं ने छायावाद को विकास की चरम सीमा पर पहुँचा दिया।

किन्तु समय की गति के साथ-साथ अब छायावाद की महत्ता भी घटती जा रही है। छायावादी कहे जाने वाले कवि नये-नये दलों में भर्ती हो रहे हैं। छायावादी काव्य के विश्लेषण पर भी लोगों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ बन रही हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे काव्य-वृत्तियों का प्रच्छन्न पोषण कहते हैं या अभिव्यंजना की एक शैली मानते हैं। जिसकी विशेषता उसकी लाक्षणिकता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी कहते हैं : **इसमें एक नूतन सांस्कृतिक भावना का उद्गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन की आयोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसमें स्पष्टतः अधिक अस्तित्व और गहराई है।** प्रसादजी ने छायावाद को अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यंजना माना है, जो साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष की अनुभूति, सरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहम्' का 'इदम्' में समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।

२३. प्रगतिवाद

उत्पत्ति के कारण—साहित्य में किसी भी वाद का उत्पन्न होना उस समय की परिस्थितियों एवं घटनाओं पर निर्भर है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर एक दृष्टि डालने से पता चलता है कि समय के साथ-साथ साहित्य में भी परिवर्तन होता आया है। हिन्दी-साहित्य में वास्तविक परिवर्तन अथवा क्रान्ति भारतेन्दु युग से ही आरम्भ हो चुकी थी। इनसे पूर्व के संत कवियों की सामाजिकता तथा रीति-काल के दरबारी कवियों की शृङ्गारिकता अपने समय की प्रतिध्वनि थी। उसके पश्चात् (१८५०-८५) जब देश के राजनैतिक एवं सामाजिक जीवन में परिवर्तन होना आरम्भ हुआ तो हमारे साहित्यकारों ने भी करवट बदली।

उन्होंने भी जनता में राष्ट्रीय चेतना एवं जागरण का सन्देश फूँकना आरम्भ किया। इस साहित्यिक क्रान्ति के अग्रदूत थे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र। राष्ट्र-वीरों का गुण-गान, राष्ट्र-पतन के लिए दुःख-प्रकाश, समाज की अवनति के प्रति क्षोभ, कुरीतियों के परिहार के लिए अधीरता, तत्परता और हिन्दू-हितैषिता (जातीयता) आदि भारतेन्दु-काल के प्रमुख विषय हैं :

कहाँ गये विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर।
चन्द्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करि कै थिर॥
कहाँ क्षत्र सब गरे जरे सब गए किते गिर।
वहाँ राज को तौन साज जेहि जानत चिर॥
जागो अब तो खल बल-दलन रक्षहु अपनो आर्य मग।

(भारतेन्दु)

इस प्रकार एक ओर तो अतीत के शौर्य की याद दिलाकर जनता में जोश एवं वीरत्व की भावना फैलाई जाती थी, दूसरी ओर उसकी कुरीतियों पर खेद प्रकट करके उन्हें दूर करने का भी प्रयत्न किया जाता था :

स्त्री गण को शिक्षा देवें, कर पतिव्रता यश लेवें।
झूठी वह गुलाल की लाली धोवत ही मिट जाय,
बाल विवाह की रीति मिटाओ रहे लाली मुँह काया।
विधवा विलपें, नित धेनु कटें, कोउ लागत गोहार नहीं॥

मानसिक दासता और क्षोभ—वह समय भारतवर्ष के लिए अत्यन्त संकटमय था। देश ने हथियार डाल दिए थे। एक नई संस्कृति और सभ्यता से उसका संघर्ष चल रहा था। देश में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त जन-समुदाय धीरे-धीरे खड़ा हो गया था। भारतीय धर्म-कर्म और संस्कृति-सभ्यता को भूलकर यह नया शिक्षित वर्ग साहब बना जा रहा था। ऐसे समय में भारतीयता के लुप्त हो जाने का डर था। हमारे कवियों ने जहाँ समाज को उदार बनने के लिए ललकारा, वहाँ हिन्दुओं की मानसिक दासता पर क्षोभ भी प्रकट किया :

अंग्रेजी हम पढ़ी तऊ अंग्रेज न बनिहैं।
पहरि कोट पतलून चुरुट के गर्व न तनिहैं॥
भारत ही में जन्म लियौ भारत ही रहिहै।
भारत ही के धर्म-कर्म पर विद्या गहिहै॥

कांग्रेस की स्थापना हो जाने से (१८८५) देश मे आशा का संचार हुआ और कवियों ने नव-जागरण की भैरवी फूँकनी प्रारम्भ की :

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का।
समझत अन्त अतिशय प्रमुदित हो तनिक तब उसने ताका॥
उन्नति-पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा दिखाई।
खग 'वन्दे मातरम्' मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई॥

जागृति के लक्षण—भारतेन्दु के अन्य समकालीन कवियों में भी इस जागृति के लक्षण प्रकट हुए। बंग-भंग के कारण पूरे देश में बिजली-सी दौड़ गई। इसी समय बंकिम बाबू ने अपने क्रान्तिकारी उपन्यास लिखे और 'वन्दे मातरम्' गीत की रचना की। यह हिन्दी में प्रगतिवाद का पहला कदम था। दूसरा कदम प्रगतिशील साहित्य में था भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का इस क्षेत्र में आना।

जन-जीवन पर प्रभाव—गांधी जी के सत्याग्रह-आन्दोलन का देश के जन-जीवन पर यथार्थ प्रभाव पड़ा। अनेक तत्कालीन लेखक और कवि भी इस तूफान में बह गए। जिनमें अग्रगण्य प्रेमचन्द, एक भारतीय आत्मा, नवीन और सुभद्राकुमारी चौहान आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वर्गीय प्रेमचन्द ने दृढ़ हाथों से साहित्य का रुख जीवन की ओर पलटा। भारत की ग्रामीण और नागरिक समाज-योजना की आपने गम्भीर और मार्मिक विवेचना की। समाज के शोषक और शोषित वर्ग की पहेली को आपने समझा और इन समस्याओं का अपनी कहानियों में विशद चित्रण किया। प्रेमचन्द अपने जीवन के अन्त तक गांधी-वादी रहे और अपने साहित्य में इस आशा को स्थान देते रहे कि हृदय-परिवर्तन से समाज सुधर जायगा।

राष्ट्रीय जागृति के गायक—राष्ट्रीय जागृति के साथ अनेक गायक भी पैदा हुए, इनमें नवीन जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके गीतों ने समाज में विद्रोह की भावना फूँकी :

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये।
एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आये।
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि-त्राहि रव नभ में छाये।
नाश और सत्यानाशों का, धुआँधार जग में छा जाये।
बरसे आग जलद जल जायें, भस्मसात् भूधर हो जायें।
पाप-पुण्य सब सद्भावों की, धूल उड़ उठे दायें-बायें।
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूक-टूक हो जायें।
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये।

समाजवाद की भावना—राष्ट्रीय जागृति के साथ-साथ देश में समाजवाद

की भावना बल पकड़ती गई। साथ-साथ ही साहित्य भी समाजवाद की ओर आकृष्ट होने लगा। साहित्य की यह समाजोन्मुखता ही प्रगतिवाद है। इस विचार-धारा ने हमारा ध्यान राष्ट्रीय-आन्दोलन और देश की भीषण परिस्थितियों की ओर मोड़ दिया। देश की अधिकांश पीड़ित और शोषित जनता के शोषण के विरुद्ध कलाकारों ने भी लेखनी उठाई। उनकी इस विद्रोह-भावना के साथ प्रगतिवाद का विकास हुआ।

प्रगतिशील साहित्य—अब हमें उस साहित्य का कुछ विवेचन करना है जिसे आज प्रगतिशील साहित्य का नाम देकर जनता में उसका खूब प्रचार किया जा रहा है। देश में राजनीतिक एवं सामाजिक उथल-पुथल के साथ अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं एवं विचार-धाराओं का प्रभाव भी काफी पड़ा। पश्चिम के युगान्तर-कारी साहित्य के ज्वार में हमारे बहुत-से साहित्यकारों के संस्कार बह गए। उन्होंने यथार्थवाद के नाम पर एक ऐसे साहित्य का निर्माण प्रारम्भ किया जो साहित्य की वास्तविकता से कोसों दूर होकर कोरा प्रचार-मात्र है। इन साहित्यकारों पर विशेषतः रूसी साहित्य का प्रभाव अधिक पड़ा। किन्तु इन नवीन साहित्यिकों ने जीवन की वास्तविकता के रस का अनुभव न करके केवल रूसी साहित्य का अन्धानुकरण ही किया है। हम मानते हैं कि भारत के ८६ प्रतिशत निवासी किसान हैं, जो कृषि से अपनी आजीविका चलाते हैं और उनके जीवन में प्रवेश करने के अनेक अवसर हमारे सामने आते हैं। किन्तु देखना यह है कि क्या हमारे प्रगतिवादी साहित्यकार उनके जीवन की वास्तविक अनुभूति प्राप्त कर सके हैं? क्या वे अपनी साहित्य-साधना द्वारा उनके असन्तुष्ट जीवन के चित्रों को ज्वालामुखी का रूप देने में सफल हुए हैं? इसका उत्तर आपको 'नहीं' में मिलेगा।

जिस रूसी साहित्य का अनुकरण हमारे आधुनिक साहित्यिक कर रहे हैं वह सत्य और वास्तविकता में आमूल डूबा हुआ है, वह अपने दुःख में बहुत प्राचीन और आँसुओं में बहुत वृद्धि-सम्पन्न है। वह साहित्य वास्तविक जीवन के अभावों से उत्पन्न हुआ है और उसमें क्रन्दन और विद्रोह का स्वर मस्तिष्क से नहीं, हृदय से निकला है। फिर ऐसे साहित्य का अनुकरण करके भी हमारे आधुनिक लेखक अपने साहित्य में जीवन की वास्तविकता क्यों नहीं ला सके? इसका कारण यही है कि हमारे साहित्यकारों ने इसकी तीव्रता के आगे सिर झुका दिया है। वे इसकी उष्णता तो प्राप्त कर सके हैं, किन्तु प्रकाश नहीं। जीवन पर आघात करने वाली जो प्रेरणा और आक्रमण-शक्ति रूसी लेखकों के पास है वह हमारे हिन्दी-लेखकों के पास नहीं। साहित्य में वास्तविकता का प्रश्न

जीवन के प्रभावों से उठता है और उन प्रभावों को समझने की क्षमता आज हमारे साहित्यकारों में नहीं के बराबर है। रूस रूसी साहित्य के प्रभाव ने हमारे साहित्यकारों को परम्परागत साहित्यिक संस्कारों से रहित कर दिया है और आज हमारे लेखकों को अपनी रचनाओं की प्रेरणा हमारी संस्कृति से न मिलकर रूस के राष्ट्रीय सिद्धान्तों से मिल रही है। यदि हमारे साहित्यकार चाहें तो वे अपनी अन्वीक्षण-शक्ति द्वारा ही अपने देश की अवस्था से यथेष्ट सामग्री प्राप्त कर सकते हैं, उन्हें कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। वे अपने जीवन से ही ऐसी अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं जो अन्य देशों के जीवन के लिए भी अनुकरणीय बन सकती है; किन्तु खेद है कि हमारे आधुनिक साहित्यकार अपने देश और राष्ट्रीयता में अधिक महत्त्व नहीं समझते।

पश्चिमी साहित्य से हित और अहित दोनों—पश्चिम के युगान्तरकारी साहित्य से हमारे साहित्य का हित और अहित दोनों ही बातें हुई हैं। हित तो यह हुआ कि हमारे साहित्य का दृष्टिकोण बहुत व्यापक और विस्तृत हो गया है। जीवन के लौकिक पक्ष की ओर से हम अधिक जागरूक हो गए हैं और संसार के विविध क्षेत्रों की प्रगति को भी हम साहित्य की सीमा में बाँध सके हैं। हमारी दृष्टि ललित साहित्य में ही केन्द्रीभूत न होकर उपयोगी साहित्य की ओर भी गई है और साहित्य की परिधि अनेक विषयों को घेरकर बहुत विस्तृत बन गई है। हम अपने जीवन में अनेक द्वारों से प्रवेश पा सके हैं, और अपने अनुभव को अधिक सक्रिय बना सके हैं। किन्तु इन सब हितों के साथ जो अहित भी हुए हैं उन पर हमारी दृष्टि पड़े बिना नहीं रह सकती। पहला अहित तो यह कि पश्चिमी साहित्य के ज्वार में बहकर हमारे साहित्यकार अपने साहित्यिक संस्कारों को बिलकुल भूल गए। यह ठीक है कि साहित्य अपनी चरम उन्नति में सार्वजनीन बन जाता है, किन्तु वह जिस समाज और जिस राष्ट्र में निर्मित होता है उसके संस्कारों की छाप नहीं भूल जाता—और भूल जाय तो उस साहित्य का कोई मूल्य नहीं रहता। आप फ्रांस, जर्मनी, इङ्गलैंड और रूस के साहित्य के उदाहरण लीजिये—प्रत्येक साहित्य के पीछे उसके राष्ट्र की युग-युग की साधना छिपी हुई है, शेक्सपीयर के नाटकों में, टाल्स्टाय की कहानियों में, तुलसीदास के काव्य में हम विश्वजनीनता नहीं पाते? किन्तु इन महान् साहित्यिकों के राष्ट्रगत संस्कार उनके साथ हैं। स्व० प्रेमचन्द की कहानियों में भारतीय आदर्श पूर्ण स्वाभाविकता लिये हुए हमारे जीवन की प्रगतिशीलता का द्योतक है। फिर हमारे प्रगतिवादी कहे जाने वाले आधुनिक साहित्यकार अपने राष्ट्रगत संस्कारों को

क्यों तिलांजलि दे रहे हैं? इसका उत्तर यही है कि यह उनकी भूल है, क्षुद्र दृष्टिकोण है—अन्धानुकरण है।

साहित्यगत व्यक्तित्व का विस्मरण—पश्चिम के यथार्थवाद के प्रभाव में हम अपने साहित्यगत व्यक्तित्व को तो भूल ही गए हैं साथ ही हम अपनी उच्छृङ्खलता से साहित्य की समस्त मर्यादाओं को भी मिटा रहे हैं। आज के प्रगतिवादी कवि ने अपनी कविता की स्वतन्त्रता में छन्द को सबसे बड़ा बन्धन मानकर उसके हाथ-पैर तोड़ डाले हैं। जब मात्राओं की कैद ही उसे असह्य है तो 'वर्ण-वृत्तों' के 'गणों' की तो बात ही क्या है? उन्हें तो वह शिवजी के गणों से भी अधिक भयंकर समझता है। कविता के सौन्दर्य और लालित्य की ओर से तो बिलकुल आँखें बन्द कर ली गई हैं। हम पूछते हैं कि फिर गद्य और पद्य में अन्तर ही क्या रह गया। एक कविता देखिए :

> पुरानी लीक से हटकर
> बड़ी मजबूत चट्टानी-रुकावट का प्रबलतम धार से कर
> सामना डटकर
> विरल निर्जन कँटीली भूमि पथरीली बिलगकर
> पार कर जल-धार उतरी
> मानवी जीवन धरातल पर,
> सहज अनुभूति-अंतस्प्रेरणा-बल पर।

अब आप बताइए कि ऊपर के पदों को कविता कहें अथवा गद्य-काव्य? हमारे विचार से इसे 'रबड़ छन्द' कहा जाय तो ठीक होगा, जिसे चाहे जितना बढ़ा लो और चाहे जितना घटा लो।

और लीजिये :

> बुझते दीप फिर से आज जलते हैं
> कि युग के स्नेह की अनुभूति ले जल-जल मचलते हैं
> सघन-जीवन-निशा विद्युत् लिये
> मानो अँधेरे में बटोही जा रहा हो टार्च ले
> जब-जब करें डगमग चरण
> तब-तब करे जगमग
> ये जीवन पूर्णता का मग
> कल्मष नष्ट
> पथ से भ्रष्ट

मर्यादाओं को तोड़ने का जोश तो इतना भीषण हो गया है कि कुछ

कवियों ने व्यक्तिगत सदाचार को भी तिलांजलि दे दी है। अश्लील-से-अश्लील पंक्ति लिखने में भी उन्हें हिचक नहीं होती। नारी को वे गाली दे रहे हैं और दुःशासन की भाँति उसका वस्त्र खींचने में अपनी शक्ति की पूर्ति समझ रहे हैं। ऐसे कवि अपने को प्रगतिशील कहते हैं! हमारे नवीन साहित्यकारों की यथार्थवाद सम्बन्धी नग्नता के साथ अनुकरण करने की प्रवृत्ति भी जुड़ी हुई है। आज का लेखक अभी तक अपने विचारों और सिद्धान्तों में विश्वास उत्पन्न नहीं कर सका है। वह अपने साहित्यिक जीवन में कीट्स और शैली अथवा टाल्स्टाय और चेखव तो बनना चाहता है, किन्तु वह स्वयं क्या कुछ है यह नहीं बताना चाहता। यही कारण है कि उसकी रचनाओं पर व्यक्तित्व की छाप नहीं होती।

प्रगतिशील अथवा श्रेष्ठ साहित्य—वास्तव में प्रगतिशील साहित्य वही है जो समाज को प्रगति के पथ पर अग्रसर करे, मनुष्य के विकास में सहायक हो। वही प्रगतिशील अथवा श्रेष्ठ साहित्य है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या प्रगतिशील होने पर ही साहित्य श्रेष्ठ हो जाता है? शायद इसका यह आशय है कि कभी-कभी कोई कृति साहित्यिक न होने पर भी विषय-वस्तु के कारण ही प्रगतिशील एवं श्रेष्ठ मान ली जाती है। उदाहरण के लिए बंगाल के अकाल पर बहुत-से लोगों ने कविताएँ लिखीं। किसी विशेष कविता में मार्मिकता नहीं है,फिर भी यदि वह तर्क सगत समाज-हितैषी बात कहती है,तो क्या उसे श्रेष्ठ कविता मान लिया जाय? इसका उत्तर यही है कि प्रगतिशील साहित्य तब ही प्रगतिशील है, जब वह साहित्य भी है। यदि वह मर्मस्पर्शी नहीं है, पढ़ने वाले पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता—तो केवल नारा लगाने से अथवा विचार की बात कहने से वह श्रेष्ठ साहित्य क्या, साधारण साहित्य भी नहीं हो सकता। हमें ऐसा साहित्य चाहिए जो एक ओर तो कला की उपेक्षा न करे; रस-सिद्धान्त के नियामक जिस आनन्द की माँग करते हैं, वह साहित्य से मिलना चाहिए। भले ही उसका एक-मात्र उद्गम रसराज न हो,भले ही उसकी परिणति आत्मा की चिन्मयता और अखण्डता में न हो। कलात्मक सौष्ठव के साथ-साथ उस साहित्य में व्यक्ति और समाज के विकास एवं प्रगति में सहायक होने की ममता भी होनी चाहिए। तभी वह अभिनन्दनीय हो सकता है; फिर उसे प्रगतिशील अथवा किसी भी नाम से पुकारा जाय।

२४. भारतीय गीति-काव्य की परम्परा

भारतीय गीति-काव्य की परम्परा का विकास शताब्दियों पूर्व प्रारम्भ हो

चुका था, इसका प्राचीनतम रूप वेदों में सुरक्षित है। वैदिक संस्कृति के मूल में समाज की सामूहिक शक्ति कार्य करती थी, क्योंकि उस युग में वैयक्तिकता का विकास नहीं हुआ था। यज्ञ, उत्सव, पर्व, त्योहार इत्यादि सभी सामाजिक और सामूहिक क्रियाएँ थीं। अतः तत्कालीन गीति-काव्य व्यक्तिगत चेतना से अनुप्राणित होता हुआ भी सामूहिक ही अधिक रहा। प्रकृति के विराट् रूप ने प्राचीन गीतिकारों में विस्मयपूर्ण भावनाओं का उद्रेक किया। उन्होंने प्रकृति के विविध सुन्दर कल्याणकारी और भयावह उपकरणों में किसी रहस्यमयी अज्ञात शक्ति की स्थापना करके उनकी अपने गीतों में वन्दना की। उषा, वरुण, इन्द्र, अग्नि इत्यादि अनेक देवता प्रकृति के शक्ति-चिह्न ही हैं। सामवेद में संगीत के विभिन्न रूपों का तथा उदात्त,अनुदात्त और स्वरित उच्चारणों का बहुत विशद विवेचन किया गया है। वैदिक गीत सामूहिक आनन्द और विषाद की अभिव्यक्ति तो हैं ही, वे गेय भी सामूहिक रूप में ही हैं।

बौद्ध युग में वैयक्तिक चेतना का विकास हुआ, और गीतों में वैयक्तिक सुख-दुःख और आशा-निराशा का समावेश हुआ। 'थेरी गाथाएँ' में करुणा और वेदना की प्रधानता है। अनेक वीतराग भिक्षु-भिक्षुणियों ने जीवन की नश्वरता और दुःख-प्रधानता से पीड़ित होकर अपनी वेदना को गीतों में अभिव्यक्त किया। प्राकृतिक सौन्दर्य के उपकरण भी अपनी सम्पूर्ण विविधताओं के साथ थेरी-गाथाकार के गीतों के विषय बने हैं। प्रकृति के माध्यम से ही गीतिकारों ने अपनी वैराग्य-अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है। एक थेरी गीत देखिए :

अंगारिनो दानि दुमा भदन्ते फलेसिनो छदनं विप्पहाय,
ते अच्चिमन्तो व पभासयन्ति समयो महावीर भगीरसानं।
दुमानि फुल्लानि मनोरमानि समन्ततो सव्वदिसो पवन्ति,
पत्तं पहाय फलमाससाना कालो इतोपक्कमनाय वीर।

(नई कोंपलों से अंगारुण वृक्षों ने फल की साध से जीर्ण-शीर्ण पल्लव-परिधान त्याग दिया है। अब वे लौ से युक्त-जैसे उद्भासित हो रहे हैं। हे वीर श्रेष्ठ ! हे तथागत ! यह समय नूतन आशा से स्पन्दित है। द्रुमाली फूलों के भार से लदी है, सब दिशाएँ सौरभ से उच्छ्वसित हो उठी हैं और फल को स्थान देने के लिए दल झड़ रहे हैं। हे वीर ! यह हमारी यात्रा का मंगल मुहूर्त है।)

'वाल्मीकीय रामायण' के अतिरिक्त कालिदास की 'शकुन्तला', 'मेघदूत' तथा भारवि के 'उत्तररामचरित' में अनेक सुन्दर गीत उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु

उनमें कथात्मकता की प्रधानता है। हाँ, जयदेव के 'गीत-गोविन्द' में गीति-काव्य का रूप बहुत निखरा हुआ है।

२५. हिन्दी के गीति-काव्यकार

हिन्दी गीति-काव्य का प्रारम्भ वीर-गीतों (Ballads) से होता है, हिन्दी साहि य के आदिकाल की परिस्थितियाँ ही कुछ इस प्रकार की थीं, जिनमें प्रबन्ध काव्यों की अधिक रचना नहीं हो सकती थी। वह युग अस्थिरता और अशान्ति का युग था, अतः वीर-गीत ही तत्कालीन परिस्थितियों के अधिक उपयुक्त थे।

नरपति नाल्ह को हम हिन्दी का सर्वप्रथम गीति-काव्य का कवि कह सकते हैं। नरपति नाल्ह के गीतों में वीर रस के साथ कथा-तत्त्व की प्रधानता है। नायक के चरित्र-चित्रण में कवि ने शृङ्गार और वीर दोनों को ही समान महत्त्व दिया है, इस प्रकार कवि ने जीवन की कोमल वृत्तियों का भी सुन्दर वर्णन किया है। नरपतिनाल्ह के गीत वीरों को प्रोत्साहित करने के लिए लिखे गए ही प्रतीत होते हैं। किन्तु शृङ्गाररस की प्रमुखता इसके वीर-गीत होने में सन्देह भी उत्पन्न कर सकती है।

जगनिक का 'आल्ह खंड' भी वीर-गीत ही समझा जाता है। आज इसका साहित्यिक रूप उपलब्ध नहीं। गेय होने के कारण यह शताब्दियों से जन-सामान्य में गाया जाता रहा है, अतः इसके अनेक स्थानीय और युगीन रूप प्राप्त होते हैं। जगनिक के गीतों में कथा-तत्त्व और संगीत की प्रधानता है।

यद्यपि इन वीर-गीतों में दार्शनिक तत्त्व, चित्रमत्ता और वर्णन का चमत्कारिक ढंग विद्यमान नहीं, इनकी भाषा भी सुष्ठु और साहित्यिक नहीं, तथापि बाह्या-डम्बर से मुक्त होने के कारण इनमें जो प्रवाह, जीवन और ओज है, वह अद्भुत है। यही कारण है कि ये जनता में शताब्दियों से प्रचलित चले आ रहे हैं।

विद्यापति वस्तुतः शृङ्गार के कवि हैं। वीर-गाथा काल में वीर तथा शृङ्गार रस पर रचना होती रही है, किन्तु विद्यापति ने केवल शृङ्गार रस से पूर्ण गीतों की ही रचना की है। ऐसा कहा जाता है कि विद्यापति के गीतों में जयदेव की प्रतिध्वनि सुनाई देती है, किन्तु जयदेव की कविता में वर्णन की प्रधानता है और विद्यापति में रागात्मकता की। इस प्रकार गीति-काव्य की दृष्टि से विद्यापति जयदेव से श्रेष्ठ हैं।

विद्यापति के गीतों में सौन्दर्य-चित्रण की प्रधानता है। नारी के रूप-चित्रण में मनोरमता अवश्य है, किन्तु स्थूलता और ऐन्द्रियता की कमी नहीं। राजकीय

विलासमय वातावरण में रहने के कारण विद्यापति का सौन्दर्य-चित्रण विलासिता, कामुकता और नग्नता से पूर्ण है। सूर और तुलसी ने भी राधा और सीता का भावपूर्ण सौन्दर्य-चित्रण किया है, किन्तु सूर में भक्ति की प्रधानता रही, तो तुलसी में भक्ति और शील दोनों की। विद्यापति की राधा, प्रगल्भा वासनामयी सामान्य नायिका के सदृश है; जब कि सूर की राधिका प्रेम-पीड़ा में तड़पती हुई एक पूर्ण मानवी। विद्यापति द्वारा प्रस्तुत राधा का चित्र देखिए :

चाँद सार लए मुख घटना करु,
लोचन चकित चकोरे।
अमिय धोय आँचर धनि पोछलि,
दहों-दिसि भेल उँजौरे॥
गुरु नितम्ब भरे चलए न पारए,
माझ-खानि खीनि निमाई।
भागि जाइत मनसिज धरि राखलि,
त्रिबलि-लता अरुझाई॥
नाभि-विवर कयं लोभ-लतावलि,
भुजगि निसास पियासा।
नासा खग पति-चंचु भरम-भय
कुच-गिरि-संधि निवासा॥

रीतिकाल का-सा नख-शिख-वर्णन हम विद्यापति की कविताओं में भी प्राप्त कर सकते हैं :

पल्लवराज चरन-जुग सोभित,
गति गज राज के माने।
कनककदली पर सिंह समारल,
ता पर मेरु समाने॥
मेरु ऊपर दुइ कमल फुलायल,
नाल विना रुचि पाई।
मनि-मय हार धार बहु सुरसरि,
तओ नहिं कमल सुखाई॥
अधर बिम्ब सम, दसन दाड़िम-बिजु,
रवि ससि आधिक पासे।
राहु दूर बसनियरो न आवधि
तै नहिकरथि गरासे॥

सारंग नयन बयन पुनि सारंग
सारंग तसु सम धाने ।
सारंग ऊपर उगल दस सारंग
कालि करथि मधुपाने ॥

विद्यापति के प्रेम-वर्णन में भौतिकता और विलासिता की प्रधानता है। प्रेम की वास्तविक पीड़ा का अभाव है, कामुकता की अधिकता है। हां, सौन्दर्य-चित्र बहुत स्पष्ट और स्थूल रेखाओं में अंकित किये गए हैं। कहीं-कहीं प्रेम के मानसिक पक्ष की भी बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है :

सखि की पूछसि अनुभव मोय।
सेहो पिरीत अनुराग बखानिये तिल-तिल नूतन होय ॥
जनम अवधि हमरूप निहारलु नयनल तिरपित मेल।
से हो मधु बोल स्रवनहिं सूनल स्रुति पथ परस न मेल।
कत मधु जामिनि रभस गमाओल न बूझल कइसन केल ॥
लाख लाख जुगहिय महँ राखतु तइयो हिय जुड़ल न गेल॥

वस्तुतः विद्यापति के गीतों में इस रूपक का बाहुल्य नहीं। विद्यापति की राधा और उसकी अन्य नवयुवती सखियाँ उन्माद, उद्दाम विलास, वासना से उद्वेलित प्रतीत होती हैं। उनके चित्र में शान्ति या शीतलता नहीं, जलन और दाह है।

विद्यापति ने कुछ भक्ति-विषयक पद भी लिखे हैं जो कि उनकी भक्ति-भावना के परिचायक हैं। साहित्यिक गुणों की दृष्टि से विद्यापति के गीत लालित्य तथा माधुर्य से युक्त और सरस हैं, उनकी भाषा कोमल-कान्त-पदावली से युक्त है। संस्कृत की साहित्यिक परम्परा से सम्बन्धित होने के कारण विद्यापति के गीतों में संस्कृत के रूपक, उपमा आदि सादृश्यमूलक अंलकारों की प्रचुरता है।

कबीर के गीत आधुनिक युग के गीति-काव्य के अधिक निकट हैं। उनमें कथाश्रित तत्त्वों की कमी है, वैयक्तिक अनुभूति, भाव-संवेदना और गीतात्मकता की प्रधानता है। यद्यपि कबीर के गीतों में साहित्यिकता की कमी है, भाषा भी अव्यवस्थित है, किन्तु भावों के उदात्त होने के कारण और अनुभूति की तीव्रता एवं गम्भीरता के कारण उनके गीत हिन्दी के गीति-काव्य की अमूल्य निधि हैं। अपने उपास्य राम को प्रियतम के रूप में और अपने-आपको उसकी प्रियतमा के रूप में चित्रित करके कबीर ने अपने गीतों में विरह-मिलन तथा सुख-दुःख को शृङ्गारिक रूप में उपस्थित किया है। किन्तु यह शृङ्गारिकता आध्यात्मिक अनु-

भूतियों के वर्णन का एक साधन-मात्र है :

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन, रात नहीं नहिं निंदिया, तलफ तलफ के भोर किया।
तन मन मोर रहंट अस डोले, सून सेज पर जनम छिया।
नैन थकित भये पंथ न सूझै, माईं बेदरदी सुध न लिया॥

कबीर के उपदेशात्मक और वैराग्य-प्रधान गीत भी सुन्दर बन पड़े हैं।

सूरदास हिन्दी गीति-काव्य के उज्ज्वल रत्न हैं। अनुभूति की तीव्रता, भावों की मधुरता और भाषा की सरलता तथा सरसता सूरदास के गीतों की प्रमुख विशेषता है। सूरदास ने विद्यापति की काम प्रधान शृङ्गारिकता को परिमार्जित करके उसे राधा और गोपियों के प्रेम के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। आन्तरिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना के कारण सूर के गीतों में एक स्वाभाविक मार्मिकता, तीव्रता और विदग्धता आ गई है। सूर में सामाजिकता का आग्रह प्राप्य नहीं, लोक-कल्याण-जैसी उदार भावनाओं की ओर से सूर उदासीन रहे हैं। उन्होंने सामाजिकता पर अपने व्यक्तित्व को प्रधानता दी है। यही कारण है कि सूरदास के गीत तुलसी की अपेक्षा अधिक मार्मिक हैं।

सूरदास के गीत कथा-तत्त्व पर आश्रित हैं, उन्होंने अपने गीतों में गोपाल-कृष्ण, राधा-गोपिवर्ग और यशोधरा तथा नन्द इत्यादि ब्रज-वासियों की कथा भागवत के दशम स्कन्ध के आधार पर कही है। किन्तु इस कथा में इतना निजत्व है कि उसमें सूर का सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित हो उठता है। गोपियों की विरह-कथा, राधा का भोलापन और स्नेह नन्द तथा यशोदा का वात्सल्य सूर का अपना ही है। सूर की इस सम्पूर्ण विरह-व्यंजना में उनकी अपनी वेदना और पीड़ा है। यशोदा और नन्द के सुख में सूर ने अपना सुख अनुभव किया है :

बोलत स्याम तोतरी बतियाँ, हँसि-हँसि दतियाँ दूमें।
'सूरदास' वारीं छवि ऊपर, जननि कमल मुख चूमें॥

कृष्ण की बाल-चेष्टाओं का वर्णन बहुत आकर्षक और स्वाभाविक बन पड़ा है :

नंद धरनि आनंद भरी, सुत स्याम खिलावै।
कबहुँ घुटरनि चलहिंगे, कहि बिधिहि मनावै॥

अथवा

हरि अपने आगे कछु गावत।
तनक-तनक चरननि सों नाचत, मनहीं-मनहिं रिझावत।
बाँह ऊँचाई कजरी-धौरी गैयन टेर बुलावत॥

सूरदास की गोपियाँ जब विरह में व्याकुल होकर कहती हैं :

> निसिदिन बरसत नैन हमारे।
> सदा रहत पावस ऋतु हम पै जब ते स्याम सिधारे॥
> दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ उर कपोल भये कारे।
> कंचुकि नहिं सूखत सुनु सजनी उरबिच बहत पनारे॥
> 'सूरदास' प्रभु अम्बु बढ़यौ है गोकुल लेहु उबारे।
> कहँ लौं कहैं स्यामघन सुन्दर बिकल होत अति भारे॥

तो वे सूरदास की वेदनामयी स्थिति का ही परिचय देती हैं।

सूरदास ने कृष्ण और राधा के सौन्दर्य के बहुत सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं। यद्यपि सूर के रूप-चित्रण में ऐन्द्रियता अवश्य है, किन्तु उनमें अनुभूति और भावात्मकता की कमी नहीं। विद्यापति के समान सूर में कामुकता और नग्नता नहीं। विद्यापति की राधा में जो ऐन्द्रियता, उद्दाम विलास-वासना और नग्नता है वह सूर की राधिका में नहीं। सूर की राधा प्रेम में पगी पूर्ण मानवी है, उसके प्रेम में गम्भीरता, तड़प और आकर्षण हैं। उसमें नारी-सुलभ कोमलता, सरलता और लज्जा है; वह प्रगल्भा नहीं। उसके प्रेम में संयम है। प्रेम की अधिकता के कारण ही वह उद्धव के ब्रज-आगमन पर भी मूक और शान्त रहती है, जब कि गोपिकाएँ अपने वाक्-चातुर्य का सुन्दर परिचय देती हैं।

सूर का विरह-वर्णन स्वाभाविक है। सम्पूर्ण प्राकृतिक वस्तुओं को विरह से व्याप्त बतलाते हुए भी सूरदास ने जायसी की-सी अस्वाभाविकता नहीं आने दी। गोपियों के प्रेम में दृढ़ विश्वास, गाम्भीर्य और उदारता है।

सूरदास के विनय-सम्बन्धी पदों में शान्त रस की प्रधानता है और उनमें उनका व्यक्तित्व भी अधिक निखर उठा है। पश्चात्ताप से पूर्ण निम्न लिखित पद्य देखिए :

> मो सम कौन कुटिल खल कामी।
> जिहि तनु दियो ताहि बिसरायौ, ऐसौ नौन हरामी॥
> भरि-भरि उदर विषय को धावै जैसे सूकर ग्रामी।
> हरि वन छाँड़ि हरि विमुखन की निसिदिन करत गुलामी॥

मीराबाई के गीतों में आत्म-निवेदन की प्रधानता है। उनके गीत उनके अपने सुख दुःख और आशा-निराशा की अभिव्यक्ति करते हैं, इस कारण उनमें संवेदन और गीतात्मकता की अधिकता है। बालपन से ही मीराबाई का मन गिरिधर गोपाल से लग गया था, और सम्पूर्ण आयु-भर उन्होंने कृष्ण को अपना प्रियतम – पति – मानकर उन्हीं के विरह-मिलन से उत्पन्न विषाद-हर्ष के गीतों को

गाया। प्रेम की तल्लीनता इनके पदों की प्रमुख विशेषता है :

बसो मेरे नैनन में नन्दलाल।
मोहनि मूरति, साँवरि सूरति, नैना बने बिसाल ॥
मोर मुकुट मकराकृति कुंडल, अरुन तिलक दिये भाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजन्ती माल ॥
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित, नूपुर शब्द रसाल।
'मीरा' प्रभु संतन सुखदाई, भक्तवछल गोपाल ॥

गोस्वामी तुलसीदास वस्तुतः प्रबन्ध काव्य के कवि हैं, किन्तु गीति-काव्य में भी उन्होंने असाधारण सफलता प्राप्त की है। गीतावली, कृष्ण गीतावली और विनय-पत्रिका प्रगीत काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। गीतावली के गीतों में रामचरित का वर्णन किया गया है, और 'कृष्ण गीतावली' में श्रीकृष्ण के जीवन-चरित का गायन है। इस प्रकार इन दोनों ही पुस्तकों के गीत कथाश्रित हैं, और उन पर कृष्ण-गीति-काव्य का प्रभाव है। विशेष रूप से भगवान् राम की बाल-लीलाओं के वर्णन पर तो सूरदास जी के अनेक पदों की छाया स्पष्ट लक्षित की जा सकती है। प्रगीत-काव्य की दृष्टि से गोस्वामी जी को विनय-पत्रिका में अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है 'विनय-पत्रिका' के गीतों में दैन्य, शान्त और कहीं-कहीं ओज की प्रधानता है। निजत्व के आधिक्य के, कारण गीत संवेदनापूर्ण और संगीत प्रधान हैं। भाषा भी संस्कृत-प्रधान पदावली से युक्त ब्रजभाषा है, किन्तु सूरदास का-सा माधुर्य उसमें नहीं। 'विनय-पत्रिका' में शान्त रस का बहुत सुन्दर परिपाक हुआ है, दैन्य की अभिव्यक्ति भी बहुत सुन्दर हुई है। एक पद्य देखिए :

द्वार हौं भोर ही को आज।
रटत रिरिहा आरि औरनि कौन हीते काज ॥
दीनता दारिद दलै को कृपावारिधि बाज।
दानि दसरथ राय के तुम बानइत सिरताज ॥
जनम को भूखो, भिखारी हौं गरीब-निवाज।
पेट भरि तुलसिहिं जिवाइए भगति-सुधा-सुनाज ॥

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र हिन्दी-साहित्य के इतिहास में नवयुग के जनक कहे जाते हैं, प्राचीन काव्य-परिपाटी का त्याग करके नवीन परिस्थितियों के अनुकूल काव्य में नवीन प्रवृत्तियों को प्रश्रय देने का श्रेय भारतेन्दु बाबू को ही है। इसी समय राष्ट्रीय गीतों की रचना प्रारम्भ हुई और स्वच्छन्द प्रवृत्तियों

के विकास का अवसर प्राप्त हुआ। राष्ट्रीय गीतों में देश-प्रेम और मातृ-वन्दना की मुख्यता है :

> हमारा उत्तम भारत देस।
> जाके तीन ओर सागर है, उत हिमगिरि अति वेष ॥
> श्री गंगा यमुनादि नदी हैं, विंध्यादिक परवेस।
> राधाचरण नित्य-प्रति बाढ़ो जब लौं रवि-राकेस ॥

अन्यत्र भारत की दीनतापूर्ण अवस्था को चित्रित किया गया है। आर्यों के महान् भूत की वर्तमान से तुलना करके हरिश्चन्द्र कह उठते हैं :

> आवहु रोवहु सब मिलि भारत भाई।
> हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥

'नीलदेवी' में वह करुणा पूर्वक भारत के उद्धार के लिए केशव से प्रार्थना करते हैं :

> कहाँ करुणानिधि केसव सोए ?
> जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए ॥

भारतेन्दु ने राष्ट्रीय गीतों के अतिरिक्त विद्यापति तथा सूरदास के ढंग पर भक्ति-सम्बन्धी पद भी लिखे हैं, वस्तुतः भक्ति-सम्बन्धी गीतों में ही उनका व्यक्तित्व स्पष्ट रूप में हमारे सम्मुख आता है। निजीपन की अधिकता के कारण ऐसे गीतों में मार्मिकता और मधुरता अधिक है। नीचे दिये गए गीत में व्रज-वास की अभिलाषा किस प्रकार मूर्तिमान हो उठी है :

> अहो हरि वेह दिन कब ऐहैं।
> जा दिन में तजि और संग सब हम व्रजवास वसैहैं।
> संग करत नित हरि भक्तिन का हम नैकहु न अघैहैं ॥
> सुनत स्रवन हरि-कथा सुधा-रस महा मत्त ह्वै जैहैं।
> कब इन दोउ नैनन सों निसिदिन नीर निरंतर बहिहैं ॥
> 'हरिचन्द' श्रीराधे राधे कृष्ण कृष्ण कब कहिहैं ॥

अथवा :

> व्रज की लता पता मोहिं कीजे।
> गोपी पद-पंकज पावन की रज जामें सिर भीजै ॥

सांसारिक वैभव-विलास से विरक्त होकर भगवत्कृपा की प्राप्ति की अभिलाषा निम्न पद्य में कितनी उत्कटता से प्रकट हुई है :

> मिटत नहिं या तन के अभिलाख।
> पुजवत एक जबै विधि तनते होत और तन लाख ॥

दिन प्रति एक मनोरथ बाढ़त तृष्णा उठत अपार ॥
जोग ज्ञान जप तीरथ आदिक साधन ते नहिं जात ।
'हरीचन्द' बिन कृष्ण कृपा रस पाय न नाह अघात ॥

भारतेन्दु बाबू के प्रणय-गीतों पर उर्दू की काव्य-शैली का प्रभाव है।

मैथिलीशरण गुप्त का प्रादुर्भाव इतिहास के उस समय में हुआ जब कि सुधारवादी आन्दोलनों के फलस्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में शुष्कता और नीरसता का आधिक्य था। रीतिकालीन काव्य की शृङ्गारिक प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हिन्दी-काव्य में शृङ्गार का बहिष्कार किया गया, और समाज-सुधार तथा राष्ट्रीय जागरण के हेतु कविता में उपदेशात्मकता का प्राधान्य हो गया। गुप्त जी अपने समय के प्रतिनिधि कवि हैं, उनकी कविता में अपने युग की सम्पूर्ण विशेषताएँ उपलब्ध हो जाती हैं। किन्तु गुप्त जी एक प्रगतिशील कवि हैं, वे युग की परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों के अनुरूप अपने-आपको ढालने में पूर्ण समर्थ हैं। 'साकेत'-जैसा प्रबन्ध काव्य लिखकर गुप्त जी ने अपने प्रबन्ध-कौशल का परिचय दिया है, किन्तु युग-धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप वे गीति-काव्य की उपेक्षा नहीं कर सके। 'साकेत' में भी गीति-काव्य की यह प्रवृत्ति स्पष्ट प्रतिबिम्बित हो गई है; 'साकेत' में उर्मिला के मानसिक उत्ताप और विरह की व्यंजना के लिए गुप्त जी ने गीति-काव्य का आश्रय ग्रहण किया है, और गीतों द्वारा उर्मिला की हार्दिक पीड़ा की अभिव्यंजना की है। इस प्रकार 'साकेत' प्रबन्ध और गीति-काव्य का सम्मिश्रण बन गया है। 'साकेत' के निम्न लिखित गीत क्या स्वतन्त्र मुक्तक का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते :

वेदने ! तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी ॥
अरी वियोग-समाधि अनोखी, तू क्या ठीक ठनी।
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची-तनी ॥

× × ×

सखि, निरख नदी की धारा।
ढलमल-ढलमल, चंचल-अंचल, झलमल-झलमल तारा ॥
निर्मल जल अंतस्तल भरके, उछल उछलकर छल-छल छलके।
थल-थल तरके, कल-कल धरके बिखराती है पारा ॥

उर्मिला की भाँति यशोधरा की पीड़ा भी गीति-काव्य के ही अधिक उपयुक्त बन पड़ी है, उसके क्षणिक उत्साह, हर्ष, शोक, पीड़ा इत्यादि का चित्रण बहुत मार्मिक है। उर्मिला की अपेक्षा यशोधरा की विरह-व्यंजना अधिक मर्मस्पर्शी है,

उर्मिला के विरह-वर्णन में वाग्जाल की प्रधानता है, किन्तु यशोधरा में सरलता :

सखि, वे मुझसे कहकर जाते ?
कह, तो क्या मुझको वे अपनी—
पथ - बाधा ही पाते ?

नारी-हृदय की इस स्वाभाविक कमजोरी की अभिव्यक्ति के साथ ही वह अन्त में अपनी शुभकामना भी इन शब्दों में प्रगट करती है :

जायें सिद्धि पावें वे सुख से
दुखी न हों इस जन के दुःख से
उपालम्भ दूं मैं किस मुख से
आज अधिक वे भाते ?
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

गुप्तजी ने अनेक स्वतन्त्र गीत भी रचे हैं। रहस्यवादी और छायावादी ढंग के गीतों की रचना करके गुप्तजी ने अपने-आपको एक प्रगतिशील कवि सिद्ध कर दिया है। आधुनिक प्रवृत्ति के अनुकूल गुप्त जी की ये गीत देखिए :

निकल रही है उर से आह,
ताक रहे सब तेरी राह।
चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी।
मैं अपना घट लिये खड़ा हूँ, अपनी-अपनी हमें पड़ी॥

× × ×

प्यारे! तेरे कहने से जो यहाँ अचानक मैं आया।
दीप्ति बढ़ी दीपों की सहसा, मैंने भी ली साँस कहाँ ?
सो जाने के लिए जगत् का यह प्रकाश है जाग रहा।
किन्तु उसी बुझने प्रकाश में डूब उठा मैं और बहा।
निरुद्देश्य नख-रेखाओं में देखी तेरी मूर्ति अहा!

गुप्त जी ने अनेक सुन्दर राष्ट्रीय गीत भी लिखे हैं।

जयशंकर 'प्रसाद' मानव-मन की अनुभूतियों के कवि हैं, इसी कारण उनकी कविता में आन्तरिक अनुभूतियों का ही चित्रण अधिक प्राप्य है। सुख-दुःख, आशा-निराशा तथा हर्ष-विषाद से व्याप्त इस जीवन के आन्तरिक सौन्दर्य की पहचान प्रसाद में खूब थी। अतः गीति-काव्य के लिए आवश्यक सौन्दर्य वृत्ति (Aesthetic sense) का प्रसाद में अभाव नहीं था। आन्तरिक अनुभूति और सौन्दर्य-वृत्ति के मिश्रण से 'प्रसाद' के गीतों में अद्भुत माधुर्य और

सरलता आ गई है। गीति-काव्य में प्रसाद जी हमारे सम्मुख मुख्य रूप से रूप और यौवन-विलास के कवि के रूप में आए हैं। छायावादी काव्य की अशरीरी सौन्दर्य-प्रवृत्ति के प्रभाव के फलस्वरूप प्रसाद के सौन्दर्य-चित्र स्थूल कम और भावात्मक अधिक हैं, उनमें अनुभूति की मुख्यता है। किन्तु वस्तुतः वे मनोरम और रमणीय हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता :

तुम कनक किरण के अन्तराल में,
लुक-छिपकर चलते हो क्यों ?
नत-मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के घन रस-कन ढरते,
हे लाज भरे सौन्दर्य ! बता दो,
मौन बने रहते हो क्यों ?
अधरों के मधुर कगारों में,
कल-कल ध्वनि की गुञ्जारों में,
मधु सरिता-सी यह हँसी तरल,
अपनी पीते रहते हो क्यों ?

लाज-भरे सौन्दर्य का इससे सुन्दर चित्र शायद ही अन्यत्र प्राप्त हो। शब्दों की रेखाओं में मौन बने हुए सौन्दर्य की इस मस्ती का कितना सुन्दर चित्रण है। किन्तु इस मौन में भी वह कितना खिल उठा है।

यौवन के उन्माद का, उसकी असंयत मस्ती का एक और चित्र देखिए :

आज इस यौवन के माधवी-कुञ्ज में कोकिल बोल रहा !
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेमालाप।
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप ॥
लाज के बन्धन खोल रहा !

और भी—

शशि-मुख पर घूँघट डाले,
अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में,
कौतूहल से तुम आये ॥

'प्रेम-पीर' की अभिव्यक्ति भी प्रसाद के गीतों में अपूर्व है। 'आँसू' कवि का सर्वश्रेष्ठ विरह-गीति-काव्य है। उसमें अतीत के यौवन-विलास की स्मृति में 'प्रसाद' के अश्रु संग्रहीत हैं। जो कुछ वह खो चुके हैं, जो सुख-स्वप्न वे देख चुके हैं, उस सबके प्रति उनके हृदय में अगाध वेदना और पीड़ा है। चिरकाल

से जो विरह-वेदना कवि के हृदय में संचित थी वह घुलकर इसमें प्रवाहित हो उठी है :

बस गई एक बस्ती है,
स्मृतियों की इसी हृदय में।
नक्षत्र लोक फैला है,
जैसे इस नील-निलय में॥

कहीं-कहीं फारसी विरह-काव्य का प्रभाव भी स्पष्ट है—

छिल-छिलकर छाले फोड़े मल-मलकर मृदुल चरण से।
घुल-घुलकर बह-बह जाते, आँसू करुणा के कण से॥

विरह-वेदना ज्वाला के सदृश कवि के हृदय को व्याप्त किये हुए है, यह ज्वाला न कभी सोती है, और न कभी बुझती है :

मणि-दीप विश्व-मन्दिर की,
पहने किरणों की माला।
तुम एक अकेली तब भी,
जलती हो मेरी ज्वाला!

और भी—

उत्ताल - जलधि - वेला में,
अपने सिर शैल उठाये।
निस्तब्ध गगन के नीचे,
छाती में जलन छिपाये॥

प्राचीन यौवन-विलास की स्मृति में कवि आकुल होकर कहता है :

आह रे, वह अधीर यौवन!
अधर में वह अधरों की प्यास,
नयन में दर्शन का विश्वास,
धमनियों में आलिंगनमयी—
वेदना लिये व्यथाएँ नई,
टूटते जिसमें सब बन्धन,
सरस सीकर-से जीवन-कण,
बिखर भर देते अखिल भुवन,
वही पागल अधीर यौवन!

यौवन-वसन्त की वेदनामयी स्मृति कवि के सम्पूर्ण गीति-काव्य में अभिव्यक्त होती है। कभी वह वसन्त के [illegible] याद करता है तो कभी यौवन के मन्दिर

सपनों को सँजोता है। वर्तमान के संघर्ष में भी अतीत की याद रह-रहकर उसे संतप्त कर देती है।

'लहर', 'आँसू' तथा 'झरना' के अतिरिक्त प्रसाद जी के बहुत से गीत नाटकों में सुरक्षित हैं। ऊपर हम दो-एक गीत विभिन्न नाटकों में से दे आए हैं। प्रसाद जी के गीतों में प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण भी हुआ है, किन्तु वह स्वतन्त्र न होकर अनन्त अपितु मानवीय भावनाओं, कल्पनाओं और अनुभूतियों से मिश्रित है :

अस्ताचल पर युवती संध्या की,
खुली अलक घुँघराली है।
लो मानिक मदिरा की धारा,
अब बहने लगी निराली है॥
भर ली पहाड़ियों ने अपनी,
झीलों की रत्नमयी प्याली।

प्रसाद जी ने छायावादी कवियों की रीति के अनुसार प्रकृति का मानवीकरण करके उसको अपने गीतों में चित्रित किया है :

किरण ! तुम क्यों बिखरी हो आज, रँगी हो तुम किसके अनुराग ?
× × ×
धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश, मधुर मुरली-सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना दूती-सी तुम कौन ?

अथवा—

अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा - घट उषा नागरी।
लो यह कलिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल रस गागरी॥

'प्रसाद' जी के राष्ट्रीय गीत भी बहुत सुन्दर भाव तथा ओजपूर्ण हैं, 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' शीर्षक गीत में प्रसाद जी ने भारत की महान् संस्कृति की वन्दना की है। ओज तथा उत्साह से पूर्ण यह अभियान-गीत तो बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है :

हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती—

अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो !
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो।

प्रसाद जी के गीत कल्पना, भावना, अनुभूति तथा सौन्दर्य-प्रवृत्ति से पूर्ण होने के कारण गीति-काव्य के बहुत सुन्दर कलात्मक रूप हैं।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' निरन्तर विकासशील कवि हैं, पुरानी परम्पराओं और रूढ़ियों से बँधे रहना न उन्हें पसन्द है और न उनकी प्रकृति के अनुकूल ही। युग तथा परिस्थितियों की माँग के अनुसार अपने उत्तरदायित्व को पहचानकर उन्होंने अपने-आपको ढाला है। गीति-काव्य के क्षेत्र में वे हमारे सम्मुख विविध रूप से आए हैं, पुराने गीतों में हम उन्हें एक ऊँचे सौन्दर्यवादी कवि के रूप में पाते हैं। निम्न गीत निराला के सौन्दर्य-चित्रण की विशेषताओं को प्रदर्शित करता है :

नयनों के डोरे लाल गुलाल-भरे, खेली होली।
जागी रात सेज प्रिय पति-सँग रति सनेह-रँग घोली,
दीपित-दीप-प्रकाश, कंज-छवि-मंजु हँस खोली
भली मुख चुम्बन रोली।
प्रिय-कर-कठिन उरोज-परस कस कसक-मसक गई चोली
एक वसन रह गई मन्द हँस अधर-दशन अनबोली—
कली-सी काँटे की तोली।

किन्तु निराला के गीतों में शृङ्गार की भावावेशपूर्ण दुर्बल अभिव्यक्ति प्राप्त नहीं होती। उनके गीत उद्दाम विलास-वासना से पूर्ण नहीं, वे सचेत कलाकार हैं, वे समाज की उपेक्षा नहीं करते इसी कारण उनके शृङ्गार में असंयम या अति नहीं। सौन्दर्य-चित्रण में भी निराला ने संकेत का आश्रय ग्रहण किया है। उसमें सुकुमारता के साथ भावात्मकता और अस्पष्टता है। 'परिमल' की मुक्त छन्द की कविताओं में सौन्दर्य-चित्र बहुत सुन्दर हैं। 'जूही की कली' सौन्दर्य-चित्रण के लिए विशेष विख्यात है। 'जागृति में सुप्ति थी' में भी सौन्दर्य-चित्रण में निराला को वैसी ही सफलता प्राप्त हुई है।

निराला ने प्रकृति-चित्रण में प्राकृतिक दृश्यों का छायावादी रीति के अनुसार मानवीकरण किया है। 'सन्ध्या-सुन्दरी'-विषयक कविताओं से यह स्पष्ट हो जायगा। मानव-सापेक्ष प्रकृति-चित्रण भी वर्णन किया गया है। 'अलि, घिर आये घन पावस के' में कवि ने अपने एकाकीपन को चित्रित करते हुए लिखा है :

अलि, घिर आये घन पावस के।
लख ये काले-काले बादल
नील सिन्धु में खुले कमल-दल
हरित ज्योति, चपला अति चंचल
सौरभ के रस के!
अलि घिर आये घन पावस के।

× ×

छोड़ गए गृह जब से, प्रियतम
बीते अपलक दृश्य मनोरम
क्या मैं हूँ ऐसी ही अक्षम
क्यों न रहे बेबस के!
अलि घिर आये घन पावस के।

निराला जी का हृदय उपेक्षित और पीड़ित वर्ग की ओर भी समान रूप से आकृष्ट हुआ है, उनके 'भिक्षुक' तथा 'विधवा' शीर्षक गीत हिन्दी-साहित्य में अपना सानी नहीं रखते। 'विधवा' शीर्षक गीत की कुछ पंक्तियाँ देखिए :

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन
वह क्रूर-काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन
दलित भारत की ही विधवा है।

'कण' शीर्षक गीत में भी निराला ने दलित वर्ग के प्रति सार्वजनिक सहानुभूति को उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है, किन्तु साथ ही उन्हें विद्रोह की प्रेरणा भी दी है :

पड़े सहते हो अत्याचार।
पद-पद पर सदियों से पद-प्रहार।

'गीतिका' निराला के गीतों का एक बहुत सुन्दर संग्रह है। इन गीतों में कुछ तो दार्शनिक हैं और कुछ शृङ्गारिक। ये गीत बहुत मधुर और चमत्कार-पूर्ण हैं, संगीतात्मकता की दृष्टि से ये विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

इतिहास के अतीत की ओर भी 'निराला' की दृष्टि गई है, 'दिल्ली', 'यमुना के प्रति' तथा 'खण्डहर' इत्यादि गीतों में उन्होंने भारत के स्वर्णिम अतीत की मार्मिक झाँकी दिखलाई है। निराला जी का यह उद्बोधन-गीत बहुत प्रसिद्ध है :

जागो फिर एक बार
उगे अरुणाचल में रवि,
आई भारती रति रवि कंठ से
पल-पल में परिवर्तित होते रहते प्रकृति-पट
जागो फिर एक बार !

निराला जी के गीतों की सबसे बड़ी विशेषता है भावना तथा कल्पना के साथ बुद्धि-तत्त्व का सम्मिश्रण।

सामयिक युग में निराला के स्वर में परिवर्तन हो गया है। अब उनकी कविताओं में यथार्थवाद के साथ व्यंग्य की प्रधानता हो गई है; भाषा भी गद्य-मयी हो गई है, और प्राचीन काव्य-सौन्दर्य के उपकरणों का उनमें सर्वथा अभाव हो गया है। यथार्थ दृष्टिकोण को अपनाने के फलस्वरूप आज उनके गीतोंमें स्वर्णिम स्वप्न विलीन हो गए हैं, कोमल कान्त-कल्पना विलुप्त होगई है और उनका स्थान जीवन के संघर्ष, कठोर सत्य तथा क्रूर यथार्थ ने ले लिया है। पीड़ित, शोषित और दलित वर्ग आज उनके काव्य के वर्ण्य विषय बन चुके हैं। उन्हीं के अनु-सार उनकी भाषा भी हो गई है। 'बेला' में उनकी इस प्रकार की नवीन कविताओं का संग्रह है, इनमें अनेक यथार्थवादी गीत हैं, अनेक गजलें हैं और अनेक नवीन प्रयोग। मधुर संगीत के साथ जीवन की व्यथा इन गीतों की प्रमुख विशेषता है। निम्न लिखित गीत में उनके हृदय की अपार वेदना मुखरित हो उठी है :

मैं अकेला, मैं अकेला
आ रही है मेरे गमन की सान्ध्य बेला।

कहीं-कहीं छायावादी संगीत से मिश्रित यथार्थवाद का प्रयोग भी किया गया है :

रूप की धारा के उस पार
कभी धँसने भी दोगे मुझे।
विश्व की श्यामल स्नेह सँवार
हँसी हँसने भी दोगे मुझे ?
वैर यह ! बाधाओं से अन्ध
प्रगति में दुर्गति का प्रतिबन्ध।
मधुर उर से उर जैसे गन्ध
कभी बसने भी दोगे मुझे।

'अणिमा' में सम्बोधन-गीत (ओड) का भी सफल प्रयोग किया गया

है। 'वेला' की कुछ कजलियाँ सुन्दर हैं :

काले-काले बादल छाये, न आये वीर जवाहरलाल।
कैसे-कैसे नाग मँडलाये, न आये वीर जवाहरलाल॥

'कुकुर मुत्ता' तथा 'बेला' की भाषा उर्दू-मिश्रित हिन्दुस्तानी है। निराला आज काव्य के क्षेत्र में नवीन प्रयोग कर रहे हैं। उन्हें इस विषय में कहाँ तक सफलता प्राप्त होगी, यह तो भविष्य ही बतलायगा। किन्तु निराला एक महान् प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार हैं, इसमें सन्देह नहीं।

सुमित्रानन्दन पन्त ने प्राकृतिक सौन्दर्य से काव्य-प्रेरणा ग्रहण की है। हिमालय की गोद में जन्म प्राप्त करके और उसी के रम्य सौन्दर्य में पलकर कवि पन्त को अपनी कल्पना को श्याम मेघों, बहते झरनों और फूलों से लदी हुई विस्तृत घाटियों तक व्याप्त करने का अवसर उपलब्ध हुआ है। प्राकृतिक सौन्दर्य की रम्य सुषमा में ही कवि को अपनी कल्पना के समृद्ध करने का अवसर प्राप्त हुआ। अतः पन्तजी की कविताओं में प्रकृति के रूप-रंग का, उसकी मनोहारी छटा का और उसके विविध आकारों का सूक्ष्म चित्रण प्राप्य है। अपनी प्रारम्भिक कविताओं में तो कवि ने अपनी सम्पूर्ण भावनाओं और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति भी प्राकृतिक सौन्दर्य के विभिन्न उपकरणों के माध्यम द्वारा की है। अपनी समवयस्का बाल-प्रकृति के गले में भुजाएँ डालकर कवि ने कहा है :

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले, तेरे बाल-जाल में, कैसे उलझा दूँ लोचन ?

बाल-कल्पना के इस अवसर पर ही कवि ने प्राकृतिक सौन्दर्य को नारी-सौन्दर्य से अधिक आकर्षक पाया है।

कवि की 'पल्लव' तक की अधिकांश कविताएँ प्रकृति की सुन्दर, स्निग्ध और मधुर प्रेरणाओं से ही ओत-प्रोत हैं। प्रकृति के कोमल और मनोहर रूप की ओर ही कवि आकृष्ट रहा है, उसके प्रलयंकर रूप की ओर नहीं।

प्रकृति के इस सौन्दर्य में ही कवि ने किसी अज्ञात शक्ति को अनुभव किया है, और इस अज्ञात आकर्षण के फलस्वरूप ही कवि के अनेक गीत कहीं-कहीं रहस्यमयी भावनाओं से अनुप्राणित हो गए हैं।

निराला में जहाँ बौद्धिकता का प्राधान्य है वहाँ पन्त में कल्पना का। वस्तुतः पन्त जी के सम्पूर्ण काव्य का आधार ही यह कल्पना का मोहक जगत् है, और इस के बल पर ही वे हिन्दी के सर्वाधिक सृजनशील कवि बन सके हैं। किशोरावस्था में लिखी गई 'ग्रन्थि' तथा 'वीणा' इत्यादि की कविताएँ तो बाल-सुलभ

कल्पना से अनुप्राणित हैं ही, साथ ही उनकी बाद की सौन्दर्य तथा प्रेम-विषयक सूक्ष्म मनोवृत्तियों पर लिखी गई कविताओं में भी कल्पना की उड़ान की कमी नहीं। इसी कारण अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में कवि जीवन का सम्पर्क छोड़कर एकान्तिक हो गया है। जहाँ प्रेम इत्यादि हार्दिक अनुभूतियों का वर्णन उसने केवल कल्पना के आधार पर किया है, वहाँ अवास्तविकता और अप्राकृतिकता आ गई है।

पन्तजी एक कुशल शब्द-शिल्पी हैं, उनमें चित्रात्मकता, चित्रोपम भाषा तथा अलंकार-विधान द्वारा स्वरूप-निर्देश की प्रवृत्ति का आधिक्य है :

सरकाती-पट
खिसकाती लट
शरमाती झट
नत नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट

× × ×

वह मग में रुक
मानो कुछ झुक
आँचल सँभालती, फेर नयन-मुख
पा प्रिय की आहट;

इस चित्र में यद्यपि आलंकारिकता का विधान नहीं, किन्तु शब्द-चित्र का सौन्दर्य अद्भुत है। 'युगान्त' तथा 'युगवाणी' में कवि में बौद्धिकता का प्राधान्य हो गया है, वे मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित होकर कल्पना-लोक से उतर जन-साधारण की ओर आकृष्ट होता है। ग्रामीण समाज के सम्पर्क में आकर वे ग्रामीण जीवन के अनेक चित्र अपने गीतों में प्रस्तुत करते हैं। किन्तु अधिकांश अंश में ऐसे चित्रों में वे अपनी हार्दिक अनुभूति व्यक्त नहीं कर सके, उनमें केवल-मात्र बौद्धिक सहानुभूति ही है। हार्दिक अनुभूति के अभाव में गीति-काव्य में उत्कृष्टता की कल्पना नहीं की जा सकती।

पन्तजी ने सुन्दर 'प्रणय-गीत' भी लिखे हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण तो भाषा की अनुकूलता को प्राप्त करके सहज सौन्दर्य युक्त होकर उत्कृष्ट और कलात्मक बन गया है। 'ग्राम्या' में कवि में बौद्धिकता की अपेक्षा अनुभूति की प्रधानता है, इसी कारण वह 'युगवाणी' तथा 'युगान्त' की अपेक्षा अधिक साहित्यिक और कलात्मक है। 'ग्राम-देवता', 'ग्राम-युवति,' 'सन्ध्या के बाद', तथा 'खिड़की से' इत्यादि उनकी अनेक उत्कृष्ट कविताएँ हिन्दी-गीति-काव्य के ज्योति-स्तम्भ हैं।

इधर पन्त जी ने अपनी नवीन काव्य-पुस्तकों—'स्वर्ण किरण' तथा 'स्वर्ण-धूलि'—में आध्यात्मिकता और भौतिकता का सामंजस्य स्थापित करके एक नवीन सांस्कृतिक सन्देश देने का प्रयत्न किया है।

गीति-काव्य के क्षेत्र में पन्त जी की देन अमूल्य है। विषय और प्रकार सभी दृष्टियों से उनके गीतों में विविधता है, और सभी में उन्हें समान सफलता प्राप्त हुई है।

महादेवी वर्मा हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ गीत-लेखिका हैं। गीति-काव्य के लिए जिस एकान्त वैयक्तिक साधना की आवश्यकता है, महादेवीजी में वह प्राप्य है। गीत के छन्द तथा लय पर आपका-सा अधिकार अन्यत्र दुर्लभ है। वे सर्वथा स्वाभाविक हैं, आयास-साध्य नहीं। संगीतात्मकता इतनी अधिक है कि पाठक स्वयं मुग्ध होकर इन गीतों को गुनगुनाने लगता है।

महादेवी जी की कविता में अनुभूति, भावना तथा कल्पना का प्राधान्य है। उनके गीत पन्त या निराला के समान दार्शनिकता से बोझल नहीं, केवल निर्मम बुद्धिवाद उनकी पीठिका नहीं। हाँ अज्ञात के अन्वेषण की भावना अवश्य है, जो कि प्रत्येक गीत में स्पष्ट लक्षित की जा सकती है। आपकी अभिव्यंजना-शैली बहुत प्रौढ़ है, उसमें सांकेतिकता की प्रधानता है। प्रत्येक शब्द-चयन अनुभूति की गतिशीलता से अनुप्राणित-सा प्रतीत होता है:

मैं पुलकाकुल,
पल-पल जाती रस-सागर ढुल,
प्रस्तर के जाते बन्धन खुल।

वेदना—पीड़ा आपकी कविताओं का प्राणाधार है। उनमें एक विशिष्ट एकाकीपन, शून्यता और मूकता निरन्तर विद्यमान रहती है। वस्तुतः यह सूनापन महादेवी वर्मा के काव्य का वातावरण ही बन गया है। उनका सम्पूर्ण जीवन मूक वेदना, पीड़ा और एकाकीपन से व्याप्त है, प्रकृति का प्रत्येक उपकरण निस्तब्ध शान्त और मूक-सा प्रतीत होता है। निम्न लिखित पंक्तियों में यह सूनापन और वेदना कितनी करुणा से व्यक्त हो उठती है:

(१) वेदना की वीणा पर देव, शून्य गाता हो नीरव राग।
(२) चकित-सा सूने में गिन रहा हो प्राणों के दाग।
(३) शून्य चितवन में बसेगी मूक हो गाथा तुम्हारी।
(४) मूक प्रति निश्वास है नव स्वप्न की अनुरागिनी-सी।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे देवी जी का सम्पूर्ण जीवन नितान्त एकाकी,

सूना और वेदनायुक्त है। इस दृष्टिकोण से उनकी निम्न पंक्तियाँ उनकी सम्पूर्ण जीवन-कथा को कह देती हैं:

मैं नीर भरी दुख की बदली!
विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना, इतिहास यही
उमड़ी कल थी, मिट आज चली।
मैं नीर भरी दुख की बदली!

जीवन को दीपक के सदृश जला देने में ही आप अपना चरम उद्देश्य समझती हैं, मन्द गति से मृदुल मोम की भांति प्रियतम के पथ को आलोकित करने के लिए अपने शरीर को घुला देने में कितनी पीड़ा है:

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल,
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल।
प्रियतम का पथ आलोकित कर,
सौरभ फैला विपुल धूल बन;
मृदुल मोम-सा घुल रे मृदु तन,
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित।
तेरे जीवन का अणु गल-गल,
पुलक-पुलक मेरे दीपक जल!

देवी जी ने अपने इस दुःखवाद की विवेचना इस प्रकार की है:

सुख और दुःख के धूपछाँहों डोरों से बुने हुए जीवन में मुझे केवल दुःख ही गिनते रहना क्यों इतना प्रिय है, यह बहुत लोगों के आश्चर्य का कारण है। ······· संसार जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है, वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब-कुछ मिला है, परन्तु उस पर दुःख की छाया नहीं पड़ सकी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।

इसके अतिरिक्त बचपन से ही भगवान् बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनकी संसार को दुःखात्मक समझने वाली फिलासफी से मेरा असमय ही परिचय हो गया था। वे आगे लिखती हैं: दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँधे रखने की क्षमता रखता है। ······· विश्व-जीवन में

अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।

अपने गीतों में वेदना और करुणा की प्रधानता के कारणों की इस प्रकार कवयित्री ने स्वयं ही व्याख्या कर दी है। किन्तु वर्तमान समय की अभाव तथा निराशा से पूर्ण परिस्थितियों का देवी जी के काव्य पर प्रभाव न पड़ा हो, यह भी असम्भव है। प्राकृतिक सौन्दर्य में आपने विराट् भावना के दर्शन किये हैं, और उसमें उस महान् के रूप को ही देखा है। प्रकृति-बाला के अनेक मधुर चित्र आपके गीतों में हैं; उनमें सूक्ष्म निरीक्षण का अभाव अवश्य है, किन्तु कल्पना और चित्रण के मिश्रण से उसमें जिज्ञासा की भावना आ गई है। जो कि उन गीतों को स्वतः ही रहस्यवादी बना देती है। मानवीय भावनाओं का आरोप करके अपने गीतों में देवीजी ने उसे मानवीय रूप में भी चित्रित किया है।

देवी जी के प्रेम-वर्णन में आध्यात्मिक विरह की प्रधानता है, जो कि कहीं अत्यन्त तीव्र करुणा के रूप में मुखरित हो उठी है :

जो तुम आ जाते एक बार !
कितनी करुणा कितने सन्देश
पथ में बिछ जाते बन पराग।
गाती प्राणों का तार-तार
अनुराग भरा उन्माद राग ॥
आँसू लेते वे पग पखार !

वस्तुतः देवी जी के गीत माधुर्य और संगीतपूर्ण हैं। कविता में चित्रोपमता की धिकता है। भाषा की दृष्टि से आप हिन्दी के सम्पूर्ण गीतकारों में अग्रणी हैं। आपकी भाषा में न तो क्लिष्टता है और न संस्कृत शब्दों की बहुलता ही। देवीजी ने शब्दों को चुन-चुनकर ऐसी पच्चीकारी की है जैसी कि देव, मतिराम और बिहारी आदि की भाषा में प्राप्त होती है। निर्झरिणी के कल-कल शब्द की भाँति वह स्वतः गुञ्जरित हो उठती है। अलंकार इतने स्वाभाविक और शिल्प-कौशल से रखे गए हैं कि कहीं भी बोझिल नहीं हुए।

रामकुमार वर्मा हिन्दी की रहस्यमयी परम्परा के पोषक कवियों में अपना मूर्धन्य स्थान रखते हैं। जीवन को एक नये दृष्टिकोण से देखकर उन अनुभूतियों को कविता में व्यक्त करना ही उनके काव्य की विशेषता है। 'चित्ररेखा', 'चन्द्र-किरण' और 'संकेत' आपके रहस्यवादी गीतों के संग्रह हैं। आपकी भाषा संस्कृतनिष्ठ और प्रौढ़ होती है। गम्भीर भावों की वाहिका शक्ति उसमें असीम

है, इसीलिए उनके गीत कहीं-कहीं गुरु गम्भीर और दुरूह भी हो गए हैं।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' हिन्दी में निराली विचार-धारा और अभिव्यक्ति का माध्यम लेकर आए। आपके गीतों में मस्ती और जीवन की छटा यत्र-तत्र छिटकी हुई मिलती है। वैसे आप हिन्दी-साहित्य में राष्ट्रीय उत्क्रान्ति-काल के सन्देश-वाहक बनकर आये थे, परन्तु जिस तन्मयता से जीवन की रंगीनियों से सराबोर मादक रहस्यात्मक गीतों की धारा आपने बहाई, वह आप मस्ती की परिचायिका है। आपकी भावना, कल्पना तथा चेतना तीनों पर ही समान अधिकार है। सौन्दर्य-अन्वेषण की अचूक परख आपके गीतों में प्रायः देखने को मिलती है। आपका शब्द-चयन, भाव-गुम्फन तथा रचना-शैली अपूर्व है। संस्कृतनिष्ठ शब्दों के साथ आपने अपनी कविताओं में खड़ी बोली, ब्रजभाषा तथा उर्दू के शब्दों का भी उदारतापूर्वक प्रयोग किया है।

भगवतीचरण वर्मा के गीतों में सामाजिक बन्धनों के प्रति तीव्र विद्रोह की भावना के अतिरिक्त मस्ती तथा अल्हड़ता का भी प्रकटीकरण हुआ है। जीवन के प्रति उनका एक विशिष्ट बौद्धिक दृष्टिकोण है जो कि उनके गीतों में भी प्रतिबिम्बित हुआ है, किन्तु गीतों में वस्तुतः उनके उन्मत्त प्रेमी हृदय की अधिक अभिव्यक्ति हुई है। जीवन की मार्मिक अनुभूतियाँ—सुख-दुःख, आशा-निराशा और उत्थान-पतन इत्यादि—उनके काव्य में मूर्त हो उठे हैं। वर्माजी की गीत और भाषा-शैली पर उर्दू का विशेष प्रभाव है। प्रेम-वर्णन भी उर्दू की काव्य-शैली से प्रभावित है। वर्माजी का प्रेम शारीरिक और लौकिक है, उसमें लालसा की उत्कटता है। प्रवाह, ओज, और सुकुमारता के अद्भुत मिश्रण के कारण उनके गीत गतिशील और प्रभावोत्पादक हो गए हैं।

उदयशंकर भट्ट हिन्दी के हृदयवादी कवि एवं गीतिकार हैं। आपकी रचनाएँ प्रायः गहरी दार्शनिकता एवं निराशा से परिपूर्ण होती हैं। आपकी भाषा सरल, सुन्दर तथा कलापूर्ण होती है। किन्तु कहीं-कहीं पर संस्कृत की गम्भीर शब्दावली भी प्रयुक्त करने से आप नहीं बचे हैं। आपने अपनी रचनाओं में थोथे अध्यात्मवाद और सांसारिक रूढ़ियों का खण्डन बड़ी ही निर्भीकता से किया है। 'राका', 'विसर्जन', 'युगदीप', 'अमृत और विष' तथा 'यथार्थ और कल्पना' आपके गीत-संग्रह हैं। भट्टजी के 'मत्स्यगन्धा', 'विश्वमित्र', तथा 'राधा' आदि भाव-नाट्यों में भी सुन्दर गीत मिलते हैं।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' हिन्दी में वेदनावादी कवि के रूप में चिर-विख्यात हैं। उनकी कविता का जन्म ही वेदना से हुआ है। छोटी-सी अवस्था में आपकी माता का देहान्त हो गया था। मातृ-स्नेह और उसके दुलार की भूख ने है

आपको उद्विग्न कर दिया और उसी से आपकी कविता की सृष्टि हुई। आपकी पहली पुस्तक 'आँखों में' ने आपको हिन्दी-कवियों में अच्छा स्थान दिया। आपके वेदनावादी गीतों का संग्रह अभी 'रूप दर्शन' नाम से प्रकाशित हुआ है। आपके नाटकों में लिखे गए गीत भी प्रेरणा की दृष्टि से अद्‌भुत हैं।

दिनकर हिन्दी के श्रेष्ठ प्रगतिवादी गीतिकार हैं। उनकी शैली ओजपूर्ण, भाषा प्रवाहपूर्ण और अभिव्यक्ति बहुत सशक्त और सजग होती है। प्रारम्भ में आपने भी प्राकृतिक और मानवीय सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होकर प्यार के गीत गाए हैं, प्रकृति का नख-शिख वर्णन किया है और उसके माध्यम से अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया है। किन्तु दिनकर एक सजग और जागरूक कवि हैं, उन्होंने समाज में फैली विषमताओं और आर्थिक असमानताओं की ओर अपना ध्यान फेरा; पीड़ित तथा शोषित वर्ग की पीड़ाओं से उनका हृदय द्रवित हो उठा और उन्होंने अपने गीतों में जागृति और क्रान्ति का शंख फूँक दिया। आपने अपने गीतों में भारत के अतीत के भी बहुत सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं, बिहार के गौरव की गाथा का भी आपने गायन किया है। 'हिमालय के प्रति' लिखी गई आपकी कविता सम्बोधन-गीत का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। 'नई दिल्ली' शीर्षक कविता में अतीत के सपनों के साथ वर्तमान की कुरूपता का भी वर्णन किया गया है।

बच्चन 'मधुशाला', 'एकान्त-संगीत' इत्यादि के लेखक के रूप में हिन्दी में सर्वाधिक लोकप्रिय हुए हैं। आपकी प्रारम्भिक कविताएँ निराशा के अन्धकार से आच्छन्न हैं। किन्तु आपकी अभिव्यक्ति इतनी सजग और सशक्त है कि वह पाठक को मुग्ध कर देती है। उर्दू-काव्य-शैली का बच्चन पर बहुत प्रभाव है। आपका व्यक्तित्व विद्रोही है, और आपके गीत भी विद्रोह की भावना से प्रतिबिम्बित हैं। बच्चन के प्रारम्भिक गीतों में गाम्भीर्य नहीं, उनमें उथलापन है। हाँ, आज कवि जीवन की गहनता को अनुभव कर रहा है, अतः उसके काव्य में दार्शनिकता बढ़ रही है, किन्तु एक विशिष्ट कड़वाहट भी आ रही है।

नरेन्द्र हिन्दी के तरुण गीतिकार हैं। जैसा आपका व्यक्तित्व मधुर है, वैसा ही माधुर्य आपकी कविताओं में भी उपलब्ध होता है। प्रारम्भ में नरेन्द्र ने प्यार और रूपासक्ति के गीत लिखे हैं, इनमें लौकिकता की प्रधानता है। कहीं-कहीं शृङ्गार-वर्णन में रीति काल के कवियों की-सी प्रवृत्ति झलक जाती है। यद्यपि नरेन्द्र दलगत भावनाओं से दूर हैं, किन्तु श्रमजीविवर्ग से आपको विशेष सहानुभूति है। प्राकृतिक सौन्दर्य-सम्बन्धी गीत भी आपने लिखे।

जिनमें प्रकृति के दोनों प्रकार—सुन्दर और असुन्दर—समान रूप से आये हैं। 'प्रवासी के गीत' और अन्य गीतों में भी वेदना का आधिक्य और निराशा का अन्धकार है। किन्तु अब नैराश्य का स्वर मन्द पड़ रहा है, और कवि आशा का सन्देश दे रहा है। आपकी भाषा बहुत मधुर और सुष्ठु है।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' छायावादी काव्य की आध्यात्मिकता, अशरीरी सौन्दर्य-कल्पना और अस्पष्टता के प्रति विद्रोह करने वाले कवियों में सर्व प्रमुख हैं। अंचल के पूर्ववर्ती काव्य में मानसिक अभिव्यक्तियाँ अस्पष्ट छाया-रूप और अशरीरी हैं, प्रेम-वर्णन भी आध्यात्मिक आवरण से प्रच्छन्न और अस्पष्ट है। अंचल का सौन्दर्य-वर्णन मांसल है, उसमें अस्पष्टता नहीं। उसके प्रेम-वर्णन में नारी के रूप के प्रति लालसा, प्यास और अदम्य वासना है, उसमें अलौकिकता नहीं। सामाजिक बन्धनों और मर्यादाओं का उसे ध्यान नहीं, उनके प्रति वह विद्रोहशील है। वह उन सबको भग्न करके यौवन की उद्दाम लालसाओं की परितृप्ति के लिए आकुल है। कवि के विरह-गीत यद्यपि कहीं कहीं नैराश्यपूर्ण हैं, किन्तु उनमें जीवन है, और 'अरमानों और साधों की अशेष आहुतियां' डालकर उसने विरहाग्नि को प्रज्वलित कर रखा है और उसी अग्नि से वह अपने पथ को आलोकित कर रहा है। इधर कवि की प्रगति जन-जीवन की ओर हो रही है, वह श्रमिक वर्ग की पीड़ाओं और अभावों को अनुभव करके उन्हें काव्य में मुखरित कर रहा है। अंचल वस्तुतः हिन्दी के प्रतिभा-सम्पन्न गीतिकारों में हैं, वे अभी निर्माण-पथ पर हैं। उनसे हिन्दी-काव्य को बहुत आशाएँ हैं।

उपसंहार—सामयिक युग में वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की प्रमुखता है, अतः हमारे काव्य में भी वैयक्तिक भावनाओं और अनुभूतियों की ही प्रधानता है। यही कारण है कि आजके युग को वस्तुतः गीति-काव्य का युग कहा जाना ही अधिक युक्ति-संगत है। हिन्दी में उपर्युक्त गीतिकारों के अतिरिक्त सर्वश्री जानकीवल्लभ शास्त्री, हंसकुमार तिवारी, गिरिजाकुमार माथुर, आरसी, शिवमंगलसिंह 'सुमन', पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', सुधीन्द्र, शेष, देवराज 'दिनेश' तथा चिरंजीव आदि अनेक श्रेष्ठ कवि हिन्दी गीति-काव्य की अभिवृद्धि कर रहे हैं। गीति-काव्य में आज भाषा तथा शैली की दृष्टि से अनेक नवीन प्रयोग किये जा रहे हैं, उनमें कहाँ तक सफलता प्राप्त होगी यह तो भविष्य ही बतलायगा।

तीन उपन्यास

१. उपन्यास का प्रादुर्भाव

साहित्यिक जगत् में उपन्यास के प्रादुर्भाव से पूर्व हमारे मनोरंजन के साधन केवल नाटक और कविता थे। किन्तु इधर नवयुग में हमारे साहित्य में उपन्यासों और कहानियों का ही राज्य है। आधुनिक युग में साहित्य के विभिन्न अंगों में से उपन्यास को जितनी लोकप्रियता प्राप्त हुई, उतनी अन्य किसी को नहीं। बड़े-बड़े कलाकार भी आख्यायिका, उपन्यास तथा गल्प-रचना करके जीवन की गम्भीर समस्याओं पर विचार करते हुए साहित्य के इसी अंग द्वारा यश प्राप्त करते हैं। साहित्य-जगत् में उपन्यास का प्रादुर्भाव क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ है।

उपन्यास की इस लोकप्रियता के अनेक कारण हैं। आज के वैज्ञानिक युग में देशों की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ बहुत परिवर्तित हो चुकी हैं। (सामन्ती युग में हमारे मनोरंजन और रसानुभूति का साधन नाटक थे) उनसे शिक्षित और अशिक्षित वर्ग दोनों ही समान रूप से आनन्द प्राप्त कर सकते थे। किन्तु धीरे-धीरे अभिनय-कला के प्रति लोगों में अश्रद्धा की भावना फैल गई और नाटकों की लोकप्रियता विलुप्त होने लगी। उन दिनों नाटकोंके अभिनय की व्यवस्था बहुत व्यय और परिश्रम-साध्य थी, जिसके लिए जन-साधारण के आर्थिक साधन अनुपयुक्त थे। अतः नाटक केवल-मात्र समृद्ध वर्ग के मनोरंजन का साधन ही रहे। इधर प्रजातन्त्र के विकास के साथ जन-साधारण में शिक्षा का प्रचार हुआ और उन्होंने अपने मनोरंजन के लिए उपन्यास और आख्यायिका का आश्रय ग्रहण किया। नाटक तथा कविता में आनन्दोपलब्धि में जिस रागात्मकता और परिपुष्ट कल्पना-शक्ति की आवश्यकता होती है, उसका जन-साधारण में अभाव है। उपन्यास हमारी कल्पना-शक्ति के लिए दुरूह नहीं, उसके लिए विशिष्ट बौद्धिकता की भी आवश्यकता नहीं। इसी कारण उनकी

लोकप्रियता तीव्र गति से बढ़ी ।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं ग्रहण करना चाहिए कि उपन्यास, कविता अथवा नाटक की अपेक्षा कलात्मक दृष्टि से हीन हैं। वस्तुतः ऐसी बात नहीं। कविता और नाटक की भाँति उपन्यास भी मानव-मन की आन्तरिक अनुभूति, कोमलतम कल्पना और सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति से युक्त होकर साहित्य में श्रेष्ठ स्थान का अधिकारी है। आज के उपन्यासों की प्रभावोत्पादक शक्ति के विषय में किसी को सन्देह नहीं हो सकता (यूरोप में उपन्यासकारों ने अपने क्रान्तिकारी विचारों द्वारा व्यक्ति, समाज, धर्म, प्रेम और आचरण-विषयक मनुष्य की परम्परागत धारणाओं पर गहरी चोट की है) फ्रांस के उपन्यासकारों ने फ्रांस की घुन लगी सामाजिक व्यवस्था को खोखला करके मनुष्य की भावधाराओं में परिवर्तन के द्वारा भीषण क्रान्तिकारी आन्दोलनों को जन्म दिया। यूरोप में ही नहीं हमारे यहाँ भी मुन्शी प्रेमचन्द, उग्र, जैनेन्द्र, अज्ञेय तथा यशपाल इत्यादि कलाकारों ने घृणित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं के प्रति असन्तोष और क्रान्ति की भावना को उत्पन्न किया।

आधुनिक युग के उपन्यासों में मनोरंजक सामग्री की अपेक्षा मानसिक विश्लेषण और सामाजिक निरीक्षण की मात्रा अधिक है। वस्तुतः अत्याधुनिक उपन्यास सामाजिक समस्याओं के विशद विवेचन के कारण केवल समाज-शास्त्र के ग्रन्थ-मात्र (Sociological treaties) ही बनकर रह गए हैं। यूरोप के अनेक प्रसिद्धि-प्राप्त उपन्यासकारों ने मनुष्य के चरित्र के खोखलेपन को प्रदर्शित करने के लिए ही उपन्यास रचे हैं। हमारे यहाँ ऐसे उपन्यास नहीं है, हाँ, मनोविज्ञान के नवीन अनुभवों और प्रयोगों का पूर्ण उपयोग किये जाने का यथेष्ट प्रयत्न किया जा रहा है। जहाँ प्रारम्भ में उपन्यासों की रचना केवल मनोरंजन के लिए ही की जाती थी, वहाँ आज व्यक्ति, समाज और उनकी बौद्धिक तथा नैतिक धारणाओं के विश्लेषण के लिए ही उनकी रचना हो रही है।

आधुनिक युग में उपन्यास अपनी प्रभावोत्पादकता और लोकप्रियता की दृष्टि से साहित्य का सर्वाधिक जीवन सम्पन्न और महत्त्वपूर्ण अंग है।

२. उपन्यास शब्द की व्याख्या और परिभाषा

संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों में उपन्यास शब्द प्राप्य है, किन्तु जिस विस्तृत अर्थ में आज इस शब्द का प्रयोग हो रहा है, वैसा प्राचीन ग्रन्थों में नहीं। 'नाट्य शास्त्र' में वर्णित प्रतिमुख संधि का एक उपभेद है उपन्यास। इस ग्रन्थ की व्याख्या इस प्रकार की गई है :

उपपत्तिकृतोह्यर्थः उपन्यासः प्रकीर्तितः ।

अर्थात् किसी अर्थ को उसके युक्तियुक्त अर्थ में प्रस्तुत करने को ही उपन्यास कहा जाता है। अन्यत्र कहा गया है : उपन्यासः प्रसादनम् अर्थात् प्रसन्नता-प्रदायक कृतिको उपन्यास कहते हैं। आज उपन्यास शब्द के अन्तर्गत गद्य द्वारा अभिव्यक्त सम्पूर्ण कल्पना-प्रसूत कथा-साहित्य गृहीत किया जाता है, अतः प्राचीन काल के उपन्यास शब्द में तथा आज के उपन्यास शब्द में केवल-मात्र नाम की ही समानता है।

उपन्यास-सम्राट् मुन्शी प्रेमचन्द उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार करते हैं : **मैं उपन्यास को मानव-जीवन का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।**

हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक बाबू गुलाबराय जीवन की विभिन्न पेचीदगियों का विचार रखते हुए, रस-सिद्धान्त के अनुसार उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार करते हैं : **उपन्यास कार्य-कारण-शृंखला में बँधा हुआ वह गद्य-कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।** डॉक्टर श्यामसुन्दरदास के दृष्टिकोण के अनुसार **उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।**

वस्तुतः उपन्यास मानव-जीवन की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों का, उसके मन के संघर्ष-विघर्ष का, उसके चारों ओर के वातावरण और समाज का एक काल्पनिक कथा-चित्र है। किन्तु काल्पनिक होता हुआ भी वह यथार्थ है, उसमें जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति होती है। पर वह जीवनी नहीं। क्योंकि जीवनी में इतिहास की भांति घटनाओं का एक निश्चित क्रम होता है, उसमें तिथियों और यथार्थ समस्याओं की अवहेलना नहीं की जा सकती। वस्तुतः जीवनीकार कल्पना की अपेक्षा यथार्थ को अधिक महत्त्व देता है, वह कथा कहने की अपेक्षा तथ्य-कथन को अधिक पसन्द करता है। किन्तु उपन्यास में इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं, वह घटनाओं और तिथियों से अपने आपको नहीं बाँधता। कल्पना का आश्रय लेकर वह अपनी कथा को रोचक बनाने के लिए वस्तु, व्यक्ति तथा वातावरण को सुन्दर तथा मूर्तिमान बना देता है। उपन्यासकार मानव-जीवन की मीमांसा करता है, वह मानव-मन के अन्तरतम में प्रविष्ट होकर उसकी आन्तरिक अनुभूतियों का विश्लेषण करता है, उपन्यासकार अपने

उपन्यास में व्यक्ति के विकास में सहायक सम्पूर्ण वातावरण, समाज और देश-काल का चित्रण करता है। जीवनीकार का उद्देश्य भी व्यक्तित्व का विश्लेषण है। किन्तु उपन्यास में काव्यत्व होता है, कल्पना द्वारा उपन्यास में सत्य, तथा सुन्दर जीवन के दार्शनिक तत्त्वों को रोचक ढंग से उपस्थित किया जाता है, जबकि जीवनी में वास्तविक जीवन के अनुरूप तथ्य-निरूपण की प्रवृत्ति रहती है। पर उपन्यास जीवन के यथार्थ से पृथक् नहीं हो सकता। यदि वह जीवन से दूर हटकर केवल-मात्र कल्पना-लोक की वस्तु बन जायगा, तो वह साहित्य के अन्तर्गत गृहीत न किया जाकर गप्प ही समझा जायगा। उपन्यास में कृत्रिमता नहीं होनी चाहिए, यद्यपि कथा में गृहीत घटना का प्रकृत होना आवश्यक नहीं, किन्तु उसका प्रकृत रूप सम्भाव्य अवश्य होना चाहिए।

उपन्यास वस्तुतः इतिहास, जीवनी और कविता के बीच की वस्तु है। उसमें जहाँ कथा के साथ जीवनी के सदृश व्यक्तित्व-विश्लेषण और इतिहास के सदृश घटनाओं का चित्रण होता है, वहाँ दूसरी ओर उपन्यास में कविता की कल्पना, भावों की पुष्टता, शैली का सौन्दर्य और रोचकता भी वर्तमान रहती है।

३. उपन्यास के तत्त्व

उपन्यास के निर्माण में विभिन्न तत्त्व कार्य करते हैं, जिनका विवेचन आगे किया जायगा। सर्वप्रथम उपन्यास में घटनाएँ होती हैं, जो कि उपन्यास के शरीर का निर्माण करती हैं। यही घटनाएँ उपन्यास के जिस अंश में सम्पादित की जाती हैं, उन्हें कथावस्तु कहते हैं। यह कथावस्तु और घटनाएँ मनुष्यों पर आश्रित होती हैं, यही मनुष्य पात्र कहलाते हैं। इन पात्रों की पारस्परिक बातचीत वार्तालाप या कथोपकथन कहलाती है। पात्रों के आस-पास की परिस्थितियाँ, वातावरण, देश-काल इत्यादि का वर्णन वातावरण में किया जाता है। सम्पूर्ण पात्र तथा कथावस्तु किसी विशिष्ट उद्देश्य या विचार की अभिव्यक्ति करते हैं, उनका सृजन किसी विशेष आदर्श को लेकर किया जाता है, यही आदर्श-निरूपण उपन्यास का पाँचवाँ तत्त्व उद्देश्य होता है। उपन्यास-वर्णन की एक विशिष्ट पद्धति होती है जो कि शैली कहलाती है। इस प्रकार उपन्यास के निर्माण में ये मुख्य तत्त्व सहायक हैं :—कथावस्तु, पात्र और चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देश, काल और वातावरण, उद्देश्य तथा शैली।

कथावस्तु—यदि हम कहें कि कथावस्तु (Plot) का उपन्यास में वही स्थान है जो कि शरीर में हड्डियों का; तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी।

सुप्रसिद्ध अंग्रेज आलोचक एडविन म्योर का कथन है कि उपन्यास-कला में युक्त होने वाले साधनों में कथानक ही सर्वमान्य और अधिक स्पष्ट है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि उपन्यास या कथा का सम्पूर्ण ढांचा कथानक के आधार पर ही खड़ा होता है। यद्यपि आज उपन्यास में कथानक को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता, और न ही उसे उपन्यास की उत्कृष्टता तथा पूर्णता के लिए आवश्यक माना जाता है। क्योंकि उनका यह विचार है कि जीवन बिखरी हुई असम्बद्ध घटनाओं का नाम है, अतः उन बिखरी हुई घटनाओं को एक सम्बन्धित कथा-सूत्र में बाँधना अप्राकृतिक और अस्वाभाविक है; परन्तु यह विचार न तो युक्तियुक्त ही है और न संगत ही। उपन्यास में घटना-क्रम या कथानक आवश्यक है, असम्बद्ध तथा विशृङ्खल घटना-क्रम के फलस्वरूप न तो कथा में प्रवाह ही होता है और न रस। (मानव-जीवन गतिशील है, उसमें निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, इस परिवर्तन और गति के कारण ही वह जीवित कहा जाता है)। यदि उसमें गतिशीलनता न रहे तो वह जड़ और मृत समझा जायगा। मानव-जीवन की इस गतिशीलता को घटनामय जीवन कहा जाता है, और यही घटनामय जीवन उपन्यास की कथावस्तु होता है। वस्तुतः कथावस्तु उपन्यास में वर्णित घटनाओं का वह संग्रह है जिस पर कि उपन्यास का ढांचा खड़ा होता है, जिस द्वारा उपन्यासकार के विचार सामूहिक रूप में अभिव्यक्त होते हैं। एडविन म्योर के कथनानुसार शृङ्खलाबद्ध घटनाएँ और वह आधार, जिसके द्वारा वे सम्मिलित की जाती हैं, कथानक है।

उपन्यासकार अपने कथानक का चुनाव इतिहास, पुराण या जीवनी किसी भी क्षेत्र से कर सकता है। किन्तु कथानक के कौशलपूर्ण उचित चुनाव में ही लेखक की सफलता निहित है। (जिस किसी भी विषय का वह चुनाव करे उस विषय से उसका पूर्ण परिचय होना चाहिए)। यदि वह पौराणिक काल के किसी कथानक का चुनाव करता है तो उस काल की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों का उसे पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। किसी भी इतिहासिक कथानक के चुनाव के समय उपर्युक्त परिस्थितियों के अतिरिक्त तत्कालीन राजा, प्रजा, सैनिक और बड़े-बड़े अधिकारियों की रहन-सहन की स्थिति के अतिरिक्त उनके जीवन-यापन के ढंग उनके आमोद-प्रमोद के साधन तथा अन्य प्रकार की जीवन-सम्बन्धी सभी बातों का उपन्यासकार को पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। आज जीवन से सम्बन्धित कथावस्तु को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। क्योंकि उसमें हमारे दैनिक जीवन की स्वाभाविकता विद्यमान रहती है, जो कि अपने-आपमें एक बहुत बड़े आकर्षण का हेतु है। इतिहासिक तथा पौराणिक पात्रों में सजी-

वता, रोचकता और आकर्षण उत्पन्न करने के लिए कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है। इसी कारण कुछ विद्वानों का यह कथन है कि लेखक जिस विषय का स्वयं अनुभव प्राप्त न कर ले उस विषय पर उसे कुछ नहीं कहना चाहिए। जिस जीवन के विषय में वह लिखना चाहता है, उस विषय पर लिखने से पूर्व उसे सर्वप्रथम उसका अनुभव प्राप्त कर लेना चाहिए। यह बात सर्वांशतः ठीक है। किन्तु लेखक की कल्पना-शक्ति इतनी उर्वरा और उसकी प्रतिभा इतनी तीव्र होनी चाहिए कि वह अज्ञात वस्तुओं का भी उन द्वारा सजीव चित्र प्रस्तुत कर सके। अनुभव से प्राप्त कथानक को भी सजीव और रंगीन बनाने के लिए लेखक को कल्पना का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। आज तो यह एक नियम सा ही बन गया है कि कथावस्तु चाहे सत्य हो या काल्पनिक, चाहे इतिहासिक हो या पौराणिक, वह हमारे दैनिक जीवन के आधार पर गढ़ी हुई होनी चाहिए। उनमें अलौकिक या अस्वाभाविक अंश का समावेश नहीं होना चाहिए, जैसा कि प्राचीन काल में होता था।

कथानक को व्यवस्थित करना उसकी दूसरी बड़ी आवश्यकता है। किसी भी कथानक के चुनाव के अनन्तर यह विचारणीय होता है कि इसमें कौन-सा अंश आवश्यक है और कौन-सा अनावश्यक। अनावश्यक अंश को छोड़ने के अनन्तर यह आवश्यक हो जाता है कि सम्पूर्ण कथानक को सुसम्बन्धित रूप में प्रस्तुत किया जाय।

रोचकता, हमारे दृष्टिकोण में, कथावस्तु की सर्व-प्रधान विशेषता है। जहाँ कथावस्तु अरोचक और नीरस है वहाँ उपन्यास उपन्यास नहीं रहेगा। उपन्यास पढ़ने का सर्वप्रमुख उद्देश्य मनोरंजन है। यदि उपन्यास का कथानक हृदय में आनन्दोद्रेक के साथ उत्साह और शक्ति को उत्पन्न करता है तो निश्चय ही वह उपन्यास उच्चकोटि का उपन्यास कहलायगा। कथानक में रोचकता को उत्पन्न करने के लिए औत्सुक्य, कौतूहल और नवीनता आवश्यक है। जिस प्रकार हमारे जीवन में अनेक अप्रत्याशित और आकस्मिक घटनाएँ घट जाती हैं, उसी प्रकार घटनाओं का समावेश इस ढंग और परिस्थिति में होना चाहिए कि मूल कथा के प्रवाह में किसी प्रकार का भी स्खलन न हो। कौतूहल और औत्सुक्य के जागरण के लिए उपन्यास में असम्भव घटनाओं का समावेश नहीं होना चाहिए।

इस कारण सम्भाव्यता कथावस्तु की द्वितीय महत्त्वपूर्ण विशेषता स्वीकार की जा सकती है। इस बौद्धिकता के युग में मनुष्य असम्भव या अलौकिक बातों को स्वीकार नहीं कर सकता। प्राचीन काल के उपन्यासों में जिस प्रकार

की दैवीय या अलौकिक कथाओं की भरमार रहती थी, वैसी आज के उपन्यासों में सम्भव नहीं। उपन्यासकार को ऐसी बातों का कभी कथन नहीं करना चाहिए जिनका कि जीवन की वास्तविकता से विरोध हो।

कथानक कैसा हो—कथावस्तु का अध्ययन करते समय हमें यह अनुभव नहीं होना चाहिए कि अमुक बात छूट गई है, और अमुक बात का अनावश्यक रूप से समावेश किया गया है। कथावस्तु में वर्णित प्रत्येक घटना परस्पर सम्बन्धित हो, क्रमागत हो और उनमें संगति हो। वे सब शृङ्खलाबद्ध हों। अनेक उपन्यासों में दो मुख्य कथाएँ और अनेक गौण कथाएँ साथ-साथ चलती रहती हैं, (जैसे मुन्शी प्रेमचन्द जी के 'गोदान' में) ऐसी अवस्था में कलाकार की कुशलता इसी में होती है कि वह सम्पूर्ण कथाओं और उपकथाओं को एक सूत्र में बांधे रखे। कथावस्तु के संगठन के साथ-साथ उसमें स्वाभाविकता का भी विचार रखना चाहिए। क्योंकि अत्यधिक संगठित कथानक में कृत्रिमता आ जाती है। एक अच्छे कथानक की परीक्षा के लिए हमें उसमें निम्न लिखित प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने चाहिएँ—

१. कथानक का चुनाव जीवन के किस क्षेत्र से किया गया है? क्या कथानक ऐतिहासिक या पौराणिक है? यदि है, तो क्या उसमें तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का उचित चित्रण किया गया है?

२. कथानक में जिस जीवन, समाज और स्थिति का वर्णन किया गया है, क्या वह असम्भव तो नहीं? उसमें अस्वाभाविकता तो नहीं? क्या कथानक में अनावश्यक तत्त्वों का समावेश तो नहीं किया गया।

३. क्या कथावस्तु रोचक है? रोचकता को उत्पन्न करने के लिए उसमें असम्भव और अस्वाभाविक घटनाओं का समावेश तो नहीं किया गया?

४. क्या कथावस्तु का घटना-क्रम संगठित, और क्रमपूर्वक विकसित होता है? कोई घटना छूट तो नहीं जाती? क्या मुख्य घटनाएँ छूट तो नहीं गईं? गौण घटनाओं को अधिक महत्त्व तो नहीं दिया गया? कथावस्तु की अन्तर्वर्णित घटनाओं से प्रतिकूलता न होकर सभी घटनाओं से समन्वय हो।

५. क्या कथावस्तु मौलिक है?

इन प्रश्नों का उत्तर यदि सन्तोषजनक हो तो समझना चाहिए कि कथावस्तु पूर्ण और उत्कृष्ट है।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से कथावस्तु साहसिक, प्रेम-प्रधान, तिलस्मी, जासूसी, इतिहासिक, पौराणिक और सामान्य जीवन से सम्बन्धित इत्यादि विभिन्न भागों में बट सकती है।

कथावस्तु की दृष्टि से दो प्रकार के उपन्यास होते हैं, एक प्रकार में तो घटना-वर्णन सर्वथा असम्बन्धित होता है, वे एक-दूसरे पर आश्रित नहीं होतीं। किन्तु ये सम्पूर्ण घटनाएँ नायक से सम्बन्धित रहती हैं, वही इन सम्पूर्ण घटनाओं को शृङ्खलाबद्ध करने का साधन होती हैं। अज्ञेय का 'शेखरः एक जीवनी' इसी प्रकार का उपन्यास है। इसमें चरित्र-चित्रण की मुख्यता है, और घटना-क्रम गौण है। दूसरे प्रकार के उपन्यासों में सम्पूर्ण घटना-क्रम परस्पर सम्बन्धित होता है, प्रत्येक आने वाली घटना पूर्व घटित घटना का परिणाम होती है। ये घटनाएँ सामूहिक रूप से इतनी सम्बन्धित होती हैं कि यदि उनमें से किसी एक को निकाल दिया जाय तो उपन्यास का सम्पूर्ण ढाँचा लड़खड़ाकर गिर पड़ेगा। इस प्रकार की कथावस्तु से युक्त उपन्यास घटना-प्रधान उपन्यास कहलाते हैं।

उपन्यास में कथावस्तु रखने के तीन मुख्य ढंग हैं—

(१) एक ढंग द्वारा उपन्यासकार एक तटस्थ दर्शक या इतिहासकार की भाँति कथा कहता है। ऐसी अवस्था में हम उपन्यासकार को कथा से सर्वथा पृथक् पाते हैं। इस प्रकार को वर्णनात्मक ढंग भी कहा जा सकता है। प्रेमचन्द जी के 'गोदान', वृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़ कुण्डार', तथा रवीन्द्रनाथ के 'नौका डूबी' इत्यादि उपन्यासों के कथानक इसी प्रकार के हैं।

(२) दूसरे ढंग द्वारा उपन्यास की कथा नायक के या किसी अन्य पात्र के मुख से कहलाई जाती है। इस प्रकार में अपनत्व अधिक रहता है और पाठक स्वयं नायक के रंग में रँगकर कथावस्तु से आनन्द प्राप्त करता है। जैनेन्द्र जी का 'त्याग पत्र', सियारामशरण गुप्त का 'अन्तिम आकांक्षा', हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' तथा शरच्चन्द्र का 'श्रीकान्त' इसी प्रकार के उपन्यास हैं। इनमें सम्पूर्ण कथा नायक स्वयं कहता है।

(३) कथावस्तु के वर्णन का तीसरा ढंग पत्रों का है। इसमें सम्पूर्ण कथा पत्रों के रूप में कही जाती है। यह ढंग अधिक लोकप्रिय नहीं, क्योंकि इस ढंग द्वारा कथावस्तुके वर्णन में लेखक को अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। वह न तो अपनी सम्पूर्ण सामग्री का ही उपयोग कर सकता है और न अपनी कुशलता का ही प्रदर्शन कर सकता है। 'समाज की वेदी पर' (अनूपलाल मण्डल) और 'चन्द हसीनों के खतूत' (उग्र) इसी प्रकार के उपन्यास हैं, इनमें कथावस्तु का वर्णन पत्रात्मक-प्रणाली से किया गया है।

आज के उपन्यासों की कथावस्तु सरल, स्वाभाविक और आकर्षक होती है।

पात्र और चरित्र-चित्रण—आज के उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता पात्रों का व्यक्तित्व और चरित्र-चित्रण है। कथा को पढ़कर हम उसे भुला देते हैं, किन्तु उन कथाओं के विशिष्ट पात्रों में कुछ ऐसे गुण होते हैं,उनका व्यक्तित्व कुछ इतना मधुर और प्रभावोत्पादक होता है कि हम उन्हें कभी नहीं भूल सकते। 'गोदान' का होरी, 'कायाकल्प' का चक्रधर 'तितली' का मधुवन, अन्ना-केरिनिना की अन्ना, 'दी गुड आर्थ' (The Good earth) का वांग लुङ्ग Wang lung) और ओ लान तथा रोमा रोलाँ का जीन क्रिस्टाफ (Jean christophe) ऐसे पात्र हैं, जिन्हें हम निश्चय ही भुलाने पर भी नहीं भूल सकते। उनका चरित्र उनकी मूर्ति हमारे लिए कुछ इतनी परिचित-सी प्रतीत होती है कि हम यही अनुभव करते हैं कि जैसे हमें अपने जीवन में इनका साक्षात्कार हो चुका हो। उनके चरित्र हमारे लिए इतने परिचित और जान पहचाने होते हैं कि हम उन्हें अपने अन्तरंग मित्रों के सदृश अनुभव करने लगते हैं।

इस प्रकार कथावस्तु की स्वाभाविकता, सरलता और उत्कृष्टता ही किसी उपन्यास को बड़ा नहीं बना देती। यदि कोई उपन्यासकार हमारे सम्मुख ऐसे चरित्रों को प्रस्तुत नहीं करता जो कि अपनी महत्ता से हमें प्रभावित नहीं करते, जो हमें उत्साहित और प्रेरित नहीं करते, अथवा जिन्हें हम सम्पूर्ण जीवन-भर भूल न सकें तो निश्चय ही वह श्रेष्ठ उपन्यासकार नहीं। हम उसकी महत्ता पर विश्वास नहीं कर सकते। आत्मिक दृष्टि से महान् पात्रों की रचना करके वस्तुतः कलाकार अपनी महत्ता को स्थापित करता है। प्रत्येक कलाकार का अमर पात्र उसके अपने अमरत्व का द्योतक है।

चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत पात्रों के आन्तरिक और वाह्य व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला जाता है। प्रत्येक पात्र साधारण मनुष्य होता है, अतः उसमें जहाँ दोष हैं वहाँ गुण भी हैं। आज का उपन्यासकार उसके मानसिक संघर्ष के प्रदर्शन के साथ, उसकी अनुदारता और उदारता, करुणा और नृशंसता इत्यादि अनेक परस्पर-विरोधी मानवीय मनोभावों को दिखाकर उसकी चारित्रिक दुर्बलताओं और सबलताओं का प्रदर्शन करता है। जहाँ प्राचीन युग में कुछ पात्र दैवीय गुणों से युक्त अलौकिक प्राणियों के रूप में चित्रित किये जाते थे, वहाँ दूसरी ओर कुछ पात्र सर्वथा राक्षस ही बना दिए जाते। किन्तु आधुनिक उपन्यासकार मानव के अन्तरतम में प्रविष्ट होकर उसकी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके यह सिद्ध

कर रहा है कि राक्षस में भी देवत्व है, और देवताओं में भी आसुरी भावनाएँ वर्तमान है। वस्तुतः आज का उपन्यासकार मनुष्यों को ही चित्रित करता है; देवताओं को नहीं। उसका मुख्य उद्देश्य मानव की कमजोरियों के साथ उसकी सबलताओं का प्रदर्शन है।

इस परिवर्तन का मुख्य कारण आधुनिकतम मनोविज्ञान का क्रान्तिकारी अन्वेषण है। मनोविज्ञानिक विश्लेषण ने हमारी प्राचीन धारणाओं और जीवन-सम्बन्धी मान्यताओं को सर्वथा परिवर्तित कर दिया है। अतः सफल चरित्र-चित्रण के लिए आज के उपन्यासकार को मनोविज्ञान का अध्ययन करना आवश्यक है। उसे विभिन्न श्रेणी के पात्रों की जहाँ मनोविज्ञानिक विवेचना करनी होती है वहाँ एक ही श्रेणी के विभिन्न पात्रों की आन्तरिक प्रवृत्तियों और उनके आन्तरिक संघर्ष-विघर्ष के स्पष्टीकरण करना होता है। इसमें ही लेखक की सफलता है और वह उसकी गम्भीरता की द्योतक है।

यद्यपि उपन्यास के पात्र उपन्यासकार के कल्पना-पुत्र होते हैं, वही उनका पालन-पोषण करके उन्हें परिपुष्ट करता है, तथापि पात्र अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखता है। उपन्यासकार उनकी सृष्टि करके उन्हें अपनी कठपुतली बनाकर उनके जीवन से खेल नहीं सकता, उन्हें अपने इशारों पर नचा नहीं सकता। यदि वह ऐसा करेगा तो उसके पात्र निर्जीव कठपुतले बनकर पाठक के लिए आकर्षण-विहीन और अरुचिकर हो जायँगे। सफल उपन्यासकारों के पात्र स्वतंत्र संकल्प-युक्त होते हैं, वे अपनी इच्छानुसार कार्य करते हैं, और अनेक बार लेखक की इच्छाओं के विपरीत भी कार्य कर जाते हैं।

वस्तुतः स्वतंत्र संकल्प-शक्ति-युक्त और निरंतर गतिशील (Dynamic) पात्र ही उपन्यास की शोभा और लेखक की सफलता के कारण होते हैं। चरित्र-चित्रण की अनेक प्रणालियाँ हैं। एक प्रणाली के अनुसार लेखक स्वयं वर्णन द्वारा पात्रों का चरित्र-चित्रण करता है, वह स्वयं उनके गुण-दोष का विवेचन और उनकी मनोवृत्तियाँ का अध्ययन करके अपना मत प्रकट करता है। चरित्र-चित्रण की यह प्रणाली विश्लेषणात्मक या साक्षात् कहलाती है। कथावस्तु कहने के ऐतिहासिक ढंग में विश्लेषणात्मक प्रणाली से ही चरित्र-चित्रण किया जाता है। मुन्शी प्रेमचन्द के अधिकांश चरित्र साक्षात् प्रणाली से ही चित्रित किये गए हैं। 'रंगभूमि' में सूरदास, जानसेवक आदि पात्रों के गुण-दोष मुन्शी जी स्वयं ही कह देते हैं 'रंगभूमि' में वर्णित उनका अत्यन्त सजीव सूरदास का चित्र देखिए :

सूरदास एक बहुत ही क्षीण काय, दुर्बल और सरल व्यक्ति था।

उसे देव ने कदाचित् भीख माँगने ही के लिए बनाया था। 'गोदान' में मिर्जा खुर्शेद का चरित्र विश्लेषणात्मक प्रणाली का एक सुन्दर उदाहरण है :

मिर्जा खुर्शेद के लिए भूत और भविष्य एक सादे कागज की भाँति थे। वह वर्तमान में रहते थे। न भूत का पछतावा था और न भविष्य की चिन्ता। जो-कुछ सामने आ जाता था उसमें जी-जान से लग जाते थे। मित्रों की मण्डली में वह विनोद के पुतले थे। कौंसिल में उनसे ज्यादा उत्साही मेम्बर कोई न था। गुस्सेदार भी ऐसे थे कि ताल ठोककर सामने आ जाते थे। नम्रता के सामने दण्डवत् करते थे, लेकिन जहाँ किसी ने शान दिखाई और यह हाथ धोकर उसके पीछे पड़े। न अपना लेना याद रखते थे न दूसरों का देना।

चरित्र-चित्रण की द्वितीय प्रणाली के अन्तर्गत लेखक पात्रों के विषय में अपने-आप कुछ नहीं कहता, वह पृथक् होकर खड़ा रहता है, और स्वयं पात्रों को ही या तो अपने चरित्र कहने देता है, या फिर पात्र एक दूसरे के चरित्र पर टीका-टिप्पणी करके उन्हें स्पष्ट करते हैं। चरित्र-चित्रण की यह प्रणाली सांकेतिक या नाटकीय (Indirect or Dramatic) कहलाती है। इसमें दृश्य, घटना अथवा आस-पास की परिस्थितियों के वर्णन द्वारा पात्रों के चरित्र पर भी काफी प्रकाश डाला जा सकता है। अभिनयात्मक चरित्र-चित्रण का एक उदाहरण देखिए जहाँ कि पात्र स्वयं अपने चरित्र पर प्रकाश डालता है। जैनेन्द्र जी के 'त्याग-पत्र' में सर एम० दयाल कहते हैं :

मैं अपनी व्यर्थ प्रतिष्ठा के ढूह पर बैठा हूँ। वह कृत्रिम है, क्षणिक है। हृदय वहाँ कहाँ है ? यज्ञ वहाँ कहाँ है ? लेकिन वही सब-कुछ मुझे ऊँचा उठाए हुए हैं। नामी वकील रहा, अब जज हूँ। लोगों को जेल, फाँसी देता हूँ। समाज में माननीय हूँ। इस सबके समाधान में चलो यही कहो कि यह कर्म-फल है। लेकिन सच पूछो तो मेरा जी चाहता है कि वह कैसे कर्मों का फल है। कामयाब वकालत और इस जजी के इतने मोटे शरीर में क्या राई-जितनी भी आत्मा है ? मुझे इसमें कुछ सन्देह है। मुझे मालूम होता है कि मैं अपने-आपको खो सका हूँ तभी सफल वकील और बड़ा जज बन सका हूँ।......

मेरा मन रह-रहकर त्रास से भर जाता है। समाज की जिस मान्यता पर मैं ऊँचा उठा हुआ खड़ा हूँ, वह स्वयं किसके बलिदान पर खड़ी है, इस बात को जितना ही समझकर देखता हूँ उतना ही मन तिरस्कार और ग्लानि से घिर जाता है। पर क्या करूँ ? सोचता

हूँ, उस समाज की नींव को कुरेदने से क्या कुछ हाथ आयगा ? नींव ढीली ही होगी और तेरे हाथ आने वाला कुछ नहीं है। यह सोच लेता हूँ और कह जाता हूँ।

पारस्परिक टीका-टिप्पणी कथोपकथन द्वारा होती है, अतः अभिनयात्मक प्रणाली में जब पात्र वार्तालाप करते हैं, और एक दूसरे के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं, तो जहाँ वे दूसरों के चरित्र को प्रकाशित करते हैं वहाँ वे स्वयं अपना चरित्र भी प्रकाशित कर देते हैं। एक उदाहरण में देखिए :

कनक०—हाँ अम्मा, मैं कला को कला की दृष्टि से देखती हूँ। उससे अर्थ-प्राप्ति करना क्या उसके महत्त्व को घटा देना नहीं ?

सर्वेश्वरी०—ठीक है, पर यह एक प्रकार का बदला है। अर्थ वाले अर्थ देते हैं और कला के जानकार उसका आनन्द उठाते हैं। संसार में एक दूसरे से ऐसा ही सम्बन्ध है।

कनक०—कला के ज्ञान के साथ-ही-साथ कुछ ऐसी गन्दगी भी हम लोगों के चरित्र में रहती है जिससे मुझे सख्त नफरत है।

('अप्सरा' निराला)

इन दोनों की बातें एक दूसरे के चरित्र को प्रकाशित करती हैं। 'गोदान' में रायसाहब और खन्ना के वर्तालाप द्वारा मेहता के चरित्र को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है :

बोले०—यह मेहता कुछ अजीब आदमी है, मुझे तो कुछ बना हुआ-सा मालूम होता है।

बोले०—मैं तो उन्हें केवल मनोरंजन की वस्तु समझता हूँ। कभी उनसे बहस नहीं करता। और करना भी चाहूँ तो इतनी विद्या कहाँ से लाऊँ जिसने जीवन के क्षेत्र में कभी कदम भी नहीं रखा वह अगर जीवन के विषय में कोई नया सिद्धान्त अलापता है, तो मुझे उस पर हँसी आती है। 'मैंने सुना है चरित्र का अच्छा नहीं।' 'बेफिकी में चरित्र अच्छा रह ही कैसे सकता है ?' समाज में रहो और समाज के कर्तव्यों और मर्यादाओं का पालन करो तब पता चले।

उपर्युक्त वार्तालाप में जहाँ मेहता के चरित्र को प्रकाशित किया जाता है, वहाँ रायसाहब और खन्ना का चरित्र भी स्वयं आभासित हो जाता है।

कथावस्तु की आत्मकथात्मक और पत्रात्मक प्रणाली में चरित्र-चित्रण की

यह प्रणाली अधिक अपनाई जाती है । वर्तमान युग में संकेतात्मक चरित्र-चित्रण अधिक उपयुक्त और विज्ञानिक समझा जाता है । क्योंकि यदि, लेखक प्रत्यक्ष रूप से अपने पात्रों के विषय में अपनी सम्मति दे, तो यह उचित नहीं समझा जाता । आज उचित यही समझा जाता है कि लेखक केवल पात्रों की आन्तरिक वृत्तियों का ही उल्लेख करे, और उनके मानसिक संघर्षों को चित्रित करके पात्रों के गुण-दोष-विवेचन का निर्णय पाठक पर छोड़ दे ।

मनुष्य के विचार, उसकी चारित्रिक विशेषताओं के द्योतक होते हैं। उसके चरित्र के अनुरूप ही उसके विचार होंगे। अतः एकाकी अवस्था में प्रगट किये गए विचार भी चरित्र-चित्रण में सहायक होते हैं। आज के अनेक लेखक इसी शैली का उपयोग करते हैं। किन्तु इस शैली द्वारा चरित्र-चित्रण करने के लिए मनोविज्ञानिक अध्ययन और अनुभव की विशेष आवश्यकता होती है। क्योंकि विभिन्न परिस्थितियों में पड़कर मनुष्य के विचारों में परिवर्तन होता रहता है, इस परिवर्तन का ज्ञान मनोविज्ञान से ही हो सकता है।

कथा-वस्तु में बहुत-सी उपकथाएँ मुख्य कथा के साथ रहती हैं, यद्यपि इन उपकथाओं का उद्देश्य मुख्य कथा के प्रवाह को गतिशील और तीव्र करना ही होता है, किन्तु वे चरित्र-चित्रण में भी सहायक होती हैं। घटनाओं और पात्रों का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, उनमें पड़कर पात्रों की अनेक चारित्रिक विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं। अनेक घटनाएँ पाठकों की प्रवृत्तियों के अनुकूल होती हैं, किन्तु बहुत-सी विपरीत भी होती हैं, अतः इन विपरीत परिस्थितियों में ही उनकी चारित्रिक विशेषताओं का प्रदर्शन होता है। घटना-प्रधान कथावस्तु में पात्रों का चरित्र घटनाओं द्वारा प्रकाशित होता है।

चरित्रों का वर्गीकरण—उपन्यासों में दो प्रकार के चरित्र होते हैं, एक तो किसी विशिष्ट श्रेणी (class) या वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, और दूसरे स्वयं अपने-आप का। जैसे 'गोदान' में होरी अपने-आप का प्रतिनिधि न होकर एक विशिष्ट श्रेणी या वर्ग का प्रतिनिधि है। यह वर्ग या श्रेणी उन निरन्तर पिसते हुए और शोषित होते हुए किसानों की है जो कि भारत के गाँवों में रहता है।

अपने-आप का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र, व्यक्तित्व-प्रधान होते हैं, और वे जन-साधारण से कुछ विलक्षण चारित्रिक विशेषताओं से सम्पन्न होते हैं। शरत् का 'श्रीकान्त' और अज्ञेय का 'शेखर' ऐसे दो पात्र हैं जो कि अपनी वैयक्तिक विशेषताओं के कारण सामान्य पात्रों से सर्वथा पृथक् होते हैं।

वस्तु और पात्र—साधारणतया वही उपन्यास श्रेष्ठ समझे जाते हैं जिनमें पात्रों की प्रधानता रहती है। क्योंकि कथावस्तु का प्रभाव सर्वथा अस्थायी होता है, और हम पढ़ने के अनन्तर उसे शीघ्र ही भुला देते हैं, किन्तु पात्रों का प्रभाव हमारे हृदय पर सर्वदा विद्यमान रहता है। उपन्यास वस्तुतः दो प्रकार के हैं, एक तो वे जिनमें पात्रों को प्रमुखता प्रदान की जाती है और कथावस्तु को गौण स्थान दिया जाता है, दूसरे वे हैं जिनमें पात्रों को अप्रमुखता और घटनाओं को प्रधानता दी जाती है। किन्तु वस्तु और पात्र एक दूसरे से घनिष्ठता पूर्वक सम्बन्धित हैं। क्योंकि यदि पात्रों को कथावस्तु से पृथक् चित्रित करने का प्रयत्न किया जायगा तो घटना-क्रम के अभाव में उनका चरित्र भली प्रकार से विकसित नहीं हो सकेगा। कथावस्तु को प्रमुखता प्रदान करते हुए भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि कथावस्तु का निर्माण पात्रों के कार्य-व्यापार द्वारा ही होता है। अतः उचित तो यही है कि कथावस्तु और पात्र परस्पर सम्बन्धित हों, और उपन्यास में चरित्र-चित्रण तथा वस्तु का सम्मिश्रण किया जाय। क्योंकि कथावस्तु और चरित्रों के समान विकास पर ही उपन्यास की सफलता निर्भर है।

यथार्थ और आदर्श—हम पहले लिख चुके हैं कि आज के उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता उनमें चरित्र-चित्रण की प्रधानता है। अब यह प्रश्न हो सकता है कि लेखक को पात्रों का चरित्र-चित्रण करते हुए उसे यथातथ्य रूप में, बिना काँट-छाँट किये पाठकों के सामने रख देना चाहिए अथवा एक विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनमें कुछ परिवर्तन करके उन्हें चित्रित करना चाहिए? चरित्रों के ज्यों-के-त्यों चित्रण को ही यथार्थवाद कहा जाता है और उसको एक विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए परिवर्तित करके चित्रण करने को ही आदर्शवाद कहते हैं?

यथार्थवादी कलाकार मानवीय दुर्बलताओं, कुवासनाओं और दुश्चरित्रता या सच्चरित्रता को यथार्थ या नग्न रूप में प्रस्तुत कर देता है। यथार्थवादी उपन्यासकार के पात्र अपनी सबलताओं और दुर्बलताओं को प्रदर्शित करते हुए निरुद्देश्य भाव से अपनी जीवन-लीला को समाप्त कर जाते हैं। उनका मतलब अभिव्यक्ति और चरित्र-चित्रण-मात्र से है। इस चित्रण का परिणाम समाज पर बुरा होता है या अच्छा, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं। इस कारण यथार्थवादी कलाकार समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भूल जाता है।

उसका नग्न यथार्थ तो मानव-जीवन को भयंकर और भयावह बना देता है। निरन्तर मनुष्य की क्रूरताओं, दुर्बलताओं और विषमताओं का नग्न यथार्थ चित्रण मानव-जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण को अश्रद्धामय, विश्वास-शून्य

और निराशावादी बना देता है। मनुष्य त्रुटियों और कमजोरियों का पुतला है, अतः केवल उसकी दुर्बलताओं का चित्रण उसके लिए घातक सिद्ध हो सकता है। यह ठीक है कि यथार्थवाद सामाजिक विषमताओं और कुरीतियों के चित्रण में सहायक हो सकता है और उस चित्रण द्वारा उपन्यासकार जन-साधारण का ध्यान उन कुरीतियों और बुराइयों की ओर आकृष्ट कर सकता है। किन्तु जब वह यह चित्रण केवल चित्रण के लिए ही करता है उसके पीछे किसी महान् आदर्श को प्रस्तुत नहीं करता और न ही शिष्ट मर्यादाओं को ध्यान में रखता है, तभी वह आपत्तिजनक बन जाता है। वस्तुतः वास्तविक यथार्थवादी उपन्यासकार तो वही समझा जाता है जो कि केवल यथार्थ नग्न चित्रण को ही अपना उद्देश्य समझता है। ऐसी अवस्था में वह चित्रण निरुद्देश्य होने के कारण केवल कुत्सित भावनाओं को ही जागृत करने वाला बन जाता है। यदि हम साहित्य में भी उसी गन्दे और कुत्सित वातावरण से घिरे रहे, जो कि यथार्थ जीवन में हमारे साथ निरन्तर विद्यमान रहता है, तो साहित्य हमें आनन्दमय, प्रकाश की ओर किस प्रकार ले जा सकता है? उद्देश्यहीन नग्न यथार्थ मानव-जीवन के लिए निश्चय ही कल्याणकारी नहीं हो सकता।

आदर्शवादी उपन्यास यदि जीवन की वास्तविकताओं से मुख फेरकर केवल सपनों की सृष्टि करता है, और मनुष्य में पलायनवादी प्रवृत्ति को जागृत करता है तो वह भी अपने अन्तिम परिणाम में साहित्य के लिए स्वास्थ्यप्रद नहीं हो पाता। हाँ, जहाँ आदर्श का अर्थ स्वप्न-निर्माण न हो कर जीवन की यथार्थ पृष्ठभूमि पर सम्भावना के अन्तर्गत रहते हुए, जीवन को उच्चता और उत्कृष्टता की ओर प्रेरित करना है, वहाँ आदर्शवाद निश्चय ही साहित्य में कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है। जहाँ आदर्श सम्भावना की सीमा से बाहर हो जाता है, वहाँ वह निश्चय ही दिवा-स्वप्न बन जायगा। हमारे जीवन में सब-कुछ न तो असुन्दर ही है और न सुन्दर। अतः उपन्यास में मानव-जीवन को न तो सुन्दर रूप में ही उपस्थित किया जा सकता है और न असुन्दर रूप में ही। यथार्थ केवल असुन्दर नहीं होना चाहिए और आदर्श केवल स्वप्न न हो। वस्तुतः साहित्य में आदर्श और यथार्थ के सम्मिश्रण से ही किसी उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। जीवन जिस रूप में है उसके वैसे ही चित्रण में तो आपत्ति नहीं, किन्तु उसे कैसा होना चाहिए, साथ ही यह भी चित्रित किया जाना चाहिए। इस प्रकार आदर्श और यथार्थ का समन्वय ही उपन्यास की उत्कृष्टता को बढ़ा सकता है। इस विषय में मुन्शी प्रेमचन्द का यह कथन युक्तियुक्त है :

इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिए ही यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है।

कथोपकथन—उपन्यास के पात्र जिस पारस्परिक वार्तालाप द्वारा कथा-वस्तु को आगे बढ़ाते हैं, और अपने चरित्र को प्रकाशित करते हैं, उसे कथोप-कथन कहते हैं। इस प्रकार कथोपकथन के दो काम हैं—(१) कथावस्तु का विस्तार और (२) चरित्र-चित्रण। कथोपकथन द्वारा घटनाओं को गतिशीलता प्रदान की जाती है, और बहुत सी नवीन घटनाओं का प्रादुर्भाव होता है। दो परस्पर विरोधी विचारों के संघर्ष से कोई भी घटना घटित हो सकती है। यह संघर्ष वार्तालाप द्वारा ही मुखरित होता है।

कथोपकथन द्वारा ही कथावस्तु में नाटकीयता और सजीवता आ जाती है। नाटकीय तत्त्वों के समावेश के कारण कथानक वास्तविक हो जाता है, फलतः उसमें आकर्षण उत्पन्न हो जाता है।

कथोपकथन द्वारा लेखक कथावस्तु की अनेक ऐसी घटनाओं का भी उल्लेख कर सकता है, जिन्हें कि वे अपनी मूल कथा के प्रवाह में घटित होती हुई नहीं दिखा सकता। समय के अभाव में, अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण होने वाली घटनाओं के लिए यह जरूरी नहीं कि उन्हें रंगमंच पर ही दिखाया जाय, इस कारण वार्तालाप द्वारा उनका उल्लेख कर दिया जाता है, जिससे कथा-प्रवाह बना रहता है, उसमें अरोचकता भी नहीं आती और घटना-क्रम भी विकसित होता रहता है।

कथोपकथन द्वारा ही पात्रों की आन्तरिक मनोवृत्तियों का प्रदर्शन होता है। अतः बहुत से उपन्यासकारों का यह कथन है कि किसी भी पात्र का चरित्र तभी पूर्ण रूप से अवगत हो सकता है जब या तो उसके शत्रु उसकी प्रशंसा करें या वह स्वयं कथोपकथन द्वारा अपने भावों की अभिव्यक्ति करे। वर्णन द्वारा उपन्यासकार उनके चरित्र पर चाहे जितना भी प्रकाश क्यों न डाल ले लेकिन जब तक पात्र अपना मुख नहीं खोलते तब तक वह उनकी चारित्रिक विशेषताओं के प्रदर्शन के लिए कथोपकथन का ही आश्रय ग्रहण करते हैं। क्योंकिःकथोपकथन द्वारा वह पात्रों की मानसिक स्थिति को और उनकी आन्तरिक प्रवृत्तियों को उघाड़कर रख सकता है।

जो कथोपकथन न तो कथावस्तु को ही विकसित करे, और न पात्रों की

चारित्रिक विशेषताओं को ही प्रदर्शित करे, वह उपन्यास के सर्वथा अनुपयुक्त होता है। कथोपकथन को सजीव और उपन्यास के उपयुक्त बनाने के लिए निम्न बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए—

(१) कथोपकथन पात्रों की बौद्धिक और मानसिक स्थिति के अनुकूल होना चाहिए। बातचीत का सरल, सुबोध और मनोहर होना आवश्यक है।

(२) कथावस्तु से असम्बन्धित बातचीत का सर्वथा प्रवेश नहीं होना चाहिए; चाहे वह बातचीत कितनी ही आकर्षक, मनोरंजक और परिहासजनक क्यों न हो। ऐसा वर्णन असंगत और कथावस्तु के प्रवाह में बाधक होता है।

(३) कथोपकथन में नाटकीयता और स्वाभाविकता होनी चाहिए।

(४) कथोपकथन की भाषा भी पात्रों के अनुकूल हो। उनके तर्क और उनके द्वारा प्रतिपादित विषय भी उनके अपने बौद्धिक धरातल के अनुरूप ही होने चाहिएँ। मल्लाहों या कबाड़ियों की भाषा यदि संस्कृत-मिश्रित हो और इसके विपरीत साधारण ग्रामीणों की भाषा में उर्दू तथा अरबी-फारसी के शब्दों का आधिक्य हो, तो यह सर्वथा अनुपयुक्त और असंगत होगा। प्रेमचन्द जी की भाषा पात्रानुकूल होती है, वह पात्रों की बौद्धिक और मानसिक स्थिति के अनुरूप बदलती रहती है। यही नहीं, वे पात्रों की भाषा में उनके सामाजिक स्तर का भी खयाल रखते हैं। किन्तु प्रसाद जी की भाषा सब परिस्थितियों और पात्रों के लिए एक रस और एक रूप रहती है। अनेक बार लेखक अपने दार्शनिक या जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्तों को अपने साधारण पात्रों द्वारा कहलाने लगता है, यह सर्वथा अनुपयुक्त है।

(५) गम्भीर दार्शनिक समस्याओं के सुलझाव के लिए और लेखक के जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए ऊँचे बौद्धिक धरातल वाले पात्रों की ही रचना की जानी चाहिए। तभी कथोपकथन में स्वाभाविकता, सजीवता, सरलता, रोचकता, प्रसंगानुकूलता, सार्थकता और संक्षिप्तता इत्यादि गुण उत्पन्न हो सकते हैं।

देश, काल तथा वातावरण—उपन्यासों में स्वाभाविकता और सजीवता का आभास देने के लिए देश, काल तथा वातावरण का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। प्रत्येक पात्र और उसका प्रत्येक कार्य किसी विशिष्ट देश, समय और

वातावरण में होता है, वह इन सबमें बँधा हुआ होता है, अतः उपन्यास की पूर्णता के लिए इन सबका वर्णन आवश्यक है।

देश, काल तथा वातावरण के अन्तर्गत आचार-विचार, वातावरण, रीति-रिवाज, रहन-सहन और राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का वर्णन आ जाता है। सामाजिक उपन्यासों में विभिन्न समस्याओं के चित्रण का अवसर रहता है। इन सब समस्याओं का चित्रण करते हुए भी उपन्यासकार को पात्रों की और घटनाओं के घटित होने की परिस्थिति, काल और वातावरण का चित्रण करना पड़ता है।

इतिहासिक उपन्यासों में देश, काल तथा वातावरण का चित्रण बहुत महत्त्व रखता है, क्योंकि लेखक की वर्तमान काल की और इतिहासिक काल की परिस्थितियों में बहुत अन्तर होता है, इसलिए वह इतिहासिक काल की घटना को वर्तमान काल की परिस्थितियों में घटित होता हुआ चित्रित नहीं कर सकता, प्रायः इतिहासिक उपन्यासों में या तो इतिहासिक घटनाओं का ही चित्रण होता है या फिर एक विशिष्ट काल को ही चित्रित किया जाता है। दोनों में ही तत्कालीन, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों के चित्रण के अतिरिक्त, उस समय के मुख्य-मुख्य रीति-रिवाज, रहन-सहन के ढंग, आचार-विचार इत्यादि का वर्णन रहता है। युग विशेष का चित्र प्रस्तुत करने के लिए तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक वातावरण का सजीव चित्रण आवश्यक है। अतः इतिहासिक उपन्यासों की रचना करने से पूर्व उपन्यासकार को अपने प्रतिपादित युग की सम्पूर्ण परिस्थितियों और रीति-रिवाजों का विशेष अध्ययन करना चाहिए। इस विषय में लेखक पुरातत्त्व और इतिहास से विशेष सहायता ले सकता है।

प्राकृतिक दृश्य और वातावरण का चित्रण तो प्रत्येक उपन्यास में ही होता है, कुछ उपन्यासों में ये चित्रण बहुत विस्तृत होते हैं, और कुछ में अत्यन्त संक्षिप्त। हमारे विचार में स्थानीय दृश्यों का चित्रण उपन्यासों में आवश्यक तो अवश्य हैं, किन्तु वे न तो बहुत विस्तृत ही होने चाहिएँ और न बहुत संक्षिप्त ही। क्योंकि यदि वे बहुत विस्तृत होंगे तो उनसे अवश्य ही हमारा चित्त ऊब जायगा और वे हमारे लिए अरुचिकर हो जायँगे, संक्षिप्तता में अनेक बार प्रभाव उत्पन्न नहीं होता। देश, काल तथा वातावरण का वर्णन वहीं तक उचित होता है जहाँ तक कि वह कथा-प्रवाह में सहायक हो।

उद्देश्य—उपन्यास का उद्देश्य मनोरंजन तो अवश्य है, किन्तु आज वे मनोरंजन के अतिरिक्त किसी एक विशिष्ट उद्देश्य का भी प्रतिपादन करते हैं।

केवल मनोरंजन ही जिनका लक्ष्य हो, ऐसे उपन्यास आज लिखे तो बहुत जाते हैं किन्तु वे उत्कृष्ट कोटि के उपन्यासों के अन्तर्गत गृहीत नहीं किये जाते। उत्कृष्ट उपन्यास तो वही हैं जो किसी-न-किसी विशिष्ट उद्देश्य का प्रतिपादन करते हैं और जीवन की अपने दृष्टिकोण के अनुसार व्याख्या करते हैं।

किन्तु यह उद्देश्य किसी एक उपदेश, व्याख्यान, या भाषण के रूप में अभिव्यक्त नहीं होता, अपितु सम्पूर्ण उपन्यास में विभिन्न सूक्तियों और वाक्यों में विकीर्ण हुआ रहता है। अपने इन्हीं विचारों या सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए वह अनेक पात्रों की सृष्टि करता है, और उनके परस्पर-विरोधी विचारों में संघर्ष दिखाकर अपने सिद्धान्त की उत्कृष्टता को सिद्ध करता है। लेखक के आदर्शों और विचारों का प्रतिनिधित्व नायक द्वारा होता है।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर दी जानी चाहिए कि यद्यपि आजकल विशिष्ट मतवाद और सिद्धान्त के प्रचार के लिए ही अनेक उपन्यास लिखे जाते हैं, किन्तु यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य कहानी कहना है, किसी सिद्धान्त-विशेष का प्रतिपादन नहीं। कहानी कहने के साथ-साथ वह अप्रत्यक्ष रूप से अपने मत का प्रतिपादन कर सकता है, और दृष्टिकोण के अनुसार जीवन की व्याख्या भी कर सकता है। उपन्यासकार के विचार और आदर्श उपन्यास की कथावस्तु में ही प्राप्त होते हैं और वह विभिन्न पात्रों द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। उपन्यासकार अपने उद्देश्य की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति को गौण बनाकर जीवन और घटनाओं को इस रूप में चित्रित करेगा कि अप्रत्यक्ष रूप से वे उसी के उद्देश्य का प्रतिपादन करेंगे। जहाँ वह प्रत्यक्ष रूप से अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने लगेगा और कलाकार के धर्म को गौण बना देगा, वहाँ वह कलाकार न रहकर उपदेशक या प्रचारक बन जायगा। कलाकार का जीवन-दर्शन और विचार-उपन्यास के कथानक में एक निश्चित मर्यादा के भीतर ही अभिव्यक्त होना चाहिए, ताकि वह उपन्यास में नीरसता और अरोचकता उत्पन्न न कर दे।

उद्देश्य की अभिव्यक्ति के विषय में एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए, वह यह कि उसका उद्देश्य महान् तथा प्रभावशाली हो, वह पाठक को एकदम प्रभावित कर ले। उसकी अभिव्यक्ति की शैली और परिस्थितियाँ भी प्रभावोत्पादक हों। असंगत स्थान पर अपने विचारों को बिखेर देने से कोई लाभ नहीं हो सकता। पात्रों द्वारा अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति करना अधिक सुन्दर और कलात्मक है। आत्मकथनात्मक ढंग पर कही गई कथा वस्तु में उद्देश्य की अभिव्यक्ति बहुत सुन्दर और सरल ढंग से हो सकती है। जटिल कथावस्तु

वाले उपन्यासों में उद्देश्य की अभिव्यक्ति बहुत कठिनता से होती है। कुछ उपन्यासकार नाटककार की भाँति पात्रों को उनके वास्तविक रूप में चित्रित करके उन्हें वैसा ही छोड़ देते हैं, उसकी कथावस्तु शैली और तथ्य-कथन के ढंग से ही एक विशिष्ट नैतिक उद्देश्य का प्रतिपादन कर देते हैं। कहीं-कहीं पात्र भी कथोपकथन द्वारा उसके विचारों को अभिव्यक्त कर देते हैं। कथावस्तु द्वारा उद्देश्य की अभिव्यक्ति का यह ढंग नाटकीय कहलाता है।

दूसरा ढंग विश्लेषणात्मक कहलाता है। इसमें वह स्वयं अपने उद्देश्य का प्रतिपादन करता है, और चरित्र-चित्रण करता हुआ एक आलोचक की भाँति पात्रों का गुण-दोष-विवेचन करता है। इसी विवेचना द्वारा वह जीवन-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को अभिव्यक्त कर देता है। यह विवेचना या सिद्धान्त-प्रतिपादन सम्पूर्ण कथावस्तु में बिखरा रहता है, उन्हीं को एकत्रित करके हम उद्देश्य और आदर्श से अवगत हो सकते हैं। इस चारित्रिक विश्लेषण में ही वह अपने नैतिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति भी कर देता है, जो कि वस्तुतः उसका जीवन-दर्शन होता है। मुन्शी प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में अनेक स्थलों पर इसी प्रकार अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति की है। किन्तु आज इस ढंग को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। नाटकीय प्रणाली द्वारा पात्रों का कथोपकथन ही, जहाँ आदर्श और जीवन-दर्शन अभिव्यंजित हो जाय, अधिक कलात्मक और सुन्दर समझा जाता है। क्योंकि यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि उपन्यासकार मुख्य रूप से कलाकार है, वह सौन्दर्य का स्रष्टा है उसका कार्य उपदेश या प्रचार नहीं।

आज के उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य मनोविज्ञानिक विश्लेषण और उस द्वारा मानव-मन के गहनतम स्तरों की व्याख्या करना है।

शैली—शैली का विवेचन पीछे साहित्य के प्रकरण में किया जा चुका है; यहाँ उसके विशेष विवेचन की आवश्यकता नहीं। क्योंकि शैली साहित्य का एक ऐसा तत्त्व है जो कि उसके सभी अंगों में समान रूप से व्याप्त रहता है। फिर भी औपन्यासिक शैली के विषय में यहाँ कुछ-न-कुछ कह देना अनुपयुक्त न होगा।

कथावस्तु की दृष्टि से उपन्यास में संगठन, व्यवस्था, क्रम और संगति आदि गुणों की उपस्थिति आवश्यक है। उपन्यास की भाषा-शैली प्रसाद और माधुर्य गुण से युक्त होनी चाहिए, परिस्थिति और विषय के अनुकूल ओज का समावेश भी हो सकता है। किन्तु प्राचीन उपन्यासों की भाँति आज के उपन्यासों की भाषा लम्बे-लम्बे पद, समास और रूपक आदि क्लिष्ट

अलंकारों से युक्त नहीं हो सकती। आज उसकी सबसे बड़ी विशेषता सरलता ही है। हाँ, उपमा आदि साम्यमूलक अलंकारों और मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जा सकता है।

वैसे प्रत्येक उपन्यासकार अपनी वैयक्तिक शैली का स्वतन्त्र विकास करता है।

४. उपन्यासों के प्रकार

साधारणतः उपन्यासों का वर्गीकरण वर्ण्य विषय, उद्देश्य तथा शैली के आधार पर किया जाता है। वर्ण्य विषय के आधार पर उपन्यासों के रोमांचक, पौराणिक, सामाजिक, इतिहासिक तथा तिलस्मी या जासूसी इत्यादि अनेक प्रकार हो सकते हैं। किसी विशिष्ट उद्देश्य को लेकर लिखे गए उपन्यास भी उद्देश्य के अनुरूप ही वर्गीकरण के अन्तर्गत गृहीत किये जायँगे। समाज की किसी समस्या को सुलझाने के उद्देश्य से लिखे गए उपन्यास सामाजिक उपन्यास कहलायँगे, और मानव-मन की आन्तरिक अनुभूतियों के विश्लेषण के लिए लिखे गए उपन्यास मनोविश्लेषणात्मक कहला सकते हैं। वस्तुतः उपन्यासों के वर्गीकरण में शैली का ही आश्रय लिया जाना चाहिए। सामाजिक या पौराणिक उपन्यास वास्तव में जिन उद्देश्यों को सूचित करते हैं, उनसे उपन्यासों का प्रकार-बोध नहीं होता। मुख्य रूप से उपन्यासों के निम्न प्रकार हो सकते हैं :

(१) घटना-प्रधान उपन्यास, (२) चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यास, (३) ऐतिहासिक उपन्यास तथा (४) सामाजिक उपन्यास। यह विभाजन उपन्यासों में प्राप्य विभिन्न गुणों तथा उसमें अपनाई गई वर्णन-शैली के आधार पर ही किया गया है।

(१) **घटना-प्रधान उपन्यास**—यों तो प्रत्येक उपन्यास में घटनाएँ रहती हैं, और उन्हीं से उसके कथावस्तु का निर्माण होता है। किन्तु घटना-प्रधान उपन्यासों की कथावस्तु में घटनाओं की प्रधानता होती है, और उन्हीं के द्वारा पाठकों के औत्सुक्य को जाग्रत करने का प्रयत्न किया जाता है। ये घटनाएँ प्रायः आश्चर्यजनक होती हैं और इन्हीं के द्वारा पाठक के हृदय में विस्मय को जाग्रत करके, उसे निरन्तर मुग्ध रखा जाता है। घटना-प्रधान उपन्यासों की सर्व प्रमुख विशेषता उसकी मनोरंजकता है। उनकी कथावस्तु प्रेमाख्यान, पौराणिक कथाओं और जासूसी तथा तिलस्मी घटनाओं से निर्मित होती है। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासकार स्टीवन्सन (Stevenson) ने घटना-प्रधान उपन्यासों के विषय में लिखा है :

उपन्यासकार की सबसे बड़ी सफलता इसी में है कि वह एक ऐसी भ्रान्ति की सृष्टि कर दे और रोचक परिस्थितियों को ऐसी कुशलता के साथ अंकित कर दे कि पाठकों की कल्पना उससे आकृष्ट हुए बिना न रह सके, और वे उस क्षण के लिए अपने को कहानी के पात्रों में से एक समझने लगें और उनके कृत्य को वैयक्तिक रूप से अपना समझकर अनुभव करने लगें।[१]

किन्तु जहाँ केवल कौतूहल और औत्सुक्य का जागरण ही एक-मात्र उद्देश्य हो, वैसे उपन्यास अधिक सफल नहीं कहे जाते। क्योंकि आज उपन्यास का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं समझा जाता। दूसरे इस श्रेणी के उपन्यासों में एक घटना की प्रधानता रहती है और उसके चारों ओर अनेक घटनाएँ एकत्रित कर दी जाती हैं। ये घटनाएँ इस क्रम से घटित होती हैं कि उनमें चरित्र-चित्रण का विचार नहीं रहता, केवल पाठक के औत्सुक्य को ही जाग्रत रखने का प्रयत्न किया जाता है। प्रायः पात्रों को भयंकर संघर्ष देखने पड़ते हैं, किन्तु अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वे सफल होते हैं और उपन्यास का अन्त सुखद होता है। कथानक का स्वरूप भी सर्वथा अविज्ञानिक होता है, क्योंकि वह किसी नियम के अन्तर्गत नहीं चलता, अपितु लेखक की इच्छानुसार परिवर्तित होता रहता है।

हिन्दी में घटना-प्रधान उपन्यासों की संख्या पर्याप्त है 'चन्द्रकान्ता सन्तति' आदि जासूसी तथा पौराणिक उपन्यास इसी श्रेणी के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

(२) **चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यास**—सर्वश्रेष्ठ समझे जाने वाले ऐसे उपन्यासों में घटना-क्रम पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता, पात्रों का चुनाव और विकास भी कथावस्तु के अनुकूल नहीं होता। पात्र सदा स्वतंत्र रहते हैं, और उन्हीं के विकास के निमित्त कथावस्तु का विकास होता है। ऐसे उपन्यासों में कोई एक निश्चित केन्द्र नहीं होता जिसके चारों ओर घटनाएँ विकसित हो सकें। पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के प्रदर्शन के निमित्त विभिन्न परिस्थितियों का प्रादुर्भाव होता है, और अनेक छोटी-छोटी घटनाओं का विकास भी जारी रहता है। ये घटनाएँ भी पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को ही प्रदर्शित करती हैं।

---

१. The greatest triumphe of the novelist is the power to create so perfect an illusion to represent situation of interest with so irresistible an appeal to the imagination, that the reader shall for the moment identify himself with the characters of the story and seem to experience the adventures in his own person,

पात्रों की सबलताओं और दुर्बलताओं का यद्यपि प्रारम्भ में ही वर्णन कर दिया जाता है, और वे सम्पूर्ण कथानक में अपरिवर्तित से ही रहते हैं, किन्तु उनका विकास इस ढंग से होता है, और उनको ऐसी परिस्थितियों के बीच उपस्थित किया जाता है, जहाँ कि पाठक अपनी भावनाओं को उनके प्रति निरन्तर परिवर्तित करता रहता है।

चरित्र-प्रधान उपन्यासों का कथानक प्रायः असंगठित और शिथिल होता है। क्योंकि कथानक का मुख्य कार्य पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का दर्शन ही होता है। इसमें पात्र सर्वथा स्वतंत्र होते हैं, लेखक उनकी रचना करने के अनन्तर उन्हें अपने हाथ की कठपुतली नहीं बना सकता, वे लेखक द्वारा प्रशस्त किये हुए मार्ग पर नहीं चलते, अपितु अपने मार्ग का चुनाव स्वयं करते हैं। निरन्तर गतिशील होने के कारण उनका क्रमिक विकास होता रहता है, उसी विकास के अनुकूल ही कथावस्तु का रूप भी बनता रहता है। वस्तुतः चरित्र-प्रधान उपन्यास मानव-जीवन के पूर्ण तिबिम्ब होते हैं। उनमें मानव-जीवन की सम्पूर्ण सबलताओं और दुर्बलताओं को क्रम पूर्वक विकसित होते हुए प्रदर्शित किया जाता है। मानव के जटिल जीवन को इस प्रकार अंकित करना बहुत कठिन कार्य है। इसी कारण चरित्र-प्रधान उपन्यासों का अत्यधिक महत्त्व है। ये उपन्यास समाज, देश तथा जाति की चारित्रिक विशेषताओं का प्रदर्शन करते हैं। हिन्दी में मुन्शी प्रेमचन्द के 'गबन' तथा 'गोदान' इत्यादि इसी श्रेणी के उपन्यास हैं।

(३) इतिहासिक उपन्यास—इसमें लेखक किसी प्राचीन पात्र अथवा युग विशेष का चित्रण करता है। अपने इतिहासिक ज्ञान तथा कल्पना द्वारा वह अपने प्रतिपादित इतिहासिक युग की मान्यताओं, विश्वासों तथा वातावरण का सजीव चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। अपने इतिहासिक पात्रों अथवा युग पर प्रकाश डालना ही उसका मुख्य उद्देश्य रहता है। लेखक को ऐसे उपन्यासों को लिखते समय सदा यह ध्यान में रखना चाहिए कि उस द्वारा वर्णित कथावस्तु में और उस द्वारा चित्रित चरित्र में किसी भी इतिहास-विरुद्ध बात का समावेश न हो। हाँ, कथानक को रोचक बनाने के लिए वह कल्पना का समुचित प्रयोग कर सकता है। जहाँ कहीं इतिहासिक तथ्य विशृङ्खल हो, वहाँ भी वह कल्पना द्वारा नवीन घटनाओं का समावेश करके उन्हें शृङ्खला-बद्ध कर लेता है। 'गढ़ कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', (वृन्दावन लाल वर्मा), तथा 'इरावती' (प्रसाद) ऐतिहासिक उपन्यासों के अन्तर्गत ही गृहीत किये जाते हैं।

(४) सामाजिक उपन्यास—वे हैं जिनमें सामयिक युग के विचार, आदर्श और समस्याएँ चित्रित रहती हैं। सामयिक समस्याएँ ही इन उपन्यासों का वर्ण्य विषय होती हैं। ऐसे उपन्यास प्रायः राजनीतिक और सामाजिक धारणाओं और मतवादों से विशेष प्रभावित होते हैं और लेखक अपने समय के आदर्शों के चित्रण के लिए पात्रों की रचना करता है। मुन्शी प्रेमचन्द तथा आज के कुछ प्रगतिवादी लेखकों के उपन्यास इसी श्रेणी के अन्तर्गत गृहीत किये जाते हैं।

उपन्यास के इन मुख्य भेदों के अतिरिक्त बहुत से अन्य प्रकार के उपभेद भी किये जा सकते हैं। इनमें भाव-प्रधान तथा नाटकीय उपन्यास मुख्य हैं। भाव-प्रधान उपन्यासों में न तो कथानक का ही विचार रखा जाता है और न चरित्र चित्रण का। उसकी शैली भी अत्यन्त भावुकता पूर्ण चित्रमयी और रंगीन होती है। इनमें कल्पना तथा कवित्व का आधिक्य रहता है। कथानक शिथिल और असंगठित होता है।

नाटकीय उपन्यासों में पात्रों तथा कथानक दोनों का ही स्वतन्त्र विकास होता है, न तो कथानक ही पात्रों पर आश्रित होता है, और न पात्र ही कथानक पर। किन्तु दोनों एक-दूसरे से असम्बन्धित नहीं रहते। पात्र जीवन के एक संकुचित क्षेत्र में सीमित हो जाते हैं, इधर घटनाएँ द्रुत गति से परिवर्तित होती हैं और कथावस्तु में जटिलताएँ उपस्थित हो जाती हैं। पात्रों द्वारा उन्हीं के सुलझाव के प्रयत्नों के फलस्वरूप कथानक आगे बढ़ता जाता है। इनमें कथोपकथन की अधिकता होती है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'विदा' उपन्यास इसी श्रेणी का है।

उपन्यासों के उपर्युक्त वर्गीकरण को हम सर्वाङ्गीण नहीं कह सकते, क्योंकि आज उपन्यासों की शैली और कथावस्तु आदि के ढंग में इतनी शीघ्रता से परिवर्तन हो रहा है कि उन्हें किसी भी एक निश्चित सीमा में बाँध देना अत्यन्त कठिन है। फिर भी प्राचीन और नवीन उपन्यासों के वर्गीकरण में उपर्युक्त विवेचन पर्याप्त सहायक हो सकता है।

५. उपन्यास तथा कविता

साहित्य में व्याप्त भाव-तत्त्व की प्रधानता के फलस्वरूप कविता का जन्म होता है और कथा-तत्त्व की प्रमुखता के परिणामस्वरूप उपन्यास तथा कहानी का। भाव-तत्त्व की प्रमुखता के कारण कविता में रागात्मकता की प्रधानता होती है, और उसकी अभिव्यक्ति भी संगीतमयी भाषा में होती है। किन्तु उपन्यास में

कथा-तत्त्व की प्रधानता होती है, और उसकी अभिव्यक्ति भी छन्द तथा लय-शून्य गद्य में होती है।

कविता में कवि की आत्मा अन्तर्मुखी होती है, वह बाह्य जगत् में विचरण करती हुई भी अन्तर्जगत् की ओर लौट आती है, परिणामस्वरूप उसकी अभिव्यक्ति में जहाँ लय और संगीत की प्रधानता होती है, वहाँ उसमें संक्षिप्तता और सघनता भी होती है। उपन्यासकार की वृत्तियाँ बहिर्मुखी होती हैं, अतः उपन्यास में वर्णन की प्रधानता रहती है।

कथावस्तु तथा पात्र उपन्यास के अनिवार्य गुण हैं, किन्तु कविता के लिए ऐसे किसी नियम की आवश्यकता नहीं। उसमें कथावस्तु और काल्पनिक तथा संकेतात्मक पात्र हो भी सकते हैं, और नहीं भी। ऐसी अनेक कविताएँ मिल जाती हैं जहाँ कथावस्तु या व्यक्ति का सर्वथा अभाव होता है, और केवल एक प्राकृतिक दृश्य या हृदयानुभूति का वर्णन-मात्र होता है। नवयुग का प्रगीत-काव्य केवल हृदयोच्छ्वास की अभिव्यक्ति-मात्र ही है। कविता में कल्पना की प्रधानता होती है, किन्तु उपन्यास में कल्पना के साथ यथार्थ को भी स्थान दिया जाता है।

६. उपन्यास और इतिहास

उपन्यास और इतिहास दोनों ही मानव-जीवन से सम्बन्धित हैं और वे उसकी रूप-रेखा को प्रस्तुत करते हैं। किन्तु दोनों में पर्याप्त अन्तर है, जिसे कि हम इस प्रकार रख सकते हैं :

(१) इतिहास में तथ्य-कथन की प्रवृत्ति होती है, उसमें कल्पना को स्थान प्राप्त नहीं। किन्तु उपन्यास में कल्पना का आश्रय लेकर जीवन के नीरस और शुष्क तथ्यों को भी रंगीन, चित्रमय और सरल बना दिया जाता है। उपन्यासकार कथा-वर्णन के साथ-साथ भाव और हार्दिक अनुभूति को भी ध्यान में रखता है, किन्तु इतिहासकार भाव और अनुभूति-वर्णन के स्थान पर घटनाओं को यथातथ्य रूप में वर्णित करता हुआ नाम और तिथि-निर्धारण को अधिक महत्त्व देता है।

(२) उपन्यासकार व्यक्ति को अधिक महत्त्व देता है और इतिहासकार राष्ट्र, जाति तथा समाज को। उपन्यासकार समाज तथा राष्ट्र को पृष्ठभूमि के रूप में प्रयुक्त करता हुआ व्यक्ति की आन्तरिक अनुभूतियों का विश्लेषण करता है, वह विभिन्न परिस्थितियों के उपस्थित होने पर व्यक्ति के हृदय में होने वाले संघर्ष-विघर्ष को बड़ी सावधानी से चित्रित करता है। किन्तु इतिहासकार को व्यक्ति की आन्तरिकता से कोई मतलब नहीं होता।

(३) उपन्यासकार कल्पना का आश्रय लेकर नवीन सृष्टि करता है, वह नवीन पात्रों,परिस्थितियों और देशों की रचना करके उनका वर्णन करता है। वह मनुष्य की अव्यक्त और व्यक्त अनुभूतियों और भावनाओं को चित्रमयी भाषा में वर्णित करके साकार बना देता है। भगवान् बुद्ध द्वारा गृह-त्याग के फलस्वरूप यशोधरा के दुःख का उल्लेख तो शायद इतिहासकार कर दे, किन्तु वह उसके दुःख के स्वरूप उसकी अभिव्यक्ति के आन्तरिक और बाह्य प्रकार का अत्यन्त सूक्ष्म और चित्ताकर्षक वर्णन नहीं कर सकता, यह कार्य उपन्यासकार का ही होता है।

(४) इतिहास घटनाओं की प्रतिलिपि-मात्र है, उसमें मौलिकता को स्थान प्राप्त नहीं होता, किन्तु उपन्यास प्रतिलिपि-मात्र नहीं, वह जीवन और घटनाओं की नवीन सृष्टि है।

७. हिन्दी-उपन्यास का विकास

भारतीय कथा-साहित्य का इतिहास बहुत प्राचीन कहा जाता है। किन्तु उपन्यास के आधुनिकतम रूप के अनुसार संस्कृत-साहित्य में उपन्यासों का एक प्रकार से अभाव ही था। केवल 'कादम्बरी' और 'दशकुमार चरित' ही उपन्यास कहला सकते हैं। 'दशकुमार चरित' में घटना और शैली दोनों को ही समान महत्त्व प्राप्त है, किन्तु 'कादम्बरी' में शैली का उत्कर्ष अधिक है। ऐसा कहा जाता है कि 'कादम्बरी' की कथा का अधिकांश भाग बाण ने 'बृहत्कथा' से प्राप्त किया है। हिन्दी का उपन्यास-साहित्य आधुनिक युग की देन है। यद्यपि कुछ विद्वान् हिन्दी-उपन्यास की परम्परा का प्रारम्भ सूफी कवियों के प्रेमाख्यानों से मानते हैं, किन्तु इन ग्रन्थों की ध्यान पूर्वक समीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि इनमें औपन्यासिक तत्त्वों का विकास नहीं हो पाया।

हिन्दी के सर्व प्रथम मौलिक उपन्यासकार लाला श्रीनिवासदास कहे जा सकते हैं। भारतेन्दु युग में हिन्दी-गद्य का रूप स्थिर हो चुका था और भारतेन्दु बाबू के सहयोगी अपने निरन्तर परिश्रम द्वारा हिन्दी-गद्य के विविध अंगों—उपन्यास, निबन्ध, नाटक तथा कहानी इत्यादि—को सम्यक् रूप प्रदान करने का प्रयत्न कर रहे थे। लाला श्रीनिवासदास (परीक्षा गुरु), पं० बालकृष्ण भट्ट (सौ अजान एक सुजान), तथा राधाकृष्णदास (निस्सहाय हिन्दू) भारतेन्दु काल के प्रमुख मौलिक उपन्यासकार हैं। इन लेखकों के उपन्यासों में कथा-तत्त्व की कमी और उपदेशात्मकता की प्रधानता है।

इसी समय के लगभग बंगला तथा अंग्रेजी के उपन्यासों का हिन्दी में

अनुवाद प्रारम्भ हुआ। इन अनुवादों का हिन्दी पढ़े-लिखे लोगों की रुचि पर विशेष प्रभाव पड़ा, और हिन्दी के मौलिक उपन्यासकार भी नवीन शैली, भावाभिव्यक्ति के ढंग और कहानी कहने की शैली से प्रभावित हुए। सर्व श्री पं० किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री तथा गोपालराम गहमरी भारतेन्दु युग के अन्तिम चरण के प्रमुख उपन्यासकार हैं। ० किशोरीलाल गोस्वामी ने इतिहासिक, सामाजिक, ऐयारी तथा जासूसी इत्यादि सभी प्रकार के उपन्यास लिखे। अपने विविध उपन्यासों में उन्होंने विविध भाषा-शैलियों का प्रयोग किया। ये उपन्यास अंग्रेजी और बंगला उपन्यास-शैली से विशेष रूप से प्रभावित थे; इसी कारण उनके उपन्यासों के पात्र वास्तविक हैं और उनके द्वारा वर्णित सामाजिक परिस्थितियाँ यथार्थ और सजीव हैं।

'चन्द्रकान्ता' देवकीनन्दन खत्री की प्रथम रचना है, केवल इसी उपन्यास के बल पर वे हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकारों में स्थान ग्रहण कर सकते हैं। क्योंकि केवल इसी उपन्यास को पढ़ने के लिए कितने ही लोगों ने हिन्दी सीखी, और भारत की कितनी ही भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ। इनके उपन्यास घटना-प्रधान हैं, इनमें कौतूहल और औत्सुक्य की प्रधानता होती है। तिलिस्म और ऐयारी के उपन्यास-लेखकों में खत्री जी सर्व-प्रमुख हैं।

गोपालराम गहमरी ने हिन्दी में जासूसी उपन्यासों की परम्परा को प्रारम्भ किया। इन्होंने लगभग ५०-६० उपन्यास लिखे हैं। इनमें घटनाओं की प्रधानता होती है, और कथा को इस रोचकता से वर्णित किया जाता है कि पाठक मुग्ध हो जाता है।

हिन्दी-उपन्यास की प्रारम्भिक अवस्था के अनन्तर जो प्रगति हुई है उसको हम प्रथम चरण, द्वितीय चरण तथा तृतीय चरण के रूप में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम चरण के उपन्यासकारों में सर्व श्री प्रेमचन्द, प्रसाद, कौशिक, बेचन-शर्मा उग्र, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, और जैनेन्द्रकुमार प्रमुख हैं।

राजनीति में यह युग गान्धीवादी आदर्शवाद का था, आर्य समाज की सुधारवादी प्रवृत्ति के फलस्वरूप देश में अनेक समाज-सुधारक आन्दोलन चल रहे थे, प्राचीनता के प्रति मोह बढ़ रहा था। अतः इन उपन्यासकारों की रचनाओं में गान्धीवाद, असहयोग, सामाजिक सुधार और आदर्शवाद की प्रधानता है।

द्वितीय चरण के अन्तर्गत सर्व श्री भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, प्रतापनारायण मिश्र, और इलाचन्द्र जोशी सर्वप्रमुख हैं। इन लेखकों ने नारी और यौन समस्या पर प्रकाश डाला है। इसी चरण में जीवन

और राष्ट्र की समस्याओं को समाजवादी दृष्टिकोण के अनुसार सुलझाने के प्रयत्न प्रारम्भ हो चुके थे। अतः साहित्य में भी समाजवादी दृष्टिकोण के अनुसार जीवन की समीक्षा की गई। समाजवादी विचार-धारा से प्रभावित उपन्यासकारों में सर्वश्री राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, पहाड़ी, अश्क, मन्मथनाथ गुप्त, श्रीकृष्णदास, अंचल, रांगेय राघव तथा अज्ञेय इत्यादि प्रमुख हैं। इन लेखकों ने नवीन शैली तथा नवीन विचार-धारा द्वारा हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के तृतीय चरण का श्री गणेश भी किया है। सियारामशरण गुप्त, गुरुदत्त, ठाकुर श्रीनाथसिंह तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी भी इसी चरण के अन्तर्गत गृहीत किये जायँगे। यद्यपि इन लेखकों की शैली वैयक्तिक है, और ये किसी वाद विशेष से प्रभावित भी नहीं।

८. हिन्दी के कुछ प्रमुख उपन्यासकार : एक समीक्षा

प्रेमचन्द—मुन्शी प्रेमचन्द वस्तुतः हिन्दी के युग-प्रवर्तक अमर कलाकार हैं। उनसे पूर्व हिन्दी-उपन्यास सर्वथा अविकसित था, उसमें तिलिस्म, ऐयारी और जासूसी कथाओं की ही प्रधानता थी। किन्तु प्रेमचन्द जी ने उपन्यास-साहित्य को मानवीय जीवन के निकट ला दिया, और उसमें तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का चित्रण किया। उनके उपन्यास तत्कालीन संघर्षमय जीवन और समाज के प्रतिबिम्ब हैं। 'सेवा सदन' उनका सर्व प्रथम उपन्यास है, इसमें नागरिक जीवन और हिन्दू समाज के मध्यवर्ग की सामाजिक समस्याओं का अत्यन्त चित्ताकर्षक वर्णन किया गया है। हमारे समाज और परिवार की कुरीतियों से उत्पन्न होने वाले भीषण दुष्परिणामों का यह एक यथार्थ चित्र है। कथोपकथन, भाव, शैली, और कथावस्तु सभी कुछ नवीन और मौलिक है। पात्र सजीव और अपनी अन्तः प्रवृत्तियों के अनुकूल विकसित होते हैं। 'प्रेमाश्रम' में भारतीय ग्रामीण जीवन को चित्रित किया गया है। पुरानी सामन्ती और जिमींदारी सभ्यता किस प्रकार खोखली हो चुकी है, और किस प्रकार वह अपने अन्तिम दिनों में भी किसानों के शोषण में व्यस्त है, इस सबका बहुत सजीव और मार्मिक चित्रण किया गया है। यह उपन्यास, गान्धीवादी समझौता-पद्धति द्वारा समाज की विषमताओं के सुलझाव को प्रस्तुत करता है। 'रंगभूमि' का कथानक पर्याप्त जटिल है, किन्तु सूरदास, विनय, सोफिया आदि पात्र अपनी चारित्रिक विशेषताओं के कारण अमर हैं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, मजदूर, किसान, पूँजीपति इत्यादि सभी वर्ग इसमें चित्रित हैं। 'काया कल्प' में अलौकिक कथा का समावेश है। इसमें रानी देवप्रिया की

अतृप्त वासना का बहुत नग्न चित्रण है। रियासतों के जीवन को यथार्थ रूप में चित्रित किया गया है 'काया कल्प' का कथानक असंगठित है। 'प्रतिज्ञा', 'गबन' और 'निर्मला' मुन्शी जी के छोटे उपन्यास हैं। इनमें सामाजिक समस्याओं का चित्रण है। 'गोदान' प्रेमचन्द जी की अन्तिम सर्वोत्कृष्ट कृति है। क्या भाषा, क्या भाव, और क्या टेकनीक सभी में एक जीवन और प्रौढ़ता है। कथा में अद्भुत प्रवाह है, भाषा में साँझ का सुनहलापन। 'होरी' संसार के अमर पात्रों में से एक है। यहाँ आकर मुन्शी जी का दृष्टिकोण भी यथार्थवादी हो गया है, उन्होंने जीवन की कटुता को पूर्णतया अनुभव करके उसे अपने इस अमर उपन्यास में चित्रित कर दिया है।

मुन्शी प्रेमचन्द एक सुधारक थे, उनकी यह सुधारवादी प्रवृत्ति उनके उपन्यासों में विलुप्त नहीं हुई। कहीं-कहीं उनका यह सुधारवादी रूप इतना प्रचण्ड हो गया है कि वह उनकी एक बहुत बड़ी दुर्बलता बन गई है। वे वहाँ उपन्यासकार न रह कर प्रचारक या उपदेशक-मात्र ही बन जाते हैं। किन्तु उन्होंने अपने उपन्यासों के कलात्मक रूप पर विचार न किया हो, ऐसी बात नहीं। कथावस्तु, कथोपकथन इत्यादि उपन्यास के सभी अंग उनके उपन्यासों में समान रूप से विकसित हुए हैं। उनकी शैली सर्वथा अपनी थी। पात्रों का मानसिक विश्लेषण और उनके आन्तरिक संघर्ष का चित्रण कलात्मक और स्वाभाविक है। व्यंग्य-पूर्ण शाब्दिक चित्र प्रस्तुत करने में उन्हें विशेष सफलता प्राप्त हुई है। प्रेमचन्द जी की सफलता का एक मुख्य रहस्य उनकी चलती हुई मुहावरेदार भाषा भी है। पात्रों की सामाजिक स्थिति के अनुकूल भाषा परिवर्तित होती गई है। कथोपकथन और पारस्परिक वार्तालाप चारित्रिक विशेषताओं के प्रदर्शन में अनुकूल है। उनके प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में हल्की भावुकता और कवित्व का संम्मिश्रण रहता है।

प्रेमचन्द जी ने अपनी रचनाओं में भारतीय परम्परा के अनुसार आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का चित्रण किया है। यद्यपि कहीं-कहीं उनकी रचनाओं में उनका उपदेशात्मक रूप प्रधान हो गया है तथापि उन्होंने कलात्मकता की सर्वथा उपेक्षा नहीं की। वे सच्चे कलाकार हैं। हाँ, वे कला को जीवन के लिए ही स्वीकार करते हैं, कला को कला के लिए नहीं।

जयशंकर 'प्रसाद' के दो प्रमुख उपन्यास हैं—'तितली' और 'कंकाल'। 'तितली' में प्रसाद जी ने भारतीय समाज को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उनकी सबलताओं और दुर्बलताओं को उन्होंने छिपाया नहीं, पात्रों का चरित्र-चित्रण भी बहुत सुन्दर और सजीव हुआ है। किन्तु भाषा में

कवित्व और भावुकता है। 'तितली' वस्तुतः घटनात्मक उपन्यास है, और घटनाओं द्वारा ही पात्रों का चरित्र-चित्रण किया गया है। 'कंकाल' तो भारतीय समाज के कंकाल को ही चित्रित करने के लिए लिखा गया प्रतीत होता है। इसमें प्रसाद जी का दृष्टिकोण यथार्थवादी है, उन्होंने समाज के खोखलेपन को नग्न वीभत्स रूप में चित्रित किया है, किन्तु आदर्श को सर्वथा छोड़ नहीं दिया। प्रसाद जी का अधूरा उपन्यास 'इरावती' भी हाल ही में प्रकाशित हो गया है। यह एक इतिहासिक उपन्यास है और उनकी प्राचीनतावादी प्रवृत्ति के अधिक अनुकूल है। प्रसाद जी की भाषा संस्कृत-मिश्रित क्लिष्ट हिन्दी है, और पात्रों तथा परिस्थितियों के अनुकूल उसमें परिवर्तन नहीं होता।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' हिन्दी के शक्तिशाली उपन्यासकार हैं। उनकी शैली सर्वथा अपनी है, जिस पर उनका व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है। उग्र जी का दृष्टिकोण यथार्थवादी है। समाज की घृणित तथा कुत्सित अवस्था को उन्होंने बड़ी ही उग्र; ओजमयी तथा सरल भाषा में चित्रित किया है। आप वस्तुतः कला को कला के लिए स्वीकार करते हैं, इसी कारण आपने अपनी रचनाओं में समाज की अवहेलना करके अनेक अश्लील चित्र प्रस्तुत किये हैं। आपके उपन्यासों के विषय समाज की शाश्वत समस्याएँ न होकर सामयिक समस्याएँ हैं, परिणाम स्वरूप उनकी लोकप्रियता शीघ्र ही विलुप्त हो गई। उग्र जी के प्रसिद्ध उपन्यास हैं —'चन्द हसीनों के खतूत', 'बुधुवा की बेटी', 'दिल्ली का दलाल', 'घण्टा', 'चुम्बन' तथा 'सरकार तुम्हारी आँखों में'। 'चन्द हसीनों के खतूत'में पत्रों के रूपमें एक प्रेम-कथा कही गई है। 'बुधुवा की बेटी'में एक अछूत-बालिका का चित्रण है। इसी प्रकार अन्य उपन्यासों में भी सामयिक समस्याओं का चित्रण किया गया है।

चतुरसेन शास्त्री अपनी लौह लेखनी के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। उग्र जी की भाँति शास्त्री जी ने भी समाज की कुत्सित अवस्था का बहुत वीभत्स और नग्न चित्रण किया है। आपके उपन्यासों में अनेक अश्लील अंश प्राप्य हैं। आपकी शैली बहुत ओजपूर्ण है, और भाषा में विशेष प्रवाह और स्फूर्ति है। शास्त्री जी ने इतिहासिक और सामाजिक दोनों प्रकार के उपन्यास लिखे हैं। आपके 'हृदय की प्यास', 'अमर अभिलाषा' और 'वैशाली की नगरवधू' इत्यादि प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा इतिहासिक उपन्यास-लेखकों में अग्रणी हैं। बुन्देल-खण्ड की पार्वत्य टेकड़ियां और वहाँ की रक्त-रंजिता भूमि तथा ध्वंसावशिष्ट खण्डहरों से आपने विशेष प्रेरणा प्राप्त की है। इसी कारण वर्मा जी के उपन्यासों

में बुन्देलखण्ड की प्राकृतिक छटा, और स्थानीय रंगत एक मुख्य विशेषता के रूप में आई हैं। वहाँ के नदी-नाले, शस्य-श्यामला भूमि और पर्वत तथा सरल ग्रामीण जीवन उनकी रचनाओं में प्रतिबिम्बित होता है। वर्मा जी के उपन्यासों में यथार्थवाद, आदर्शवाद, तथा रोमांस का सम्मिश्रण मिलता है। यद्यपि आपने सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं, किन्तु इतिहासिक उपन्यासों में ही आपको विशेष सफलता प्राप्त हुई है। 'गढ़ कुण्डार' तथा 'विराटा की पद्मिनी' में कल्पना और इतिहास का मिश्रण है। 'गढ़ कुण्डार' में बुन्देलखण्ड का रक्त-रंजित इतिहास है। 'विराटा की पद्मिनी' कल्पना और अनभूति पर आश्रित है। पात्र भी कल्पित हैं। 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' वर्मा जी का उल्लेखनीय इतिहासिक उपन्यास है, लगातार दस वर्ष तक इतिहासिक सामग्री का अन्वेषण करने के अनन्तर इस उपन्यास की रचना हुई है। लेखक ने लिखा था कि ऐसा उपन्यास लिखूँगा जो इतिहास से सर्वथा सम्मत हो और उसके संदर्भ में हो। वर्मा जी झाँसी निवासी हैं और बचपन से ही उन्हें झाँसी की रानी के प्रति एक विशेष ममत्व और निष्ठा थी। इसी कारण रानी का चरित्र तेजस्विता, औदार्य, जीवन, सौन्दर्य और अनुपम देश-भक्ति से युक्त है। उपन्यास की भाषा, कथोपकथन, प्राकृतिक चित्र तथा चरित्र-चित्रण बहुत मार्मिक और सफल बन पड़े हैं। कहीं-कहीं केवल इतिहासिक तथ्य निरूपण की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है। फलस्वरूप कथा कहीं-कहीं शिथिल और विशृङ्खल है। किन्तु चरित्र-चित्रण बहुत सजीव है, कुछ पात्र अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की अमिट छाप पाठक के हृदय पर छोड़ जाते हैं। अभी 'मृगनयनी' नाम का उनका एक और उपन्यास प्रकाशित हुआ है। वर्माजी के सामाजिक उपन्यासों में 'कुण्डली चक्र' तथा 'प्रत्यागत' प्रसिद्ध हैं।

विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक के दो उपन्यास 'मां' और 'भिखारिणी' विशेष प्रसिद्ध हैं। उपन्यास-साहित्य में कौशिक जी प्रेमचन्द जी के आदर्शों के ही अनुयायी थे। अपने दोनों उपन्यासों में उन्होंने सामाजिक कुरीतियों का ही चित्रण किया है, और उनके निरसन के लिए कुछ सुझाव प्रस्तुत किये हैं। कौशिक जी के उपन्यासों में कथावस्तु का विकास वार्तालाप द्वारा होता है। चरित्र-चित्रण में भी कथोपकथन की पद्धति को अपनाया गया है। यद्यपि कौशिक जी का क्षेत्र प्रेमचन्द जी की भाँति विस्तृत नहीं, किन्तु अपने सीमित क्षेत्र में भी उन्होंने कुछ बहुत सुन्दर और हृदयग्राही चित्र प्रस्तुत किये हैं। वे भावुक थे, अतः भाव-संचरण-कला में विशेष निपुण थे। उनके उपन्यासों के कथानक सुलझे हुए और सरल हैं।

जैनेन्द्रकुमार एक ऊँचे कलाकार हैं। उनकी कहानी कहने की शैली कलापूर्ण और स्वतन्त्र है, उनके विचार सुलझे हुए और स्वस्थ हैं। वे एक विशिष्ट आदर्शवादी आध्यात्मिक वर्णन के अनुयायी हैं। किन्तु उनमें पलायनवादी प्रवृत्ति नहीं, सामाजिक नव-निर्माण में वे पूर्ण गान्धीवादी हैं। (सामाजिक रूढ़ियों और कुरीतियों के प्रति उनमें तीव्र असन्तोष है।)

जैनेन्द्र जी ने अपने उपन्यासों में समाज या वर्ग-विशेष की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया है। उनके पात्र व्यक्तित्व-सम्पन्न हैं, उनमें कुछ असाधारण चारित्रिक विशेषताएँ हैं। मानसिक वृत्तियों का विश्लेषण जैनेन्द्र जी ने विशेष मनोयोग पूर्वक किया है। 'परख' जैनेन्द्र जी का उल्लेखनीय उपन्यास है। इसकी वर्णन-शैली और कथावस्तु सादी किन्तु आकर्षक है। चरित्र-चित्रण की सजीवता और सचाई, मानसिक अन्तः प्रवृत्तियों का विश्लेषण तथा भाषा की सादगी इस उपन्यास की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

'सुनीता' के पात्र एक विशिष्ट उच्चादर्श से प्रेरित प्रतीत होते हैं, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से समीक्षा करने पर प्रतीत होगा कि वस्तुतः ऐसी बात नहीं, उनमें वह चारित्रिक उदात्तता और उच्चता नहीं, जो कि एक दृष्टि से दिखाई पड़ती है। 'सुनीता' के पात्र कुछ रहस्यमय और अनोखे से प्रतीत होते हैं। 'कल्याणी' में अस्पष्टता है। 'त्याग पत्र' की मृणाल का व्यक्तित्व बहुत ओजपूर्ण और अंगारे की भांति जलता हुआ-सा है। भारतीय नारी के विषम, दारुण और करुणापूर्ण जीवन का वह पूर्ण चित्रण है। कथावस्तु के संगठन की दृष्टि से 'त्याग पत्र' जैनेन्द्र जी का सर्वोत्कृष्ट उपन्यास है।

जैनेन्द्र जी पर एक बड़ा आक्षेप यह है कि उनके पात्र आध्यात्मिकता और उच्चता के आवरण में लिपटे हुए तो अवश्य हैं, किन्तु वस्तुतः वे न तो आध्यात्मिक हैं और न उच्च ही। 'परख' की कट्टो और सत्यधन, 'सुनीता' की सुनीता और हरिप्रसन्न के पारस्परिक व्यवहार में अस्पष्ट रूप से अस्वस्थ भावनाएँ काम करती हैं। 'त्याग पत्र' की मृणाल का व्यक्तित्व उभरा हुआ अवश्य है, किन्तु उसमें रहस्यमयता की कमी नहीं। उसकी दुःखपूर्ण परिस्थिति हमारी सहानुभूति को जाग्रत अवश्य करती है, किन्तु उसके चरित्र की अस्पष्टता और रहस्यवादिता हमारी करुणा को कुण्ठित भी करती है। हमें यह नहीं पता चलता कि मृणाल का उद्देश्य क्या है? वह चाहती क्या है? इस प्रकार जैनेन्द्र जी की कला पर दूसरा बड़ा आक्षेप अस्पष्टता का लगाया जाता है। आज जैनेन्द्र जी कथाकार की अपेक्षा विचारक अधिक हैं।

भगवतीचरण वर्मा का स्वरूप साहित्य में दो रूपों में प्रकट हुआ है—

एक तो भयंकर विस्फोटक विद्रोही का और दूसरा मादकता और खुमारी का। उपन्यासों में उनका विस्फोटक विद्रोही रूप अधिक प्रकाशित हुआ है। 'चित्र-लेखा' वर्मा जी का एक उत्कृष्ट सफल उपन्यास है। प्राचीन भारतीय वातावरण को चित्रित करते हुए लेखक ने उसमें आधुनिक दृष्टिकोण से पाप-पुण्य की व्याख्या की है। पाप क्या है? प्रश्न बहुत जटिल है। किन्तु वर्मा जी ने अपने दृष्टिकोण को बड़ी पटुता और सुन्दरता से पाठक के हृदय तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। 'चित्र-लेखा' का चरित्र इतना स्पष्ट और सुलझा हुआ चित्रित किया गया है कि उस पर वर्मा जी निश्चय ही अभिमान कर सकते हैं। सम्पूर्ण रूप से 'चित्र लेखा' वस्तुतः हिन्दी का गौरव ग्रन्थ है।

'तीन वर्ष' में वर्मा जी ने समाज के घृणित वर्ग वेश्यागामी, शराबी और जुआरियों को चित्रित किया है। समाज के तथाकथित शिक्षित वर्ग के प्रति इसमें असन्तोष की तीव्र भावना व्यक्त हुई है। यह उपन्यास जीवन की कटु अनुभूतियों का संग्रह है।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' वर्मा जी का चौथा उपन्यास है जो कि समाज की एक बहुत विस्तृत पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। इसमें चार व्यक्तियों के जीवन-व्यापार की आधार-शिला पर कथा का विशाल-भवन निर्मित किया गया है। पण्डित रामनाथ तिवारी पुराने ढंग के एक ताल्लुकेदार हैं, उनके तीन पुत्र हैं, जिनमें से एक लड़का कांग्रेसी बन जाता है, दूसरा कम्युनिस्ट और तीसरा आतंकवादी। सन् १९३० के पश्चात् का हमारा सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन इस उपन्यास में मुखरित हो उठा है। यह उपन्यास वस्तुतः राजनीतिक है, और इसमें वर्मा जी ने गांधीवादी विचार-धारा का स्पष्ट समर्थन किया है। पं० रामनाथ के मँझले कम्युनिस्ट लड़के को तो उन्होंने तिरस्कार का पात्र बनाया है। आतंकवादी को सर्वथा पराजित और हतदर्प होता हुआ प्रदर्शित किया गया है। किन्तु गांधीवाद के अतिरिक्त अन्य राजनीतिक वादों के प्रति लेखक निश्चय ही असहिष्णु है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से पं० रामनाथ तिवारी ही सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न और सजीव पात्र बन सके हैं। उसके चरित्र पर वर्मा जी ने विशेष परिश्रम किया है। तिवारी के पश्चात् चरित्र-चित्रण की दृष्टि से गाँव के वृद्ध झगड़ू का चित्र उज्ज्वल बन पड़ा है।

वर्मा जी की शैली कुछ ओज और व्यंग्यपूर्ण है, किन्तु उनमें आवश्यक गम्भीरता का अभाव नहीं। कथावस्तु सुसंगठित और सौष्ठवपूर्ण है। उसमें भिन्न-भिन्न कथाओं की कमी नहीं, किन्तु वे सब एक-दूसरे से चिपकी हुई हैं। कहीं-कहीं अनावश्यक वर्णन कथा-प्रवाह में बाधक हो जाता है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते'

दुःखान्त है, अन्त तक पहुँचते-पहुँचते पाठक का हृदय करुणा से द्रवीभूत हो उठता है। किन्तु कहीं-कहीं कटुता की मात्रा अनुचित रूप से बढ़ गई है। लेखक की वर्णन-शैली मनोरंजक और स्पष्ट है। वस्तुतः 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' हिन्दी-कथा-साहित्य का अमूल्य रत्न है। 'आखिरी दाँव' नाम से कुछ दिन हुए आपका एक और नवीन उपन्यास काशित हुआ है।

वर्मा जी आज हिन्दी की एक ड़ी जीवन्त शक्ति हैं, और उनसे साहित्य को बहुत आशा है।

यशपाल मार्क्सवाद से प्रभावित उपन्यासकारों में प्रमुख हैं। साम्यवाद और रोमांस का सम्मिश्रण उनके उपन्यासों की प्रमुख विशेषता है। यशपाल जी की रचनाओं का दृष्टिकोण प्रचारात्मक है। उन्होंने 'दादा कामरेड' और 'देशद्रोही' में तो कांग्रेसी और कम्युनिस्ट जीवन की बड़ी विशद सैद्धान्तिक विवेचना करने का प्रयत्न किया है। कम्युनिस्ट पात्रों को आदर्श रूप में चित्रित करके पूँजीवादी या कम्युनिस्ट-सिद्धान्तों के विपरीत चलने वालों के प्रति उन्होंने अपनी असहिष्णुता प्रकट की है। यदि शुद्ध प्रगतिवादी दृष्टिकोण के अनुसार यशपाल जी के उपन्यासों की विवेचना की जाय तो उनमें बहुत से दोष दृष्टिगोचर होंगे। क्योंकि न तो यशपाल जी ने प्रगतिवादियों के तथाकथित यथार्थवाद को ही अपनाया है, और न ही वे आदर्शवाद के प्रति अपने मोह को छोड़ सके हैं।

'दिव्या' भी यशपालजी का उपन्यास है। यह इतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रकृति और प्रगति का चित्र है। 'दिव्या' में इतिहास और कल्पना का मिश्रण है। इसके मुख्य पात्र प्रथुसेन, चार्वाक मारिश धर्मास्थि तथा रुद्रधीर हैं। प्रथुसेन एक कायर यश-लोलुप व्यक्ति है, धर्मास्थि एक वीतराग महात्मा है, भट्टारक रुद्रधीर एक कुटिल धूर्त और अभिमानी ब्राह्मण के रूप में चित्रित किया गया है। लेखक ने चार्वाक मारिश के चरित्र-चित्रण पर ही अधिक स्नेह प्रदर्शित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके सिद्धान्तों से उन्हें विशेष सहानुभूति है।

'दादा कामरेड', 'पार्टी कामरेड' तथा 'देशद्रोही' की अपेक्षा 'दिव्या' कलात्मक दृष्टि से अधिक पूर्ण और उत्कृष्ट है। अभी पिछले दिनों आपका 'मनुष्य के रूप' नामक एक और उपन्यास प्रकाशित हुआ है।

इलाचन्द्र जोशी शायद फ्रायड के मनोविश्लेषण-सम्बन्धी सिद्धान्तों से हिन्दी-लेखकों में सर्वाधिक प्रभावित हैं। यही कारण है कि जोशी जी ने प्रायः अपने सभी उपन्यासों में व्यक्ति के अर्द्धचेतन और अवचेतन मानस की दूषित प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके उनका चित्रण किया है। मानव-मन वस्तुतः

एक पहेली है, मनोविज्ञान-शास्त्रियों ने इस पहेली के उत्तर को खोजने का प्रयत्न किया है। इन खोजों के आधार पर ही जोशीजी ने व्यक्ति की आन्तरिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए सामाजिक समस्याओं की समीक्षा का भी प्रयत्न किया है। 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'संन्यासी' और 'घृणामयी' सभी नग्न यथार्थवादी मनोविज्ञानिक विश्लेषण के चित्रों से भरपूर हैं। जोशीजी के नवीन उपन्यास 'निर्वासिता' में भी व्यक्ति के उस व्यक्तित्व का, जो कि अनेक सामाजिक मानसिक और यौन वर्जनाओं से कुण्ठित हो चुका है, चित्रण किया गया है। इस उपन्यास में जोशीजी ने एटम-बम के आविष्कारों से उत्पन्न सम्भाव्य समस्याओं की ओर भी संकेत किया है। 'मुक्ति पथ' नाम से आपका एक और उपन्यास निकला है।

अज्ञेय हिन्दी के श्रेष्ठतम उपन्यासकारों में से एक हैं। औपन्यासिक शैली, प्रवाह, विचार और बौद्धिकता के दृष्टिकोण से अज्ञेय का उपन्यास 'शेखर: एक जीवनी' अभूतपूर्व है। 'गोदान' के पश्चात् यह ही एक ऐसा बृहदाकार उपन्यास है, जो कि अपनी विशिष्ट टेकनीक, बौद्धिक पृष्ठभूमि और प्रवहमान औपन्यासिकता के रूप में दुर्लभ आदर्श प्रस्तुत करता है। यह उपन्यास आत्म-कथा के रूप में लिखा गया है, इसका कथानक सर्वथा विशृङ्खल है, या यों कहना चाहिए कि इसकी कथावस्तु की सम्पूर्ण घटनाएँ नायक के चारों ओर ही घूमती हैं और वही उनका प्रेरणा-स्रोत हैं। इसमें व्यक्तित्व की प्रधानता है, वस्तुतः यह एक व्यक्ति-चित्र है। शेखर के प्रथम भाग में कथा-प्रवाह बहुत शिथिल है, किन्तु उसकी प्रत्येक पंक्ति, प्रत्येक शब्द पूर्ण और कलात्मक है। शब्द-चित्र अज्ञेय के कला-कौशल के परिचायक हैं। अभी-अभी आपका एक और नया उपन्यास 'नदी के द्वीप' प्रकाशित हुआ है।

अज्ञेय की भाषा बहुत सुलझी हुई, सुष्ठु, और परिष्कृत है।

उपेन्द्रनाथ अश्क 'गिरती दीवारें' नामक उपन्यास के प्रकाशन के अनन्तर हिन्दी के आधुनिक उपन्यासकारों में उत्कृष्ट गिने जाने लगे हैं। 'गिरती दीवारें' अश्क का छः सौ पृष्ठ का एक बृहदाकार उपन्यास है। इस नवीनतम उपन्यास की शैली बहुत परिष्कृत, सुगठित और टेकनीक आधुनिक तथा कला-पूर्ण है। 'गिरती दीवारें' में अश्क ने निम्न-मध्य-वर्ग के कटु, तिक्त और विषाक्त जीवन को भली-भांति चित्रित किया है। लम्बे-लम्बे दार्शनिक वाद-विवाद, सैद्धान्तिक बहस और विशिष्ट मतवाद की प्रचारात्मक प्रवृत्ति के अन्वेषक पाठक को इस उपन्यास को पढ़कर निराश होना पड़ेगा। इसमें तो साधारण घटनाओं और साधारण जीवन को उसके वातावरण के साथ एक चित्रात्मक किन्तु सरल शैली

में चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। अश्क शायद समाज में आमूल चूल परिवर्तन द्वारा ही आधुनिक मानव के पूर्ण विकसित होने को सम्भव समझते हैं। विशेषतः सेक्स-सम्बन्धी समाज की धारणाओं में तो वे परिवर्तन आवश्यक मानते हैं। इसी कारण उपन्यास की कथावस्तु की घटनाओं का एक बहुत बड़ा अंश सेक्स और फ्रायड के सिद्धान्तों से बराबर ध्वनित है। अश्क समाज के प्रति बहुत कटु हैं, वस्तुतः यदि उनका वश चले तो वह समाज को भस्मसात् ही कर दें। लेखक का दृष्टिकोण यथार्थवादी है, उसने समाज की कुत्सित अवस्था को नग्न रूप में चित्रित किया है। किन्तु अज्ञेय का यह दृष्टिकोण वस्तुतः ठीक ही है, **छः सौ पृष्ठ पढ़कर अन्त में यह निष्कर्ष निकलता देखकर बड़ी निराशा होती है कि उपन्यास की दीवारें मानव-समाज की दीवारें नहीं, पंजाबी निम्न मध्य वर्ग की दीवारें भी नहीं, केवल यौन-कुण्ठा की दीवारें हैं। वास्तव में उपन्यास में फैलाई गई वस्तु के आन्तरिक महत्त्व और अर्थ को लेखक स्वयं पूरी तरह ग्रहण नहीं कर सका।**[1] उनका 'सितारों के खेल' उपन्यास भी उल्लेखनीय है।

फिरभी अश्क के यह उपन्यास कम मनोरंजक और कलात्मक हों,ऐसीबात नहीं।

राहुल सांकृत्यायन ने प्राचीन इतिहास का मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार अध्ययन करके उसे अपने विभिन्न उपन्यासों में चित्रित किया है। इतिहासिक सामग्री को अपनी कल्पना द्वारा नये लिबास में उपस्थित कर देना आपकी प्रमुख विशेषता है। राहुल जी के सभी उपन्यास अद्भुत जिन्दादिली और उत्साह से पूर्ण हैं। यद्यपि टेकनीक और कला की दृष्टि से उनमें त्रुटियाँ हो सकती हैं, किन्तु उपन्यासों की रोचकता निर्विवाद है।

सियारामशरण गुप्त की शैली बहुत मँजी हुई और प्रौढ़ है। उनके उपन्यास हमारे पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित हैं। समाज के मध्यवर्ग और निम्नवर्ग ने आपकी विशेष सहानुभूति प्राप्त की है। गुप्त जी गांधीवाद से प्रभावित हैं, अतः आपकी रचनाएँ भी उन्हीं आदर्शों और प्रेरणाओं से प्रेरित होती हैं। यद्यपि गुप्तजी धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं, और समाज की सम्पूर्ण मान्यताओं को स्वीकार करते हैं। किन्तु आपका दृष्टिकोण बहुत उदार और सुलझा हुआ है। सामाजिक रूढ़ियों के प्रति आप उग्र नहीं, किन्तु सुधार के पक्षपाती अवश्य हैं। नारी-चित्रण में जैनेन्द्रजी और गुप्तजी के दृष्टिकोण में समता है। गुप्तजी में भारतीयता अधिक है।

---

१. प्रतीक : 'प्रेमचन्द और परवर्ती हिन्दी-उपन्यास'

हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' नामक उपन्यास अपने ढंग का अनोखा है। प्राचीन भारतीय संस्कृति का द्विवेदीजी ने बहुत विस्तृत अध्ययन किया है। इस कारण तत्कालीन वातावरण, समाज तथा परिस्थिति इत्यादि के चित्रण में उन्हें अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। हमारे विचार में हिन्दी में यह अपने ढंग का प्रथम उपन्यास है।

हिन्दी की महिला उपन्यास-लेखिकाओं में श्रीमती उषादेवी मित्रा और कुमारी कंचनलता सब्बरवाल बहुत प्रसिद्ध हैं। श्रीमती मित्रा के चार उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। आपने अपने उपन्यासों में रोमांटिसिज्म (Romanticism) को अपनाया है। कुमारी सब्बरवाल के उपन्यासों में भारतीय नारी का बहुत सुन्दर चित्रण किया गया है।

आज का हिन्दी-उपन्यास साहित्य निरन्तर विकसित हो रहा है। औपन्यासिक शैली तथा टेकनीक में अनेक नवीन प्रयोग किये जा रहे हैं। उपन्यास का भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल और आशापूर्ण है।

६. पाश्चात्य उपन्यास

यूरोप की सभी उन्नत भाषाओं के उपन्यास-साहित्य में फ्रेंच, रूसी तथा अंग्रेजी उपन्यास ही अग्रणी हैं। यहाँ संक्षेप में हम इन भाषाओं के उपन्यास-साहित्य का परिचय देंगे।

फ्रेंच उपन्यास—बहुत समृद्ध और उन्नत है। बहुत कालतक उसने यूरोपीय साहित्य का पथ-प्रदर्शन किया है। फ्रेंच-उपन्यास में नवीन धारा का प्रवर्तक रूसो माना जाता है। यद्यपि औपन्यासिक शैली की दृष्टि से उसके उपन्यासों में बहुत से दोष हैं, किन्तु उनमें प्रभाव डालने की शक्ति संसार के किसी भी श्रेष्ठ उपन्यास से कम नहीं।

रूसो मानव-मन और चरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण के साथ पात्रों की सबलताओं और दुर्बलताओं का चित्रण करने में प्रमुख स्थान रखता है। प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति रूसो को एक स्वाभाविक आकर्षण था, अतः अपने उपन्यासों में रूसो ने बहुत ही चित्ताकर्षक प्राकृतिक चित्र खींचे हैं। उपन्यासों में रूसो ने अपने क्रांतिकारी विचार एक नवीन ढंग और शैली से अभिव्यक्त किये। अभिव्यक्तीकरण की यह शैली रूसो के बाद भी बहुत समय तक फ्रांस में प्रचलित रही। 'नोविली हेलाइसी' 'एमली' तथा 'कन्फेशन' रूसो की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

हेनरी बैले चरित्र-प्रधान तथा मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास-लेखकों में बहुत प्रसिद्ध हैं। सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के वर्णन में और

चरित्र-चित्रण में बैले पूर्ण यथार्थवादी था। बैले बहुत संक्षेप से किन्तु मार्मिक ढंग से घटनाओं का चित्रण करता था, क्योंकि विस्तृत विवरण में उसे रुचि न थी।

बालज़ाक एक असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार था। आज के फ्रेंच-उपन्यासकारों में वह सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। बालजाक ने सामाजिक उपन्यास लिखे हैं, इनके कथानक सामाजिक, इतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। घटनाएँ, पात्र और कथानक स्वयमेव उसके हाथों में रूप-परिवर्तित करते जाते हैं। इतनी शक्तिमत्ता और सार्थकता हमने किसी अन्य उपन्यासकार में नहीं देखी। घटनात्मक उपन्यासों के अतिरिक्त बालजाक ने चरित्र-चित्रण तथा शिष्टाचार-प्रधान उपन्यास लिखने में भी विशेष ख्याति प्राप्त की है। 'कामेडी ह्यूमेन' उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है।

अलेक्जेण्डर ड्यूमा ने घटना-प्रधान इतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। ड्यूमा की शैली आकर्षक और वर्णन-प्रधान थी, उसके अनुकरण के अनेक प्रयत्न किये गए।

विक्टर ह्यूगो कवि या नाटककार की अपेक्षा उपन्यासकारके रूपमें अधिक प्रसिद्ध है। वह क्रान्तिकारी व्यक्तित्व-सम्पन्न, अनुपम प्रतिभाशाली महान् कलाकार था। सैनिक के रूप में और फ्रेंच क्रान्ति के समय अन्य अनेक रूपों में जीवन के विविध क्षेत्रों में कार्य करके इस महान् उपन्यासकार ने अनेक अनुभव संचित किये। इसी कारण ह्यूगो के उपन्यास मानव-जीवन के विविध क्षेत्रों से सम्बंधित हैं। मानव-मन की आन्तरिक प्रवृत्तियों का, उसके मूल में स्थित दानवी तथा मानवी भावनाओं का, बहुत सजीव और सूक्ष्म विवेचन उस ने अपने उपन्यासों में किया है। 'आउट ला ऑफ आइसलैंड' में लेखक ने एक डाकू के कारनामों को इतनी सजीवता से चित्रित किया है कि उसे पढ़कर रोमांच हो आता है। विक्टर ह्यूगो का 'ला मिजरेबल' विश्व के श्रेष्ठतम उपन्यासों में से एक है। वह केवल इसी के बल पर विश्व का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार हो सकता है।

जोला प्रकृतिवादी लेखक था, कभी-कभी अध्यात्मवाद की ओर भी विशेष आकृष्ट हो जाता था। उसने विश्लेषणात्मक ढंग से फ्रांस की पारिवारिक समस्याओं की समीक्षा की है। जोला-जैसी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति अन्य लेखकों में दुर्लभ है। उसने प्राकृतिक दृश्य, पार्वत्य सौंदर्य, चरवाहों की मस्ती और चरागाहों का बहुत सूक्ष्म चित्रण अपने उपन्यासों में किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति-चित्रण में उसे विशेष आनंद प्राप्त होता था।

अनातोले फ्रांस, मोपासाँ तथा **मार्शल फ्राउस्ट** आज के श्रेष्ठ कलाकार हैं।

अनातोले फ्रांस कवि, आलोचक, दार्शनिक और उपन्यासकार सब कुछ था। इसी कारण उसके उपन्यास स्वतंत्र शैली में न लिखे जाते हुए भी असाधारण हैं। मोपासाँ निराशावादी कलाकार है। उसने अपनी नवीन शैली का आविष्कार किया था। मार्शल फ्राउस्ट ने नवीनतम मनोविज्ञानिक खोजों का आश्रय लेकर अपने उपन्यासों में मानव-मस्तिष्क की चेतन, अर्द्ध-चेतन और अवचेतन अवस्थाओं के विश्लेपण का प्रयत्न किया।

रोमाँ रोलाँ आधुनिक फ्रेंच-उपन्यासकारों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, वह न केवल एक श्रेष्ठ उपन्यासकार था अपितु एक उच्च मनीषी और मानवता-प्रेमी भी था। इसी कारण वह विश्व की महानतम विभूतियों में गिना जाता है। औपन्यासिक शैली में रोमाँ रोलाँ ने अनेक नवीन प्रयोग किये हैं। उनके उपन्यास प्रायः आत्मकथात्मक शैली में लिखे गए हैं, जिसमें सम्पूर्ण घटनाएँ नायक के चरित्र-विकास में सहायक होती हैं। अन्य गौण पात्र धीरे-धीरे विलुप्त होते जाते हैं। जीवन की विविध अवस्थाओं और घटनाओं का वर्णन बहुत रोचक और आकर्षक होता है। मानसिक विश्लेपण में स्वगत-कथन की प्रणाली को अधिक ग्रहण किया गया है। 'जीन क्रिस्टाफ' लेखक का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है।

आज के फ्रेंच-उपन्यासों में मजदूर-जीवन का चित्रण अधिक मिलता है। कथावस्तु भी बहुत विस्तृत नहीं होती, किन्तु उसमें कलात्मकता और संगठन का अभाव नहीं।

रूसी उपन्यास की परम्परा बहुत प्राचीन नहीं। पुश्किन और गोगल के आविर्भाव के अनंतर रूसी उपन्यास का समुचित विकास आरम्भ हुआ। पुश्किन मुख्य रूप से कवि था किन्तु उसका प्रभाव रूसी साहित्य के प्रत्येक अंग पर पड़ा। तुर्गनेव, टाल्स्टाय तथा डोस्टावेस्की के आविर्भाव के साथ ही रूसी उपन्यास विश्व-साहित्य में श्रेष्ठतम स्थान का अधिकारी हो गया।

तुर्गनेव बहुत समय तक फ्रांस में रहा, वहाँ प्रायः सभी बड़े-बड़े लेखक उसके मित्र थे। इसी कारण उसकी रचनाओं पर फ्रेंच-साहित्य का प्रभाव अधिक दृष्टि-गोचर होता है। उसके उपन्यास यथार्थवादी हैं, किंतु उनमें शिष्टता या शालीनता का अभाव नहीं। तुर्गनेव के उपन्यासों का वर्णन बहुत सजीव और चित्रात्मक शैली का होता है। पढ़ते समय सम्पूर्ण दृश्य आँखों के सामने चलचित्र की भांति घूम जाते हैं। तुर्गनेव ने कथानक पर अधिक बल नहीं दिया, पात्रों का चरित्र-चित्रण ही उसका मुख्य उद्देश्य रहा। किन्तु पात्रों को उसने स्वयमेव विकसित होने दिया, उन्हें किसी विशिष्ट ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया। उसके

पात्र हमारे लिए बहुत परिचित से होते हैं। 'फादर्स एण्ड सन्ज', 'वर्जिन सायल' और 'लीजा' तुर्गनेव के श्रेष्ठतम उपन्यास हैं। अमरीकन आलोचक कार्ल एच० ग्रेवो ने तुर्गनेव के विषय में लिखा था कि वह उपन्यास-लेखकों का लेखक था।

डोस्टावेस्की रूस का महान् कलाकार है। अपने जीवन में उसने बहुत भयंकर अनुभव किये थे। वह सेना में रह चुका था, उसे मृत्यु-दण्ड दिया जा चुका था, और बहुत समय तक वह साइबेरिया में निर्वासित रहा। डोस्टावेस्की अध्यात्म-प्रधान भावनाओं वाला व्यक्ति था। आध्यात्मिक भावनाओं के प्रसार द्वारा ही वह विश्व में शांति-स्थापन की आशा करता था। अपने उपन्यासों में लेखक ने जीवन की रहस्यात्मकता पर प्रकाश डाला है और उसके विश्लेषण का प्रयत्न किया है। जीवन के सूक्ष्म भावों, तथा मनोवृत्तियों का निर्देशन लेखक ने बड़ी ही कुशलता से किया है। डोस्टावेस्की का प्रत्येक पात्र शक्तिशाली व्यक्तित्व-सम्पन्न है। वे उपन्यास में अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं, और सम्पूर्ण सामाजिक परिस्थितियों तथा विषमताओं का विरोध करते हुए अपने निश्चयों और आदर्शों पर दृढ़ रहते हैं। जीवन का अध्यात्म-प्रधान और रहस्यपूर्ण चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। डोस्टावेस्की के उपन्यासों में 'क्राइम एण्ड पनिशमेंट', 'इडियट' 'दी हाउस आफ डेडस' तथा 'कैरा मेजाव ब्रदर्स' विशेष प्रसिद्ध हैं।

टाल्स्टाय 'वार एण्ड पीस' के प्रकाशन के पश्चात् विश्व के महानतम उपन्यासकारों में गिना जाने लगा। टाल्स्टाय का एक विशिष्ट आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण था, उसने जीवन की आन्तरिकता को अच्छी तरह से अनुभव किया था। बहुत देर तक विलासमयी जिन्दगी बिताने के पश्चात् उसका झुकाव आदर्श-प्रधान जीवन-दर्शन की ओर हुआ। इसी कारण उसके उपन्यासों में आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का आधिक्य और आदर्शवाद का प्राधान्य दृष्टिगत होता है।

टाल्स्टाय के उपन्यासों का घटना-क्रम सुसंगठित और धारा-प्रवाहमय होता है, प्रत्येक घटना एक क्रम से घटित होती है, वह एक विशिष्ट वातावरण और दृश्य को अपने साथ सम्बंधित किये रखती है। टाल्स्टाय के उपन्यासों में दृश्यों का वर्णन बड़ी सूक्ष्मता और सजीवता से किया गया है। चरित्र-चित्रण की प्रणाली भी टाल्स्टाय की अपनी थी, प्रत्येक उसका पात्र अपने पृथक् व्यक्तित्व के साथ उपन्यास में पृथक् स्थान का अधिकारी होता है। सभी पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत उपयुक्त और स्पष्ट है। कला-वर्णन की शैली में भी टाल्स्टाय ने नवीन आविष्कार किये। कथानक विभिन्न पात्रों में विभक्त होता है, किंतु एकता का सूत्र सभी में विद्यमान

रहता है। टाल्स्टाय के उपन्यासों में जीवन को उसकी वास्तविकता में चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। उनमें जीवन को समझने की एक विशिष्ट उत्सुकता रहती है। 'अन्ना करेनिना' तथा 'रिजरेक्शन' भी लेखक के उत्कृष्ट उपन्यास हैं।

मैक्सिम गोर्की रूस का महान् यथार्थवादी उपन्यासकार है। उसके आविर्भाव से पूर्व के उपन्यासों में समाज के उच्च और अभिजात्य वर्ग की विलासिता, ईर्ष्या-द्वेष, तथा पारस्परिक द्वंद्वों का चित्रण रहता था। किंतु गोर्की ने अपनी रचनाओं में एक भिन्न मार्ग को ग्रहण किया, उसने समाज के निम्न वर्ग की मानसिक अनुभूतियों तथा उनके दरिद्रतापूर्ण जीवन को अपने उपन्यासों का विषय बनाया। गोर्की अपने व्यापक दृष्टिकोण तथा कर्मठता के कारण रूसी जनता में बहुत प्रिय रहा है। 'मदर' गोर्की की अमर रचना है।

गोर्की के पश्चात् रूसी उपन्यासकार दो विभिन्न धाराओं में बँट गए हैं, एक तो यथार्थवादी और दूसरे आदर्शवादी। आदर्शवादी कलाकारों में इवान बनिन, आता शिवेन तथा एण्डवि प्रसिद्ध हैं।

अंग्रेजी उपन्यास फ्रेंच तथा रूसी उपन्यास-साहित्य के मुकाबले में अधिक समृद्ध नहीं, वस्तुतः वे उनसे पीछे रह जाते हैं। अंग्रेजी भाषा के प्रारम्भिक उपन्यासों में कल्पित कथाओं का प्राचुर्य रहता था। उनमें रोमांस तथा कौतूहल की प्रधानता होती थी। १६वीं शताब्दी के मध्य में डेनियल डीफो, जान बनियन, स्विफ्ट तथा एडिसन ने अंग्रेजी-उपन्यास की नींव डाली। **जान बनियन** का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' (Pilgrims Progress) बहुत प्रसिद्ध है। **डेनियल डीफो** का लिखा हुआ 'राबिन्सन क्रूसो' भी बहुत प्रसिद्ध है, और वही वस्तुतः वास्तविकार्थ में अंग्रेजी भाषा का सर्व प्रथम उपन्यास कहा जाता है। **स्विफ्ट** (Jonathem Swift) बहुत प्रसिद्ध व्यंग्य-लेखक था, 'गुलीवर्स ट्रैविल्स' (Gullewers Travells) उसकी प्रसिद्ध व्यंग्य कृति है। **एडिसन** ने अपने पत्र 'स्पैक्टेटर' (Spactater) द्वारा चरित्र-चित्रण पर विशेष बल दिया।

रिचर्डसन (Richardson) चरित्र-प्रधान उपन्यासों का श्रीगणेश करने वालों में सर्व प्रमुख है। रिचर्ड्सन युवावस्था में अनेक युवतियों से प्रेमपूर्ण पत्र-व्यवहार करता रहा, उससे उसमें प्रेम-प्रधान उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। उसके उपन्यासों के कथानक जीवन की वास्तविकताओं के अधिक निकट हैं। किन्तु उसमें भावुकता अधिक थी। फिर भी अंग्रेजी उपन्यासों पर से विदेशी उपन्यासों के प्रभाव को दूर करने का उसने विशेष प्रयत्न किया।

रिचर्ड्सन के उपन्यासों में 'पमीला' (Pamela) बहुत प्रसिद्ध है।

हेनरी फिल्डिंग (Henary Fielding) रिचर्ड्सन से विशेष रूप से प्रभावित था। किन्तु वह न तो रिचर्ड्सन की भावुकता को ही पसन्द करता था और न उसकी चरित्र-चित्रण की पद्धति को ही। फिल्डिंग का विचार था कि कथा-वस्तु के निर्माण तथा पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए विशेष अनुभव तथा ज्ञान की आवश्यकता है। विशेष अध्ययन के बिना सशक्त पात्रों का निर्माण असम्भव है। फिल्डिंग के पात्र अपने समय के सामाजिक आदर्शों के प्रतिनिधि हैं। उसके पात्र वस्तुतः बहुत पूर्ण और आकर्षक हैं। थैकरे ने कहा था कि **फील्डिंग को ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा प्राप्त थी।**

स्टर्ने (Lawrence Sterne) के उपन्यासों में हास्य की प्रधानता है। समाज की प्रचलित रूढ़ियों के प्रति उसके मन में तीव्र असन्तोष था। 'डिस्ट्रैम शैण्डी' नामक उपन्यास में स्टर्ने ने अपनी प्रतिभा तथा मौलिकता के बल पर ऐसी क्रान्तिकारी तथा विद्रोही भावनाओं को भरा कि वह शीघ्र ही विश्व-विख्यात हो गया।

स्मालैट (Smollett) को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों का पर्याप्त अनुभव था। उसका पहला उपन्यास 'रौडेरिक रैण्डम' है। इसमें लेखक ने बहुत निडरता से पात्रों का चरित्र-चित्रण किया है। इसमें हास्य रस की प्रधानता है।

ओलिवर गोल्डस्मिथ (Oliver Goldsmith) बहुत आकर्षक और विचित्र प्रकृति का लेखक था। 'विकार आफ वेक फील्ड' (Vicar of wakefield) उसका सर्व प्रसिद्ध उपन्यास है। इसमें इंग्लैंड के पारिवारिक जीवन का हास्य-व्यंग्य-पूर्ण चित्रण किया गया है।

सर वाल्टर स्काट (Sir W. Scott) ने बहुत से इतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। बचपन से ही स्काट को अपने देश के ग्राम्य जीवन और उसकी आन्तरिक परिस्थितियों से परिचित होने का अवसर प्राप्त हो गया था, इसी कारण उसके उपन्यासों का प्रकृति-चित्रण बहुत सजीव बन पड़ा है। स्काट के उपन्यासों का कथानक बहुत जटिल होता है, उसमें अनेक समान महत्त्व के पात्र एक साथ उपस्थित हो जाते हैं, जो कि विभिन्न परिस्थितियों में पड़कर एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी बन जाते हैं। किंतु यह पात्र स्काटिश जीवन के विभिन्न अंगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। कुछ अनावश्यक पात्रों का समावेश भी हो गया है। स्काट उपन्यास का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही समझता था, इसी विचार के अनुरूप उसने अपने उपन्यासों को बनाने का प्रयत्न किया है। 'सर ट्रिस्ट्रेम', 'विवर्ली' तथा 'आइवन हो' इत्यादि स्काट के प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

जेन आस्टिन (Jane Austin) बहुत संयत तथा शांत स्वभाव की युवती थी। उसने 'प्राइड एंड प्रज्यूडिस'(Pride and Prejudice) और 'सेन्स एण्ड सेन्सीब्लिटी' (Sense and Sensiblity) नामक दो उत्कृष्ट उपन्यास लिखे हैं। आस्टिन द्वारा चित्रित जीवन के चित्र बहुत सजीव और स्पष्ट हैं। उसने सामाजिक समस्याओं की सूक्ष्म समीक्षा की है।

विलियम मेकपीस थैकरे (W. M. Thackery) और चार्ल्स डिकन्स (Charles Deckens) १६वीं शताब्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। थैकरे ने सामाजिक दुर्बलताओं का बहुत व्यंग्यात्मक शैली में उल्लेख किया है। सामाजिक कुरीतियों की उसने कड़ी आलोचना भी की है। 'वैनिटी फेयर' में लेखक ने उद्दंण्ड युवकों और दुष्ट प्रकृति के पात्रों का बहुत सजीव और सुन्दर विश्लेषणात्मक चित्रण किया है। थैकरे के उपन्यास उसके व्यक्तित्व से विशेष रूप में प्रभावित हैं। 'दी न्यू कमस्', 'हेनरी एसमैंड, तथा 'दी वरजीनियन्स' थैकरे के प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

डिकन्स ने अपने उपन्यासों में निम्न तथा मध्य श्रेणी के जीवन को चित्रित किया है। 'डेविड कापर फील्ड' तथा 'टेल्स आफ टू सिटीज' डिकन्स के विख्यात उपन्यास हैं। लेखक के उपन्यासों के कथानक अत्यंत जटिल हैं। जीवन की रहस्यमयता उनमें सर्वत्र प्राप्य होती है। डिकन्स एक समाज-सुधारक था, अतः कहीं-कहीं उसके उपन्यासों में सुधारवादी प्रवृत्ति लक्षित हो जाती है।

डी० एच० लारेंस तथा एल्डस हक्सले ने अपने उपन्यासों में मानव की कायिक वृत्तियों पर विशेष प्रकाश डाला है। सामयिक युग के प्रसिद्ध उपन्यासकारों में वर्जीनिया वुल्फ, डब्ल्यू० एस० मौघम तथा डेविड गार्नेट विशेष स्थान के अधिकारी हैं।

आधुनिक युग के प्रारम्भ में अंग्रेजी उपन्यासों में मनोविज्ञानिक चित्रण की प्रधानता हो गई है। पात्रों की आंतरिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण और उसके चेतन और उपचेतन की व्याख्या आज के युग के उपन्यासों की प्रमुख विशेषता है। जार्ज इलियट, टामस हार्डी, हेनरी जेम्स, स्टिवेन्सन, जार्ज मेरेडिथ आदि आधुनिक युग के प्रमुख उपन्यासकार हैं।

इस युग में मनुष्य-जीवन बहुत जटिल और अव्यवस्थित हो चुका है, उसके सम्मुख अनेक आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ हैं। आज के उपन्यासों में जीवन की यह जटिलता प्रतिबिम्बित हो रही है। व्यक्ति तथा समाज की इन समस्याओं को मनोविज्ञान की सहायता द्वारा सुलझाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। उपन्यास भी इन प्रयत्नों से विशेष भावित है।

चार कहानी

१. परिभाषा

कहानी आज साहित्य में एक स्वतंत्र कला के रूप में विकसित हो चुकी है। लोकप्रियता में तो वह आज साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा बहुत अधिक आगे बढ़ी हुई है। अपने आधुनिक रूप में कहानी, उपन्यास की अनुजा होती हुई भी अपने स्वतंत्र कलात्मक विकास द्वारा साहित्य में विशिष्ट स्थान की अधिकारिणी समझी जाती है।

कथा-साहित्य की उत्पत्ति सर्वप्रथम कहाँ और किस रूप में हुई, यह आज बता सकना अत्यन्त कठिन है, किन्तु इसका अस्तित्व बहुत पुराना है; और यह सर्वकाल तथा सर्वदेश में विद्यमान थी, इतना तो निर्विवाद रूप से सर्वमान्य है। साहित्य के अन्य अंगों की भांति कथा-साहित्य का रूप भी देश, काल तथा परिस्थितियों की विभिन्नता के अनुसार विकसित होता रहा है। आज वह जिस रूप में प्रचलित है, वह उसके प्राचीन रूप से पर्याप्त विभिन्न और विकसित है।

कहानी, गल्प, लघु-कथा अथवा आख्यायिका एक ही वस्तु हैं, और उनका रूप भी एक ही है। (आज की कहानी जिस विकसित रूप में प्राप्त है उसकी व्याख्या करना अथवा उसे परिभाषा के एक निश्चित आकार में बाँध देना अत्यन्त कठिन है।) क्योंकि एक तो वह निरन्तर विकासशील है, और दूसरे उसके मूल में अनेक विभिन्न तत्त्व (Elements) कार्य कर रहे हैं जो कि परिभाषा में नहीं बँध सकते। इसीलिए प्रत्येक आलोचक या लेखक ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार कहानी की परिभाषा की है। गल्प-साहित्य को आधुनिकतम रूप प्रदान करने वालों में से अमरीका के सुप्रसिद्ध गल्पकार एडगर एलिन पो प्रमुख हैं। उन्होंने कहानी की परिभाषा इस प्रकार की है :

छोटी कहानी एक ऐसा आख्यान है जो इतना छोटा है कि एक बैठक में पढ़ा जा सके और जो पाठक पर एक ही प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए लिखा गया हो। उसमें ऐसी बातों को त्याग दिया जाता

है जो उसकी प्रभावोत्पादकता में बाधक हों। वह स्वतः पूर्ण होती है।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कथाकार मुंशी प्रेमचंद कहानी की रूपरेखा इस प्रका निर्धारित करते हैं : गल्प ऐसी रचना है जिसमें जीवन के किसी एक अं या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहत है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास सब उसी ए भाव को पुष्ट करते हैं उपन्यास की भांति उसमें मानव-जीवन क सम्पूर्ण तथा बृहद् रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता, न उस उपन्यास की भांति सभी रसों का सम्मिश्रण होता है। वह ऐसा रमणी उद्यान नहीं जिसमें भांति-भांति के फूल, बेल-बूटे सजे हुए हैं, बलि एक गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप दृष्टिगोचर होता है। बा० श्यामसुन्दरदास ने कहानी में नाटकीय तत्त्वों प्रमुखता प्रदान करते हुए लिखा है कि : आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य प्रभाव को लेकर नाटकीय आख्यान है।

इसी प्रकार आख्यायिका की अनेक परिभाषाएँ यहाँ पर उद्धृत की सकती हैं। किंतु कहानी वस्तुतः इन सभी परिभाषाओं में निर्दिष्ट की जाती भी अपनी विकासशीलता के कारण स्वतंत्र है। हाँ, आधुनिक कहानी के के लिए उपर्युक्त परिभाषाएँ पर्याप्त रूप में सहायक हो सकती हैं। वैयक्तिक स तंत्र्य के युग में जिस प्रकार आज गीति-काव्य की प्रमुखता है, उसी प्रकार आ के इस अत्यधिक संलग्नता के समय कथा-साहित्य में कहानी को सर्वप्रियता प्र है। कहानी आज के अपने विकसित रूप में गीति-काव्य के अधिक निकट जिस प्रकार गीत मनुष्य के भाव-जगत् के अनंत रूपों में से किसी एक की अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार कहानी भी मनुष्य के जीवन के विविध रूपों में से रूप की ही अभिव्यक्ति-मात्र है। गीति-काव्य के समान कहानी में भी वैयरि दृष्टिकोण की प्रधानता होती है, और वैसी ही तन्मयता।

परंतु गीति-काव्य का क्षेत्र भाव-जगत् से सम्बंधित है, जब कि कहानी भावाभिव्यक्ति के साथ घटनाओं का चित्रण किया जाता है। गीति-काव्य भाव-प्रकाशन स्वतंत्र रूप से होता है, किंतु कहानी में आलम्बन द्वारा। गी काव्य की अपेक्षा कहानी में घटना और तथ्य-निरूपण की प्रधानता रहती फिर भी कहानी में वैयक्तिकता की प्रमुखता है। इस प्रकार कहानी का स्व

---

१. A short story is a narrative short enough to be read in a si sitting, written to make an impression, on the reader, exclud all that does not forward that impression complete and final

गीति-काव्य के समान स्वतः पूर्ण होता है। उसमें वैयक्तिकता की प्रधानता होती है, और पात्रों के समावेश, चरित्र-चित्रण और निरूपण द्वारा एक ही घटना तथा तथ्य का वर्णन करते हुए प्रभावात्मक ढंग से निश्चित उद्देश्य की अभिव्यक्ति की जाती है।

२. कहानी के तत्त्व (The elements of story)

कहानी का निर्माण कुछ विभिन्न तत्त्वों के आधार पर होता है। यहाँ हम इन्हीं आवश्यक तत्त्वों पर विचार करेंगे—

कथावस्तु (Plot)—वस्तुतः कहानी के शरीर में कथावस्तु हड्डियों के सदृश है। यदि भाषा, भाव, चरित्र-चित्रण या शैली इत्यादि सब तत्त्व कहानी में विद्यमान हों और कथावस्तु (Plot) विद्यमान न हो तो वह कहानी अस्थि-रहित शरीर के सदृश होगी।

कथावस्तु की रचना अत्यन्त विज्ञानिक ढंग से और क्रमिक विकास के रूप में होनी चाहिए। प्रत्येक घटना के आगमन से पूर्व उसके कारणों का विवेचन रहता है। इसी प्रकार पात्र के कार्यों का विवरण देने से पूर्व उसका मन्तव्य स्पष्ट कर दिया जाता है। इसी आधार पर अधिष्ठित प्लाट—कथानक—सम्मिलित रूप से लेखक के एक निश्चित मन्तव्य की अभिव्यक्ति करता है। इनमें घटनाओं की प्रमुखता होती है। कथावस्तु के मुख्य भाग इस प्रकार हैं—(१) प्रस्तावना भाग, (२) मुख्यांश, (३) क्लाइमेक्स तथा (४) पृष्ठ भाग।

(१) *प्रस्तावना भाग* में संक्षेपसे पात्रों का वैयक्तिक परिचय दे दिया जाता है। उनकी चारित्रिक विशेषताओं के वर्णन के साथ-साथ कथानक की घटनाओं के साथ उनका सम्बन्ध भी बतला दिया जाता है। वातावरण, सामाजिक स्थिति और अन्य आवश्यक तथ्यों का वर्णन प्रस्तावना में ही हो जाता है। यह वर्णन प्रायः वार्तालाप, संकेत अथवा विवरण द्वारा होता है।

(२) *मुख्यांश* में कथा का वह संघर्ष—क्षीण अथवा प्रबल रूप में—प्रारम्भ हो जाता है, जो कि क्लाइमेक्स पर पहुँचकर चरम सीमा को प्राप्त करता है। वस्तुतः प्रस्तावना में तो परिचय रहता है, और मुख्यांश में घटनाओं का उत्थान प्रारम्भ होता है जो कि आगे चलकर उग्र रूप धारण कर लेती हैं। संघर्ष की स्थिति स्वाभाविक रूप से उपस्थित होकर उसका विकास पात्रों की स्थिति और चरित्रों के अनुकूल होना चाहिए। संघर्ष का अप्राकृतिक उद्गम

पाठक में कहानी और उसके वातावरण के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर देगा ।

(३) *क्लाइमेक्स* (Clymex) में संघर्ष और पाठक के औत्सुक्य की चरम सीमा हो जाती है। जिस परिस्थिति, घटना और संघर्ष का प्रारम्भ प्रस्तावना से होकर मुख्यांश में वृद्धि को प्राप्त करता है वह क्लाइमेक्स में आकर चरम सीमा को प्राप्त कर लेता है। कहानी का सम्पूर्ण घटना-चक्र, वातावरण तथा चरित्र-चित्रण इत्यादि सभी उपादान क्लाइमेक्स की तैयारी में योग देते हैं। सम्पूर्ण घटनाएँ इसी केन्द्र की ओर बढ़ती हैं। यहाँ चरम सीमा पर पहुँचकर अप्रत्याशित रूप से पाठक के कौतूहल का चमत्कारिक ढंग से अन्त प्रारम्भ होता है।

(४) *पृष्ठ भाग* में कहानी का परिणाम निहित रहता है। वातावरण, घटना और चरित्रों के पूर्ण विकास के अनन्तर कथा का अन्त होता है। पृष्ठ भाग में ही सम्पूर्ण रहस्य का उद्घाटन कर दिया जाना चाहिए। हाँ, कुछ रहस्यमयी कहानियों में यह परिणाम स्पष्ट नहीं होता ।

आजकल की कहानियों में कहीं-कहीं कथानक की समाप्ति क्लाइमेक्स पर पहुँचकर ही हो जाती है ।

कथावस्तु (Plot) में अनावश्यक घटनाओं, असम्बन्धित तथ्यों और अस्वाभाविकता का समावेश नहीं होना चाहिए ।

कथावस्तु का चुनाव जीवन की किसी भी घटना से किया जा सकता है। किन्तु इसके लिए सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति आवश्यक है। नगण्य-से-नगण्य वस्तु भी सूक्ष्म-पर्यवेक्षण-शक्ति के आधार पर उत्कृष्ट कथावस्तु का आधार बन सकती है। मौलिकता के साथ-साथ कथावस्तु में सुसम्बद्ध योजना (Proportionate setting) आवश्यक है।

चरित्र-चित्रण आज की कहानियों में कथानक से भी अधिक महत्त्व प्राप्त कर रहा है। कहानियों में पात्र के सम्पूर्ण चरित्र पर प्रकाश नहीं डाला जाता, वरन् उसके चरित्र के ऐसे अंशों को ही प्रकाशित किया जाता है जिनसे कि उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व जाज्वल्यमान हो उठता है। वस्तुतः आज वही कथा सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है, जिसमें कि लेखक पात्रों का चरित्र-चित्रण करता हुआ किसी मनोविज्ञानिक सत्य की व्याख्या करे। सफलतापूर्वक चरित्र-चित्रण के लिए यह आवश्यक है कि लेखक को मनोविज्ञान का विशेष ज्ञान हो। यह

उनकी आन्तरिक वृत्तियों में प्रविष्ट होकर उनके विशद अध्ययन द्वारा सूक्ष्म चित्रण करे। यद्यपि सम्पूर्ण पात्र लेखक की कल्पना की उपज होते हैं, किन्तु यदि वे अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व न रखते हों और लेखक के ही कठपुतले हों तो वे व्यर्थ और अरुचिकर होंगे। पाठक उनके प्रति आकृष्ट नहीं हो सकेगा। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासकार विलियम थेकरे ने लिखा है कि : **मेरे पात्र मेरे वश में नहीं रहते वरन् मेरी लेखनी उन पात्रों के वश में हो जाती है।** वस्तुतः पात्रों के स्वाभाविक और सजीव चित्रण के लिए लेखक को अपना व्यक्तित्व पात्रों पर आरोपित नहीं करना चाहिए। उसे अपने व्यक्तित्व को उनसे सर्वथा पृथक् ही रखना चाहिए। चारित्रिक विकास को उपस्थित करने के लिए पात्र की वैयक्तिक, मानसिक और सामाजिक परिस्थितियों का विवरण भी पर्याप्त सहायक हो सकता है।

चरित्र-चित्रण के चार प्रमुख प्रकार हैं—(१) वर्णन द्वारा, (२) संकेत द्वारा, (३) वार्तालाप द्वारा और (४) घटनाओं द्वारा।

वर्णन द्वारा जो चरित्र-चित्रण किया जाता है वह प्रत्यक्ष या विश्लेषणात्मक (Direct or Analytic) कहलाता है। विश्लेषणात्मक ढंग द्वारा लेखक स्वयं पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालता है। एक उदाहरण देखिए :

> वह पचास वर्ष से ऊपर था। तब भी युवकों से अधिक बलिष्ठ और दृढ़ था। चमड़े पर झुर्रियाँ नहीं पड़ी थीं। वर्षा की झड़ी में, पूस की रातों की छाया में, कड़कती हुई जेठ की धूप में, नंगे शरीर घूमने में वह सुख मानता था। उसकी चढ़ी मूँछें बिच्छू के डंक की तरह, देखने वालों की आँखों में चुभती थीं। उसका साँवला रंग, साँप की तरह चिकना और चमकीला था। उसकी नागपुरी धोती का लाल रेशमी किनारा दूर से भी ध्यान आकर्षित करता। कमर में बनारसी सेल्हे का फेंटा, जिसमें सीप के मूठ का बिछुआ खोंसा रहता था। उसके घुँघराले बालों पर सुनहले पल्ले के साफे का छोर उसकी चौड़ी पीठ पर फैला रहता। ऊँचे कन्धे पर टिका हुआ चौड़ी धार का गँडासा, यह थी उसकी धज। पंजों के बल जब वह चलता, उसकी नसें चटाचट बोलती थीं। वह गुण्डा था।
>
> (प्रसाद)

चरित्र-चित्रण की वर्णनात्मक प्रणाली की अपेक्षा संकेतात्मक प्रणाली को

आज अधिक उपयुक्त और कलात्मक समझा जाता है। संकेतात्मक प्रणाली व्यक्ति की चारित्रिक विशेषताओं के उल्लेख में अधिक उपयुक्त होती है, क्योंकि लेखक चरित्र-चित्रण के इस प्रकार में स्वयं कुछ न कहकर सम्पूर्ण परिणाम से अवगत होने का उत्तरदायित्व पाठक पर ही छोड़ देता है। वह केवल-मात्र पात्रों की चारित्रिक वृत्तियों का ही उल्लेख करता है। एक उदाहरण देखिए:

> वह अभी-अभी जागे थे और पै-दर-पै जम्भाइयाँ लेते हुए पूरी तरह सचेत होने के लिए समाचार-पत्र और प्याली भर चाय का इन्तजार कर रहे थे। सूर्य क्षितिज की ओट में से उभर आया था और उसकी सुनहली रश्मियाँ मोर-पंख की तरह आकाश पर बिखर रही थीं। पूर्व की ओर की तमाम खिड़कियाँ सोने की तरह जगमगा रही थीं, परन्तु यह चमक केवल खिड़कियों के बाहर ही थी। कमरों के भीतर पहुँचने तक यह प्रकाश भी ईश्वरदास के जीवन की भांति मैला और ज्योति-शून्य हो जाता था।

वार्तालाप द्वारा चरित्र-चित्रण का ढंग परोक्ष या नाटकीय (Indirect or Dramatic) चरित्र-चित्रण के लिए अधिक उपयुक्त है। वार्तालाप द्वारा जहाँ पात्र एक दूसरे के चरित्र को स्पष्ट करते हैं वहाँ वे अपनी कथन-शैली, भाव-भंगी और भाषा द्वारा अपने चरित्र की व्याख्या भी कर देते हैं। लेखक इसमें अपने आप कुछ नहीं कहता। पात्रों को अपने चरित्र-विश्लेषण करने की भी स्वतन्त्रता होती है, और दूसरे पात्रों के प्रति सांकेतिक शब्द कहकर उनकी व्याख्या की भी।

कहानी में घटना-क्रम की वृद्धि के लिए वार्तालाप का प्रयोग उपयुक्त नहीं होता, पात्रों की विशिष्ट मनोवृत्ति के प्रदर्शन के लिए वार्तालाप का आश्रय ग्रहण करना ही उपयुक्त होता है। व्यर्थ के लम्बे वार्तालाप, निर्जीव, शुष्क और बोझल हो जाते हैं। प्रेमचन्द जी की 'इस्तीफा' इत्यादि अनेक कहानियों में वार्तालाप के सुन्दर ढंग से चरित्र-विश्लेषण किया गया है।

कहानी में कोई-न-कोई घटना तो रहती ही है, किन्तु सामान्यतः छोटी-छोटी घटनाएँ ही पात्रों के चरित्र-चित्रण में सहायक होती हैं। ये छोटी-छोटी घटनाएँ मुख्य घटना के लिए पूरक के रूप में ही कार्य करती हैं। किन्तु ये घटनाएँ अप्रासंगिक नहीं होनी चाहिएँ और न ही बहुत लम्बी। मुख्य घटना के साथ इनका पूर्ण सामंजस्य होना चाहिए। वार्तालाप और घटनाओं के सम्मिश्रण द्वारा चरित्र-चित्रण का ढंग ही उपयुक्त माना जाता है। इस प्रकार कथा का घटना-प्रवाह तो अक्षुण्ण रहता ही है, साथ ही उनके चरित्र का क्रमिक विकास भी

बहुत सुन्दर ढंग से उपस्थित हो जाता है।

कथोपकथन पात्रों के चरित्र-चित्रण में तो सहायक होता ही है किन्तु कथानक का भी वह एक आवश्यक गुण है; क्योंकि कथा की स्वाभाविकता के लिए कथोपकथन का समावेश आवश्यक है। कथोपकथन द्वारा ही हम पात्रों के दृष्टि-कोण, आदर्श तथा उद्देश्य से परिचित हो सकते हैं। वार्तालाप को स्वाभाविक रूप में उपस्थित करने में हम बड़ी सुगमता से सम्पूर्ण परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। कहानी में वस्तुतः कथोपकथन निम्न लिखित तीन कार्यों में बहुत सहायक होता है—(क) चरित्र-चित्रण में, (ख) घटनाओं को गतिशील बनाने में, और (ग) भाषा-शैली का निर्माण करने में।

कथोपकथन कहानी में प्रवाह, सजीवता और औत्सुक्य को उत्पन्न करता है। किन्तु कथोपकथन द्वारा इन गुणों को उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि कथोपकथन पात्र और परिस्थिति के अनुकूल हो। यदि ऐसा नहीं होगा तो पात्रों का चरित्र-चित्रण अस्पष्ट और भ्रामक होगा। फिर कथोपकथन में फालतू अंश नहीं होने चाहिएँ। पात्रों के मुख से लम्बे-लम्बे अभिभाषण कराने से कथा का प्रवाह भंग हो जाता है, और कथानक में शिथिलता आ जाती है। उपन्यास के कथोप-कथन की अपेक्षा कहानी के कथोपकथन में अधिक संयम और नियन्त्रण की आवश्यकता है। कथोपकथन द्वारा अन्तर्द्वन्द्व के अतिरिक्त मानसिक उत्कर्ष (Psychological growth) का भी सुन्दर चित्रण हो सकता है। वार्तालाप जितने भी अधिक मनोभावों के अनुकूल होंगे उतने ही अधिक वे कलात्मक और उत्कृष्ट होंगे। इस उदाहरण में देखिए :

> घर में जाते ही शारदा ने पूछा—किसलिए बुलाया था, बड़ी देर हो गई।
>
> फतहचन्द ने चारपाई पर लेटते हुए कहा—नशे की सनक थी और क्या ? शैतान ने मुझे गालियाँ दीं, जलील किया, बस यही रट लगाए हुए था कि देर क्यों की ? निर्दयी ने चपरासी से मेरा कान पकड़ने को कहा।
>
> शारदा ने गुस्से में आकर कहा—तुमने एक जूता उतारकर दिया नहीं सूअर को ?
>
> फतहचन्द—चपरासी बहुत शरीफ है। उसने साफ कह दिया हुजूर मुझसे यह काम न होगा। मैंने भले आदमियों की इज्जत उतारने के लिए नौकरी नहीं की थी। वह उसी वक्त सलाम करके चला गया।

शारदा—यह बहादुरी है। तुमने उस साहब को क्यों नहीं फटकारा?

फतहचन्द—फटकारा क्यों नहीं—मैंने भी खूब सुनाईं। वह छड़ी लेकर दौड़ा—मैंने भी जूता सँभाला। उसने मुझे कई छड़ियाँ जमाईं—मैंने भी कई जूते जमाए।

शारदा ने खुश होकर कहा—सच? इतना-सा मुँह हो गया होगा उसका।

फतहचन्द—चेहरे पर झाड़-सी फिरी हुई थी।

शारदा—बड़ा अच्छा किया तुमने, और मारना चाहिए था। मैं होती, तो बिना जान लिये न छोड़ती।

('इस्तीफा'—प्रेमचन्द)

भावनात्मक कहानियों का कथोपकथन स्वाभाविक कम और कवितामय अधिक होता है। किन्तु सम्पूर्ण कथा-प्रवाह में वह उपयुक्त बन जाता है। एक उदाहरण देखिए:

धीवर बाला आकर खड़ी हो गई। बोली—मुझे किसने पुकारा।

मैंने।

क्या कहकर पुकारा?

सुन्दरी।

क्यों, मुझमें क्या सौन्दर्य है? और है भी कुछ तो क्या तुमसे विशेष?

हाँ, आज तक किसी को सुन्दरी कहकर नहीं पुकार सका था; क्योंकि यह सौन्दर्य-विवेचना मुझमें अब तक नहीं थी।

आज अकस्मात् यह सौन्दर्य-विवेक तुम्हारे हृदय में कहाँ से आया?

तुम्हें देखकर मेरी सोई हुई सौन्दर्य तृष्णा जाग गई।

('समुद्र-संतरण'—प्रसाद)

अधिक भावुकतापूर्ण और कवित्वमय कथोपकथन कहानियों के स्वाभाविक प्रवाह में बाधक ही बन जाता है।

देश, काल तथा वातावरण—इसका चित्रण उपन्यास में तो होता ही है, कहानी में भी उसकी आवश्यकता रहती है, यद्यपि उससे कम। घटना तथा पात्रों से सम्बन्धित स्थान, काल और वातावरण का चित्रण कथाकार भी करता

है, किन्तु उपन्यासकार की अपेक्षा संक्षेप से। देश, काल तथा वातावरण के चित्रण बहुत स्वाभाविक, आकर्षक और यथासम्भव पात्रों की मानसिक परिस्थिति के अनुकूल होने चाहिएँ।

वर्णन-शैली—यह कहानी के सभी तत्त्वों से सम्बन्धित होती है, और शब्द तथा भाव दोनों के वर्णन में वह लेखक के व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित कर देती है। कहानी की वर्णन-शैली अत्यन्त आकर्षक, प्रवाहमयी और धारावाहिक होनी चाहिए। अपनी वर्णन शैली द्वारा गूढ़-से-गूढ़ भावनाओं की और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में ही लेखक की सफलता है। लक्षणा, व्यंजना इत्यादि शब्द-शक्तियाँ तथा अलंकार और मुहावरे इत्यादि वर्णन-शैली के संवर्धन के लिए सहायक उपकरण के रूप में प्रयुक्त किये जा सकते हैं। हास्य, व्यंग्य, प्रवाह और चित्रोपमता इत्यादि शैली की अनेक विशेषताएँ हो सकती हैं।

वर्णन-शक्ति (Power of Description) और विवरण-शक्ति (Power of narration) दोनों ही वर्णन-शैली के लिए आवश्यक हैं। संगति और प्रभाव की एकता (Unity of Impression) भी कहानी के लिए आवश्यक है। इन सभी तत्त्वों के सम्मिश्रण से कहानी में कौतूहल और औत्सुक्य की भावना को जाग्रत रखा जा सकता है। भाषा की सजीवता और शक्तिमत्ता कथा में गतिशीलता को उत्पन्न कर देती है। वर्णन-शैली की उत्कृष्टता के लिए यह आवश्यक है कि भाषा सजीव और मुहावरेदार हो। भाषा में भी चित्रोपमता के लिए अलंकारों का प्रयोग सुविधापूर्वक हो सकता है।

विचार, भाव और अनुभूतियाँ अपनी अखण्ड सत्ता रखती हैं, वे त्रिकाल में एक ही रही हैं, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति के साधन-भाषा अथवा वर्णन-शैली — में अन्तर होता है। वर्णन-शैली की नवीनता ही, लेखक की मौलिकता और नवीनता होती है। अपने युग के आदर्शों तथा भावनाओं से वह प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। वस्तुतः वह अपने युग के आदर्शों को ही अभिव्यक्त करता है। इस अभिव्यक्ति का ढंग ही उसका अनुभव है।

कहानियों के विषय के अनुरूप ही लेखन-शैली भी परिवर्तित हो जाती है। व्यंग्य-प्रधान कहानियों की शैली व्यंग्यपूर्ण होती है, और भावात्मक तथा वर्णनात्मक कथाओं में भावुकता और विवरण की प्रधानता होती है। किन्तु प्रत्येक लेखक अपनी वैयक्तिक शैली का विकास स्वयं करता है, वह अपने आदर्शों के अनुरूप ही अपनी भाषा तथा वर्णन-शैली का निर्माण करता है। हिन्दी में प्रसाद और मुन्शी प्रेमचन्द की शैलियाँ अपनी वैयक्तिक रुचियों की परिचायिका हैं

उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त भावुकता (Emotion), संवेदना (Sentiment), अलौकिकता (Fantecy) और हास्य (Humour) को भी कहानी के आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया जाता है। किन्तु कहानी के विभिन्न भागों में इनका प्रयोग किस मात्रा में तथा किस रूप में किया जा सकता है इसका निर्णय एक कुशल कलाकार ही कर सकता है। वस्तुतः संवेदना और भावुकता (भाव-तत्त्व) तो साहित्य में कलात्मक सौन्दर्य के लिए आवश्यक हैं। अतः वह कथा, जिसमें भाव-तत्त्व और संवेदन की कमी हो, साहित्य के अन्तर्गत गृहीत नहीं की जा सकती। यह तत्त्व अपने वास्तविक रूप में सम्पूर्ण साहित्य के ही आधार हैं।

३. कहानी का ध्येय

कहानी का ध्येय निश्चित रूप से मनोरंजन कहा जा सकता है। किन्तु इस मनोरंजन के पीछे भी एक ध्येय वर्तमान रहता है, यह ध्येय जीवन की किसी मार्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति में ही निहित है। उपन्यासकार या महाकाव्य का कवि यदि सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या करता है, तो कहानीकार मानव-मन के उन तथ्यों को या गहरी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करता है जो कि जीवन के अन्तरतम से सम्बन्धित होती हैं। वस्तुतः कहानीकार मानव-जीवन से सम्बन्धित समस्याओं पर प्रकाश डालता है। किन्तु यह उद्देश्य आधुनिक कहानियों में व्यक्त न होकर व्यंजित ही होता है। 'हितोपदेश' या उसी ढंगपर लिखी गई प्राचीन कहानियों में कथा कहने के साथ-साथ उपदेश की मात्रा भी विद्यमान रहती थी। आधुनिक कहानियाँ विशिष्ट उद्देश्य की प्रतिपादिका होती हुई भी उपदेशात्मक नहीं होतीं।

आजकल की कहानियों में चरित्र-चित्रण की प्रधानता होती है, अतः किसी भी उद्देश्य की अभिव्यक्ति उसमें स्पष्ट नहीं हो सकती। चरित्र-चित्रण के रूप में या तो मानसिक विश्लेषण किया जाता है या फिर लेखक जीवन-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को प्रकट करता है। जैसे आज का प्रगतिवादी लेखक समाज के वर्तमान संगठन में आमूल चूल परिवर्तन को चाहता है; वह सर्वहारा वर्ग (Proletariat) के सुख-दुःख, आशा-निराशा और उनकी जीवन-सम्बन्धी अनुभूतियों को साहित्य का विषय बनाकर क्रान्तिकारी भावनाओं के प्रचार द्वारा उनमें जागृति उत्पन्न करना चाहता है। कथा-साहित्य में उसकी यही क्रान्तिकारी विचार-धारा विद्यमान रहती है, और उसके साहित्य का उद्देश्य भी क्रान्ति का प्रचार ही रहता है। कुछ कहानीकार वर्तमान सामाजिक समस्याओं की विषमता

को चित्रित करके उनके प्रति अपने सुधारवादी दृष्टिकोण को अपनी कहानियों में चित्रित करते हैं। मनोविश्लेषक कथाकार मानव-मन की गहराई में पैठकर उसकी रहस्यमयी प्रवृत्तियों की व्याख्या को ही अपनी कहानी का उद्देश्य बनाता है। अतः कहानी का ध्येय मनोरंजन अवश्य स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु (मनोरंजन के अतिरिक्त जीवन-सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों की व्याख्या भी उद्देश्य के साथ-साथ वर्तमान रहती है।

४. कहानी का प्रारम्भ और अन्त

कहानी को प्रारम्भ करने के अनेक ढंग हैं। आत्मकथात्मक, वर्णनात्मक, घटनात्मक, तथा वार्तालाप के रूप में कथा का प्रारम्भ किया जा सकता है। आत्मकथा के रूप में कहानी लिखना पर्याप्त कठिन है, क्योंकि कथा प्रथम पुरुष (मैं) से प्रारम्भ की जाती है, और लेखक अपनी बहुज्ञता का परिचय नहीं दे सकता। आत्म-कथात्मक रूप में लिखी गई कहानियाँ सरल और स्वाभाविक अधिक होती हैं।

वर्णन से प्रारम्भ होने वाली कहानियों में किसी भी दृश्य, व्यक्ति या वस्तु के वर्णन से कथा का प्रारम्भ किया जा सकता है। जब किसी कथा का प्रारम्भ किसी घटना से किया जाता है तो वहाँ प्रारम्भ में ही औत्सुक्य को जाग्रत कर दिया जाता है। ऐसी कहानियों को पाठक बहुत चाव से पढ़ते हैं। साधारण वार्तालाप से भी कहानी का प्रारम्भ किया जा सकता है। जैसे :

बन्दी !

क्या है ? सोने दो ?

मुक्त होना चाहते हो ?

अभी नहीं, निद्रा खुलने पर, चुप रहो।

फिर अवसर न मिलेगा।

बड़ा शीत है, कहीं से एक कम्बल डालकर कोई शीत से मुक्त करता।

यह ढंग बहुत कलात्मक है, इसमें नाटकीयता की प्रधानता रहती है और कथानक स्वयं वार्तालाप के साथ-साथ बढ़ता चला जाता है।

(कहानी की प्रारम्भिक पंक्तियाँ इतनी आकर्षक होनी चाहिएँ कि वे पाठक को एकदम आकृष्ट कर लें।

कहानी के प्रारम्भ की भाँति कहानी का अन्त भी महत्त्वपूर्ण होता है। यदि

कहानी का अन्त अस्वाभाविक होगा तो पाठक निश्चय ही उस कहानी से प्रभावित न हो सकेगा, और न ही उसे कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट कहा जायगा। अतः कहानी का अन्त बहुत चमत्कारपूर्ण और पाठक पर अस्थायी प्रभाव छोड़ जाने वाला होना चाहिए। कहानी का अन्त जानकर पाठक का हृदय पर्याप्त समय के लिए एक प्रकार की विशिष्ट वेदनामयी अनुभूति से आप्लावित होता रहना चाहिए।

सम्पूर्ण कथा-प्रभाव को तारतम्य के रूप में बनाये रखने के लिए लेखक की कुशलता का परिचय कहानी के अन्त में ही प्राप्त होता है।

५. कहानी के स्वरूप तथा कहानी कहने के ढंग

स्वरूप की दृष्टि से कहानी निम्न लिखित भागों में विभाजित हो सकती है—

(१) घटना-प्रधान, (२) चरित्र-प्रधान, (३) वर्णन-प्रधान तथा (४) भाव-प्रधान।

घटना-प्रधान कहानियाँ प्रत्येक काल और देश में निरन्तर प्रचलित रहती हैं। इस प्रकार की कहानियों में चरित्र-चित्रण पर ध्यान नहीं दिया जाता, इनमें घटनाओं का विवरण ही अधिक रहता है। कौतूहल और औत्सुक्य की भावना को जाग्रत रखना ही इन कहानियों का मुख्य उद्देश्य होता है। जासूसी कहानियाँ इस ढंग की होती हैं। जिन घटना-प्रधान कहानियों में बाह्य घटनाओं की अपेक्षा आन्तरिक घटनाओं को अधिक महत्त्व दिया जाता है वही कहानियाँ श्रेष्ठ समझी जाती हैं।

चरित्र-प्रधान कहानियाँ नवयुग की देन हैं, ये घटना-प्रधान कहानियों से श्रेष्ठ समझी जाती हैं। इनमें मानव-जीवन के विविध स्वरूपों में से एक ही स्वरूप का चित्रण होता है। स्वाभाविक और सजीव चरित्र-चित्रण ही ऐसी कहानियों की विशेषता होती है। मानव-चरित्र की व्याख्या इनका मुख्य उद्देश्य होता है।

वर्णन-प्रधान कहानियों में वर्णन की प्रधानता रहती है। परिस्थिति, काल, देश, वातावरण तथा पात्रों के रंगीन वर्णन द्वारा ही इन कहानियों का प्रारम्भ होता है। चरित्र-चित्रण, घटनाओं के स्वाभाविक-विकास और कथानक के प्रवाह की ओर ऐसी कहानियों में लेखक का ध्यान नहीं जाता। इस कारण कथा-तत्त्व की दृष्टि से ये कहानियाँ श्रेष्ठ नहीं गिनी जातीं।

भाव-प्रधान कहानियों में मनोभावों का विश्लेषण किया जाता है।

मानसिक उतार-चढ़ाव और विभिन्न प्रवृत्तियों के संघर्ष के वर्णन के साथ उनकी विशद व्याख्या की जाती है। ये कहानियाँ साधारण पाठकों के लिए रोचक नहीं होतीं, दार्शनिक विचारों वाले उच्च कोटि के पाठकों के लिए ही वे मूल्यवान होती हैं।

कहानी कहने की प्रणालियाँ मुख्य रूप से निम्न हैं—

(१) ऐतिहासिक या वर्णनात्मक-प्रणाली में लेखक एक द्रष्टा की भाँति सम्पूर्ण कहानी को कहता है। जैसे-'बेदों ग्राम में महादेव सुनार एक सुविख्यात आदमी था।' इत्यादि।

(२) आत्मकथन-प्रणाली में एक ही पात्र सम्पूर्ण कथा को आप बीती के रूप में कहता है। ऐसी कहानियों की यथार्थता बहुत मार्मिक होती है। आजकल हिन्दी में इस प्रकार की कहानियाँ बहुत लिखी जा रही हैं। डायरी के रूप में लिखी गई कथाएँ भी आत्म-कथन-प्रणाली के अन्तर्गत ही गृहीत की जायँगी।

(३) कथोपकथन-प्रणाली में भी कहानी लिखी जा सकती है। ऐसी कहानियों में कथोपकथन की सरसता पर विशेष ध्यान दिया जाता है। पात्रों के चारित्रिक विकास और घटनाओं के क्रमिक प्रवाह के लिए भी कहानी की यह प्रणाली सहायक हो सकती है।

(४) पत्रात्मक-प्रणाली में सम्पूर्ण कथा का विकास पत्रों के उत्तर-प्रत्युत्तर द्वारा होता है। कहानी में इस प्रणाली द्वारा तभी सफलता हो सकती है जब कि लेखक पत्रों में किसी भी अनर्गल या व्यर्थ अंश का समावेश न होने दे। पत्रात्मक-प्रणाली में पात्रों के चारित्रिक विकास की गुञ्जाइश कम ही होती है।

कहानी कहने की इन मुख्य प्रणालियों के अतिरिक्त अन्योक्ति, समाचार-पत्र या स्वप्न द्वारा भी कथा कही जा सकती है।

६. कहानी और उपन्यास

कहानी के तत्त्वों का विवेचन ऊपर विस्तार पूर्वक किया जा चुका है, उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि कहानी और उपन्यास में समान तत्त्व कार्य कर रहे हैं, उनके मूल में ऐक्य है। किन्तु इस ऐक्य के होते हुए भी दोनों के मूल में या उद्देश्य में भेद भी अवश्य है, जो कि दोनों को एक दूसरे से पृथक् किये हुए है। यह भेद इस प्रकार रखा जा सकता है—

(१) उपन्यास तथा कहानी का सबसे बड़ा अन्तर आकार का है। उपन्यास

में पात्रों का विस्तार होता है; घटनाओं, परिस्थितियों तथा देश, काल और वातावरण का अत्यन्त विशद विवेचन किया जाता है, किन्तु कहानी समस्त जीवन के किसी एक मुख्य अंग या बिन्दु को ही अपने सम्मुख रखती है। वस्तुतः अंग्रेजी में जो कहा जाता है कि कहानी जीवन के केवल एक भाग (Aspect) की झाँकी (Snap shot) मात्र है, वह सर्वथा उपयुक्त है। संक्षेप से कहानी और उपन्यास में यही अन्तर है कि उपन्यास यदि जीवन का पूर्ण चित्र है तो कहानी उसके एक अंग की झाँकी-मात्र है। किन्तु यह झाँकी अपने-आप में सर्वथा पूर्ण होती है।

(२) कहानी में उपन्यास की-सी अनेकरूपता नहीं होती। उसमें न तो प्रासंगिक कथाएँ होती हैं और न वातावरण और देश, काल की परिस्थितियों का विस्तार ही। उपन्यासों में जो जीवन के विभिन्न चित्र मिलते हैं और उनका जो विस्तार होता है वे अनेक आख्यायिकाओं में भी नहीं समा सकते। कहानी का क्षेत्र छोटा है, उसमें न तो पात्रों का वैसा चरित्र-चित्रण ही हो सकता है और न वैसी जीवन की विस्तृत व्याख्या ही हो सकती है, जैसी कि उपन्यास में। कहानी में उपन्यास की-सी जटिलता नहीं होती वह सरल होती है।

(३) कहानी-लेखक अपनी कहानियों में कथानक, चरित्र-चित्रण तथा शैली इत्यादि विभिन्न तत्त्वों में से किसी एक को ही मुख्यता प्रदान कर सकता है, सबको एक साथ नहीं। किन्तु उपन्यासकार अपनी कथावस्तु में सभी का समावेश कर सकता है।

(४) उपन्यास के पात्र कहानी के पात्रों की अपेक्षा अधिक सजीव होते हैं। इसका कारण यह भी है कि उपन्यासकार को उनके चरित्र-चित्रण का पर्याप्त समय प्राप्त हो जाता है, जो कि कहानीकार को उपलब्ध नहीं होता।

(५) कहानी का प्रभाव उसकी कथन-शैली पर निर्भर होता है। उसमें उपन्यास की अपेक्षा काव्यत्व की मात्रा अधिक रहती है।

इसी प्रकार कहानी अपनी प्रभावोत्पादकता, संक्षिप्तता, एकध्येयता तथा अनुभव की तीव्रता के कारण उपन्यास से सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता रखती है।

७. भारत का प्राचीन कहानी-साहित्य

भारत का प्राचीन साहित्य वैदिक साहित्य से प्रारम्भ होता है। अन्वेषकों का विचार है कि कहानी के प्रारम्भिक रूप का विकास वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। तदनन्तर उपनिषद्, पुराण, तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में कथा-साहित्य उत्तरोत्तर विक-

सित होता गया। उपनिषदों में दार्शनिक वाद-विवाद के समय आख्यानों का आश्रय लिया जाता था, पुराणों में उर्वशी, मय तथा पुरुरवा इत्यादि के उपाख्यान प्राप्य हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में दृष्टान्तों और उदाहरणों के अतिरिक्त प्राचीन राजाओं की कथाएँ उपलब्ध होती हैं।

बौद्ध-युग में लिखी गई जातक-कथाएँ अपनी रोचकता और शालीनता के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। विचारों और आदर्शों की दृष्टि से इनमें से बहुत-सी कथाएँ आज भी विश्व-साहित्य में बेजोड़ हैं। इन कहानियों का विदेशी भाषाओं में भी अनुवाद हुआ है। 'ईसप की कहानियाँ' (Aescp's fables) और 'सिन्दबाद सेलर (Sindabad Sailor) की कथाएँ जातक-कथाओं पर ही आधारित हैं।

संस्कृत-कथा-साहित्य में 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश' की कहानियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। इनमें पशु-पक्षियों को भी पात्र के रूप में ग्रहण किया गया है और उनके द्वारा ही अनेक उपदेश-परक व्यावहारिक नीति से युक्त कहानियाँ कही गई हैं। इन ग्रन्थों का भी सैंकड़ों विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है।

पैशाची में लिखी गई गुणाढ्य की 'बुड्ढकहा' (वृहत्कथा) भारतीय-कथा-साहित्य में अमूल्य ग्रन्थ है। यद्यपि यह अभी तक अप्राप्य है किन्तु इसकी कथाएँ भारतीय भाषाओं में परम्परा से चली आ रही हैं। सोमदेव-लिखित 'कथा-सरित्सागर' ईसा की दसवीं शताब्दी में लिखा गया था।

प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। कहानी के विविध रूप लौकिक कथाएँ (Folk tales), रोमांटिक कथाएँ (Romantic stories) तथा अलौकिक कथाएँ (Supernatural tales) भारतीय कथाओं में प्राप्य हैं।

८. हिन्दी-कहानी का विकास

हिन्दी-कहानी प्राचीन भारतीय परम्परा के अन्तर्गत होती हुई भी आधुनिक पाश्चात्य कहानी के आधार पर ही अधिष्ठित है। रचना की दृष्टि से प्राचीन कहानी और आधुनिक कहानी में पर्याप्त अन्तर है। प्राचीन आख्यान, उपाख्यान, दृष्टान्त और उदाहरण इत्यादि आधुनिक कहानियों से संगठन और स्वरूप में काफी भिन्न हैं। आख्यानों में तो अनेक उपकथाएँ चलती रहती हैं, हाँ, दृष्टान्त का स्वरूप आधुनिक कहानी के अधिक निकट है।

प्राचीन कहानियों के आलम्बन लोकनायक होते थे, किन्तु उनमें व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव रहता था। पात्रों का विस्तृत परिचय भी नहीं प्राप्त होता था।

साहित्यिक कथाओं की शैली समास, अनुप्रास और रूपक इत्यादि अलंकारों से बोझल होती थी। उनमें व्यर्थ की ऊहापोह को अधिक महत्त्व दिया जाता था। किन्तु 'पंचतन्त्र' तथा 'हितोपदेश' इत्यादि की कथाएँ पर्याप्त सरल भाषा में लिखी गई हैं।

आधुनिक कहानी में सरलता अधिक होती है और उसमें भावों के विश्लेषण, मानसिक संघर्ष और चरित्र-चित्रण पर अधिक बल दिया जाता है। प्राचीन कहानी में चमत्कार, विवरण और अलंकार-प्रियता की प्रवृत्ति अधिक होती थी। कौतूहल तथा औत्सुक्य को बनाए रखने के लिए मानवेतर उपकरणों का आश्रय ग्रहण किया जाता था जिसका कि आधुनिक कहानी में अभाव होता है। आधुनिक कथाओं में बौद्धिकता की प्रधानता होती है, उनमें राजा-रानियों की कथा नहीं होती, अपितु जनसाधारण का ही वर्णन रहता है।

हिन्दी-कहानी आधुनिक युग की देन है, उसका विकास अंग्रेजी ढंग की छोटी कहानी के अनुकरण पर ही हुआ है। आधुनिक ढंग की कहानी के विकास से पूर्व सैयद इन्शाअल्ला खाँ (रानी केतकी की कहानी) तथा राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द (राजा भोज का सपना) कथाएँ लिख चुके थे। भारतेन्दु बाबू के प्रादुर्भाव के साथ हिन्दी के कथा-साहित्य का समुचित विकास प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु काल के सुप्रसिद्ध कहानी-लेखकों में किशोरीलाल गोस्वामी, गिरिजाकुमार घोष इत्यादि मुख्य हैं। ये कहानियाँ मौलिक कम और अनूदित अधिक होती थीं। इधर 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल और पं० गिरिजादत्त वाजपेयी ने कहानियाँ लिखनी प्रारम्भ कीं। किन्तु भाषा के अत्यधिक भारी भरकम होने के कारण उनकी कहानियाँ लोकप्रिय न हो सकीं। 'इन्दु' पत्रिका के प्रकाशन के साथ प्रसादजी ने कथा-साहित्य में प्रवेश किया। 'ग्राम' प्रसाद जी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी है। प्रसादजी के आगमन के साथ ही हिन्दी-कथा-साहित्य में द्वितीय उत्थान का प्रारम्भ होता है। 'इन्दु' में ही श्री जी० पी० श्रीवास्तव, राधिकारमणप्रसादसिंह तथा विश्वम्भरनाथ जिज्जा ने कहानियाँ लिखनी प्रारम्भ कीं। इनके कुछ समय पश्चात् ही सर्वश्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, और मुन्शी प्रेमचन्द ने कहानियाँ लिखना प्रारम्भ किया। गुलेरी जी जासूसी उपन्यास लिखने में तो ख्याति प्राप्त कर ही चुके थे, इधर उन्होंने कहानी-क्षेत्र में भी पर्याप्त सफलता प्राप्त की। उग्र, चतुरसेन शास्त्री, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' भी इसी समय के प्रसिद्ध लेखक हैं। प्रेमचन्दजी के अनन्तर सर्वश्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, राहुल, इलाचन्द्र जोशी, रायकृष्णदास, जैनेन्द्र, अज्ञेय, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', यशपाल, पहाड़ी, विनोदशंकर व्यास,

भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, विष्णु प्रभाकर, रामचन्द्र तिवारी, हंसराज 'रहबर' तथा अमृतराय इत्यादि ने इस क्षेत्र में विशेष ख्याति प्राप्त की।

कहानी के क्षेत्र में हमारे देश की अन्य गति-विधियों के समान सुभद्राकुमारी चौहान, होमवती, कमला चौधरी, उषादेवी मित्रा सत्यवती मल्लिक, चन्द्रवती ऋषभसेन जैन, कृष्णा सोबती, विपुला देवी, सत्यवती शर्मा, रामेश्वरी शर्मा, रजनी पनीकर तथा चन्द्रकिरण सौनरेक्सा वती आदि महिला-कहानी-लेखिकाओं ने भी कहानी-साहित्य की अभिवृद्धि में विशेष योग-दान दिया।

६. हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध कहानी-लेखक : समीक्षा

पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने यद्यपि कुल मिलाकर तीन कहानियाँ ही लिखी हैं, किन्तु वे अपनी मार्मिक शैली, अनूठी सूझ और स्वाभाविकता की दृष्टि से हिन्दी-कथा-साहित्य में बेजोड़ हैं। 'उसने कहा था' नाम की गुलेरी जी की कहानी हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से एक समझी जाती है। गुलेरीजी का दृष्टि-कोण यथार्थवादी था। उनकी कहानियाँ भाषा, विधान, कथानक और अभि-व्यक्ति की दृष्टि से पूर्ण मानी जाती हैं।

जयशंकर 'प्रसाद' हिन्दी में भावमूलक कहानियाँ लिखने में सर्वप्रमुख हैं। वस्तुतः वे इस स्कूल के प्रवर्त्तक कहे जा सकते हैं। यद्यपि प्रसाद जी ने धार्मिक, सामाजिक, इतिहासिक और राजनीतिक सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं, किन्तु उनमें कथा-तत्त्व की अपेक्षा कवित्व की ही प्रधानता रही है। घटना तथा कथानक के अभाव में कई कहानियाँ गद्य-गीत के सदृश बन गई हैं। कल्पना की उड़ान, कवित्वमय भाषा तथा स्वगत-भाषणों की अधिकता प्राचीन कथा-साहित्य में तो ऊँच सकती थी, आधुनिक कथा-साहित्य में नहीं। भाषा भी संस्कृत-मिश्रित और भावपूर्ण होने के फलस्वरूप साधारण पाठक के लिए बोझल हो गई है। उनके पात्र भी प्रायः गम्भीर और दार्शनिक हैं। किन्तु अनेक स्थलों पर प्रसाद जी कथाओं में सूक्ष्म मनोविश्लेषण और मानसिक संघर्ष-चित्रण भी अत्यन्त कुशलता पूर्वक कर गए हैं। प्राचीन भारतीय आदर्शों के प्रति उन्हें बहुत श्रद्धा थी, नाटकों की भाँति कहानियों में भी यह श्रद्धा-भावना अनेक स्थलों पर व्यक्त हुई है। प्रसाद जी की कथाओं के कथोपकथन बहुत सजीव होते हैं। किन्तु जहाँ कहीं कवित्व का आधिक्य है, वहाँ अवश्य शिथिलता आ गई है। वस्तुतः प्रसादजी की कहानियों का विश्लेषण करते हुए हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रसादजी सर्वप्रथम कवि थे, और फिर गल्पकार। 'ममता', 'गुण्डा' 'विसाती', तथा 'समुद्र-संतरण' आदि प्रसादजी की अनेक कहानियाँ उत्कृष्ट और हृदय-ग्राही हैं।

पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक समाज के विभिन्न स्तरों से सम्बन्धित कहानियों को लिखते रहे हैं। किन्तु शहरी जीवन के मार्मिक चित्र प्रस्तुत करने में वे विशेष कुशल थे। यद्यपि प्रसाद और प्रेमचन्द की अपेक्षा कौशिक जी का क्षेत्र सीमित है, तथापि अपने सीमित क्षेत्र में भी उन्हें अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। कौशिक जी की कहानियाँ वार्तालाप-प्रधान हैं। पात्रों के सामाजिक स्तर और उनकी मानसिक प्रवृत्तियों के अनुकूल कथोपकथन प्रस्तुत करने में कौशक जी की अद्भुत क्षमता थी।

सुदर्शन जी का पाश्चात्य कथा-साहित्य का विस्तृत अध्ययन है। उनकी शैली परिमार्जित और सुष्टु है। उन्होंने अपने कथानकों का चुनाव सामाजिक, राजनीतिक और इतिहासिक सभी क्षेत्रों से किया है। चरित्र-चित्रण सुदर्शन जी की कहानियों की प्रमुख विशेषता है। भाषा उनकी चलती हुई, मुहावरेदार और माधुर्यपूर्ण है।

मुन्शी प्रेमचन्द हिन्दी-कथा-साहित्य में नवीन शैली के जन्मदाता हैं। कहानी को जीवन की वास्तविक भूमि पर लाने का श्रेय उन्हीं को है। महलों के के बनावटी सौन्दर्य को छोड़कर उन्होंने झोंपड़ियों में सौन्दर्य को खोजा, और अपनी कहानियों में हमारे समाज के वास्तविक चित्र को प्रस्तुत किया। प्रेमचन्द की कहानियों की सर्वप्रमुख कलात्मक विशेषता चरित्र-चित्रण की सजीवता है। उनके पात्रों में आत्मिक सौन्दर्य, भाव-व्यंजकता और सजीवता है। वे अलौकिक या असाधारण जीव नहीं। उनका कार्य-व्यापार अनुभूतियाँ और भावनाएँ रक्त मांस से निर्मित जन-साधारण की भांति हैं! चरित्र-चित्रण में उन्होंने शब्द-चित्रों से विशेष सहायता ली है। कहानी में स्थान और समय की कमी होती है, अतः थोड़े से शब्दों में सजीव चित्र प्रस्तुत करने में ही लेखक की कुशलता समझी जाती है। प्रेमचन्द जी ने अपने इस कौशल का बहुत सुन्दर परिचय दिया है। कहीं-कहीं शब्द चित्र उत्कृष्ट हास्य और व्यंग्य के उदाहरण बन गए हैं। मानसिक घात-प्रतिघात का बहुत सूक्ष्म और मनोविज्ञानिक चित्रण उन्होंने अपनी कहानियों में किया है। वार्तालाप चारित्रिक विशेषताओं के प्रदर्शन का उत्कृष्ट साधन है, पात्रों की मानसिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होती हुई भाषा में बातचीत द्वारा पात्रों के चरित्र की विशेषताएँ दिखलाने में प्रेमचन्द जी ने कमाल कर दिया है। उनका कथोपकथन बहुत सजीव और नाटकीय है।

ग्रामीण जीवन के सहज दृश्य उपस्थित करने में वे सिद्ध हस्त थे। मानव-मनोवृत्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण की दृष्टि से 'बड़े घर की बेटी' और 'पंच

परमेश्वर' बहुत ही सुन्दर कहानियाँ हैं। 'शतरंज के खिलाड़ी' में हास्य और व्यंग्य का मिश्रण है। प्रेमचन्द जी की सफलता का एक बहुत बड़ा रहस्य उनकी भाषा है। सरल, मुहावरेदार तथा ग्रामीण लोकोक्तियों से युक्त उनकी भाषा का निर्माण ग्राम्य-जीवन की पृष्ठभूमि पर हुआ है। वह जनता के अधिक निकट है, वस्तुतः जनता की ही भाषा है। प्रेमचन्द जी आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कलाकार हैं। यथार्थ का चित्रण करते हुए भी उन्होंने आदर्श द्वारा समस्याओं का सुलझाव प्रस्तुत किया है। उपन्यासों की भांति कहानियों में भी मुन्शी जी अनेक स्थानों पर कलाकार की अपेक्षा उपदेशक अधिक बन गए हैं। फलतः वहाँ कलात्मकता की कमी हो गई है, और उपदेश तथा प्रचार की मात्रा बढ़ गई है। ऐसी कहानियाँ कृत्रिम और अस्वाभाविक हैं। फिर भी मुन्शी जी निःसन्देह हिन्दी के श्रेष्ठ कलाकार हैं।

जैनेन्द्रकुमार हिन्दी के वर्तमान कहानी लेखकों में प्रमुख हैं। 'खेल' और 'फाँसी' आपकी पुरानी कहानियाँ हैं। इन कहानियों ने पाठकों के सभी वर्गों को समान रूप से प्रभावित किया था। भाषा, कहानी कहने की शैली और टेकनीक सर्वथा आपकी अपनी है। उसमें नवीनता और सजीवता है। आपकी कहानियों का कथानक बहुत सीधा और सुलझा हुआ होता है। जीवन के उलझे हुए ताने-बाने में आप अपने-आपको नहीं उलझाते। आपकी कहानियों में पात्र भी कम रहते हैं। केवल-मात्र जीवन की एक झाँकी प्रस्तुत करके आप अपने गम्भीर भावों की अभिव्यक्ति कर देते हैं। चरित्र-चित्रण में आपको विशेष सफलता मिली है। आपके पात्रों के प्रति पाठकों की सहानुभूति बरबस खिंच जाती है। हाल ही में लिखी गई आपकी कहानियों में दार्शनिकता अधिक और कथा-तत्त्व की कमी है। इस कारण वह कहानी कम और निबन्ध अधिक होगई हैं। मनोविज्ञानिक कहानियाँ भी आपने लिखी हैं।

अज्ञेय वस्तुतः आज के श्रेष्ठ प्रतिभा-सम्पन्न कथाकार हैं। आपकी कला में बल और शक्तिमत्ता है। अज्ञेय का हृदय विद्रोह की ज्वाला से पूर्ण है। इसी कारण आपकी कहानियों में विप्लव की भावना की अधिकता है। आपकी अधिकांश कहानियाँ नवीनतम पाश्चात्य शैली पर आधारित हैं। मानव-मन की आन्तरिक प्रवृत्तियों का जैसा सूक्ष्म और विशद चित्रण अज्ञेय की कहानियों में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। 'कड़ियाँ' तथा 'प्रतिध्वनि' नामक कथाओं में अपने मानव-मन में निरन्तर बनते-बिगड़ते रहने वाले और परस्पर असम्बन्धित भाव-चित्रों का बहुत सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। चल-चित्र की भांति प्रत्येक भाव-चित्र हमारे सम्मुख साकार हो उठता है। अज्ञेय की अनुभूति और

कल्पना बहुत समृद्ध है। उनमें भावुकता की भी कमी नहीं, किन्तु बौद्धिकता के कारण, उनकी कथाएँ सन्तुलित होती हैं। इसी कारण अज्ञेय की कथाओं में जहाँ विद्रोह, असन्तोष और उग्रता विद्यमान है, वहाँ कोमलता और स्निग्धता की भी कमी नहीं।

भगवतीचरण वर्मा की कहानियों में आधुनिक युग की संघर्ष-भावना, हलचल और अशान्ति प्रतिबिम्बित है। सामाजिक बन्धनों और रूढ़ियों के प्रति वर्मा जी में तीव्र असन्तोष और विद्रोह की भावना है। किन्तु मानवतावाद का स्वर उनकी कहानियों में बराबर गुञ्जरित होता रहता है। वर्तमान शहरी जीवन के खोखलेपन और पतनोन्मुख मध्यवर्गीय सभ्यता का वर्मा जी ने बहुत मीठी चुटकियाँ लेते हुए वर्णन किया है। मानव-जीवन की गम्भीर समस्याएँ भी आपकी लेखनी से अछूती नहीं रही। कभी-कभी कहानी का कथानक काफी उलझा हुआ होता है, और कभी एक ही प्रकार का प्लाट कई कहानियों में घूम जाता है। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना में वर्मा जी विशेष रुचि लेते हैं।

पन्त जी की कहानियों में कल्पना की कोमलता और भावुकता होती है। सियारामशरण गुप्त की कहानियों में अनुभूति की तीव्रता और भाव-व्यंजना की प्रधानता है। इलाचन्द्र जोशी अपनी कहानियों को कलात्मक बनाने पर अधिक ध्यान देते हैं। जीवन के कुत्सित पक्ष के चित्रण में उन्हें विशेष रुचि है। राहुल सांकृत्यायन ने इतिहासिक कहानियों में विशेष ख्याति प्राप्त की है। उनकी कहानियों में कहीं-कहीं शुष्कता के दर्शन हो जाते हैं, किन्तु इतिहास के धुँधले अतीत तक पहुँचने के लिए दृष्टि की तीव्रता जैसी उनमें है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। श्री चतुरसेन शास्त्री ने भी इतिहासिक कहानियाँ लिखी हैं। शास्त्रीजी की भाषा में ओज और उत्साह है, उनके कथानकों का संगठन बहुत अच्छा होता है। वार्तालाप बहुत सजीव और समयानुकूल होते हैं।

हास्य-रस के कहानी-लेखकों में जी० पी० श्रीवास्तव प्रमुख हैं। किन्तु कलात्मक दृष्टि से श्रीवास्तव जी की कहानियाँ उत्कृष्ट नहीं कही जा सकती। उनमें शिष्टता और संयम की कमी होती है। श्री अन्नपूर्णानन्द, हरिशंकर शर्मा कृष्णदेव-प्रसाद गौड़ 'बेढ़ब' भारतीय, शिक्षार्थी और जयनाथ 'नलिन' ने व्यंग्य और हास्य से मिश्रित बहुत सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। सर्वश्री अन्नपूर्णानन्द, हरिशंकर शर्मा तथा जयनाथ 'नलिन' का हास्य पर्याप्त शिष्ट और साहित्यिक होता है। 'निराला' जी ने भी कुछ व्यंग्य-प्रधान कहानियाँ लिखी हैं।

१०. पाश्चात्य कथा-साहित्य

पाश्चात्य सभ्यता का विकास मिस्र और ग्रीस में हुआ है। अतः पाश्चात्य कथा-साहित्य का पूर्व रूप भी इन्हीं देशों में उपलब्ध होता है। ईसा से ४,००० वर्ष पूर्व मिस्र में 'खफरी की कहानी' नामक एक अत्यन्त मनोरंजक कथा लिखी गई थी। फारस तथा अरब में जातक-कथाओं के आधार पर ओडेसियस और सिन्दबाद सेलर की कथाएँ लिखी गईं। ये कहानियाँ बहुत रोचक हैं, इनमें नाविकों के साहसपूर्ण कृत्यों का उल्लेख है। ग्रीक और लेटिन कथा-साहित्य भी पर्याप्त समृद्ध है। ईसप, हेरोडोटस, थियोक्राइट्स, लूसियन, हेलिओडरस इत्यादि विद्वानों ने पाश्चात्य कथा-साहित्य की श्री-वृद्धि की है। प्राचीन कथा-साहित्य में नाविकों की रोमांचकारी समुद्र-यात्राओं, कल्पित और वास्तविक युद्धों और साहसपूर्ण कृत्यों का उल्लेख रहता था। इनमें वर्णन की प्रधानता होती थी और अमानवीय तथा अलौकिक तत्त्वों को प्रमुखता प्रदान की जाती थी। ये कथाएँ वीर सामन्तों, शासकों तथा राजाओं से सम्बन्धित होती हैं।

नवीन प्रणाली का श्रीगणेश इटली में बोकेशियो (Boecacio) ने किया था। बोकैशियो के डिकेमारन (Decameran) नामक ग्रन्थ का प्रभाव कहानी-क्षेत्र में क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ। बोकेशियो ने एक बहुत मार्मिक प्रेम-कहानी लिखी है, इसमें पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व के प्रदर्शन के साथ उनकी सामाजिक परिस्थिति का भी बहुत हृदय-ग्राही वर्णन किया है। इन कहानियों की शैली जीवन-चरित्र की-सी होती थीं, और इनका आकार छोटे उपन्यासों के समान था। इस इटैलियन कथाकार की कहानियों का जब फ्रेंच आदि यूरोप की अन्य भाषाओं में अनुवाद हुआ तो उसका उन पर बहुत प्रभाव पड़ा। इंगलैंड में लैटिन और इटैलियन कथाओं का अनुवाद हुआ, किन्तु वहाँ मौलिक कथा-साहित्य का विकास बहुत देर तक रुका रहा। १७वीं शताब्दी में स्पेनिश कथा-साहित्य की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'डान कि जोरी' की रचना हुई, इसका सम्पूर्ण यूरोपीय कथा-साहित्य पर बहुत प्रभाव पड़ा।

औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के अनन्तर सम्पूर्ण यूरोपीय कथा-साहित्य का विकास अप्रतिहत गति से प्रारम्भ हुआ।

फ्रेंच-कथाकारों ने आधुनिक कहानी के रूप-निर्माण में सर्वाधिक सहयोग दिया है। नाटक की भाँति कहानी में भी वस्तु, स्थान तथा काल (Three unities) की एकता के अपनाए जाने पर फ्रेंच-कथाकारों ने विशेष बल दिया। फ्रेंच-कथा-साहित्य में एक ही भाव, एक ही समय और एक ही पात्र के निरूपण का विशेष प्रयत्न किया गया है। किन्तु इस प्रयत्न में वे अधिक सफल नहीं हो

पाए। फ्रेंच-कथा-साहित्य में नाटकीय तत्त्वों (Dramatic elements) की अधिकता है, फलस्वरूप नाटकों की भाँति उनमें प्रभावोत्पादन की अद्भुत शक्ति है। वाल्टेयर और ड्यूमा की कहानियों में रोमान्स का आधिक्य है। जोला और मोपांसा का दृष्टिकोण यथार्थवादी था। किन्तु फ्रेंच-समाज, सुसभ्य, सुसंस्कृत तथा कला की दृष्टि से बहुत उन्नत था, अतः इन कहानीकारों की कहानियाँ हमारे सामने एक समृद्ध और सुखी समाज के चित्रों को प्रस्तुत करती हैं। कला की दृष्टि से बालजाक की और संगठन की दृष्टि से मोपांसा की कहानियाँ आज भी बेजोड़ समझी जाती हैं।

रूसी कथा-साहित्य विश्व में सर्वोत्कृष्ट समझा जाता है। यद्यपि रूसी कथा-साहित्य का विकास फ्रेंच-कथा-साहित्य के पश्चात् प्रारम्भ हुआ है, किन्तु उसके विकास की गति इतनी तीव्र और प्रचण्ड थी कि थोड़े ही समय में वह सम्पूर्ण विश्व के कथा-साहित्य को पीछे छोड़ गया। रूसी कथा-साहित्य में दुःखान्त और जीवन के मार्मिक दृश्यों की ही अधिकता है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि रूस में जार का निरंकुश अधिनायक-तन्त्र चल रहा था, जनता पीड़ित, शोषित और त्रसित थी। सांसारिक सुख-सुविधाएँ तो दूर वहाँ के जन-साधारण का जीवन प्रत्येक समय असुरक्षित था। अतः वहाँ के साहित्य में जहाँ एक ओर निराशा की विचार-धारा चल रही थी, वहाँ दूसरी ओर क्रान्ति और सुधारवादी विचारों का प्रचलन भी पर्याप्त था। टाल्स्टाय और गोर्की की कहानियों में क्रमशः सुधार और क्रान्तिकारी भावना काम कर रही थी। उसमें रूस के किसान और मजदूर वर्ग का बहुत सजीव और मार्मिक चित्रण किया गया है। तुर्गनेव और चेखफ की कहानियाँ कला की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट हैं।

कहानी को आधुनिकतम रूप प्रदान करने वालों में अमरीकन गल्पकार एडगर एलन पो सर्वप्रमुख हैं। उनसे पूर्व कहानी का कथानक ढीला और असंगत होता था, किन्तु अमरीकन लेखकों ने कहानी का पूर्ण कलात्मक विकास किया। पो के अतिरिक्त अमरीकन लेखकों में हार्थने और ब्रेटहार्टन कहानी-कला के संसार-प्रसिद्ध आविष्कारक स्वीकार किये जाते हैं।

कथा-साहित्य की दृष्टि से इंगलैंड यूरोप में अग्रणी नहीं। तुर्गनेव, टाल्स्टाय या मोपांसा-जैसा कलाकार इंगलैंड में कोई नहीं; तथापि वहाँ कथा-साहित्य का सर्वथा अभाव नहीं। मेरेथिड (Merethid), हार्डी (Hardy) और स्टीवेन्सन (Stevenson) आदि अच्छे कहानी-लेखक हैं।

छोटी कहानी का कलात्मक विकास पश्चिम में ही हुआ है।

पाँच नाटक

१. व्युत्पत्ति और परिभाषा

हम पीछे कविता के प्रकरण में बतला चुके हैं कि प्राचीन भारतीय आचार्यों ने काव्य के विषय या रचना-पद्धति की दृष्टि से श्रव्य और दृश्य काव्य के रूप में दो प्रमुख भेद किये हैं। श्रव्य काव्य के विभिन्न रूपों का वर्णन पीछे किया जा चुका है, यहाँ हम दृश्य काव्य का विवेचन करेंगे। यद्यपि दृश्य काव्य का सम्बन्ध कानों से भी है तथापि उसकी सार्थकता दृश्यों को देख सकने वाली चक्षुरिन्द्रिय पर ही निर्भर है। इसी कारण इसे यह नाम दिया गया है।

दृश्य काव्य को नाटक कहा जाता है। नाटक वस्तुतः रूपक के अनेक भेदों में से एक प्रमुख भेद है। किन्तु आज वह रूपक शब्द के लिए ही रूढ़ हो चुका है। रूपारोपात्तुरूपकम्—एक व्यक्ति का दूसरे पर आरोप करने को रूपक कहते हैं। नट पर जब अन्य पात्रों का आरोप किया जाता है तो रूपक बनता है।

नाटक शब्द की व्युत्पत्ति 'नट' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है सात्विक भावों का प्रदर्शन। दूसरे अर्थ में नाटक का सम्बन्ध नट (अभिनेता) से होता है, और उसकी विभिन्न अवस्थाओं की अनुकृति को ही नाट्य कहते हैं।[१] इस प्रकार नट (अभिनेता) से सम्बन्धित होने के कारण नाटक नाटक कहलाता है।

२. नाटक का शेष साहित्य से सम्बन्ध

साहित्य के विभिन्न अंगों से नाटक का क्या सम्बन्ध है ? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने से पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिए कि नाटक में गद्य और पद्य का मिश्रण रहता है, और इसी कारण काव्य-शास्त्रकारों ने नाटक को चम्पू कहा है। इस अवस्था में नाटक आलोचना तथा निबन्ध आदि गद्य

१. 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'

के विभिन्न रूपों से भिन्न है। हाँ, नाटक का सम्बन्ध कथात्मक साहित्य से अवश्य है। कथात्मक साहित्य में उपन्यास तथा कहानी को ग्रहण किया जाता है, नाटकीय कथावस्तु और उपन्यास की कथावस्तु के तत्वों में पर्याप्त समानता होती है। किन्तु नाटककार को रंगमंच के प्रतिबन्धों का विचार रखते हुए एक निश्चित सीमा के अन्तर्गत अपनी कथा का विस्तार करना होता है, जबकि उपन्यासकार इस विषय में सर्वथा स्वतन्त्र होता है। नाटककार अपने पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं की व्याख्या स्वयं नहीं कर सकता, किन्तु उपन्यासकार पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं। नाटक में अभिनय, सजीवता और प्रत्यक्षानुभव का समावेश हो जाता है, जिसके फलस्वरूप उसमें उपन्यास की अपेक्षा प्रभावोत्पादन की शक्ति अधिक होती है। नाटक तथा उपन्यास के मूल तत्त्व एक अवश्य हैं, किन्तु नाटककार और उपन्यासकार की परिस्थितियाँ भिन्न हैं, और इसी कारण दोनों में पर्याप्त अन्तर है।

३. नाटक का महत्त्व

नाटक हमारे यथार्थ जीवन के अधिक निकट है, उसका मानव-जीवन और समाज से बहुत निकट और घनिष्ठ सम्बन्ध है। कविता, उपन्यास तथा कहानी इत्यादि पाठक के सम्मुख कल्पना द्वारा समाज के चित्र को प्रस्तुत करते हैं, किन्तु नाटक शब्द, पात्रों की वेश-भूषा, उनकी आकृति, भाव-भंगी, क्रियाओं के अनुकरण और भावों के अभिनय तथा प्रदर्शन द्वारा दर्शक को समाज के यथार्थ जीवन के निकट ला देते हैं। श्रव्य या पाठ्य काव्य का समाज से सीधा सम्बन्ध नहीं, उसमें केवल शब्दों द्वारा, तथा भावनात्मक चित्रों द्वारा कल्पना के योग से मानसिक चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं। उसमें कल्पना पर अधिक बल नहीं दिया जाता, रंगमंच की सहायता से समाज के वास्तविक उपादानों को एकत्रित कर दिया जाता है। इसी कारण नाटक में प्रभावोत्पादन की शक्ति भी अधिक होती है। अप्रत्यक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष में प्रभावोत्पादन की शक्ति का आधिक्य स्वाभाविक ही है। नाटक के अभिनय में जितनी अधिक वास्तविकता होगी, उतना ही वह सफल समझा जायगा।

नाटक तथा समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसी कारण नाटक को समाज के अधिक निकट आना पड़ता है। समाज के शिक्षित और अशिक्षित दोनों वर्ग ही नाटक द्वारा मनोरंजन प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि शिक्षित वर्ग के लिए तो वह बुद्धिगम्य होता ही है, अभिनीत होने पर नाटक प्रत्यक्ष और मूर्त हो जाता है, उस अवस्था में वह अशिक्षित वर्ग के लिए भी बुद्धिगम्य हो जाता है।

कलात्मक दृष्टि से भी नाटक साहित्य के विभिन्न रूपों से श्रेष्ठ समझा जाता है। क्योंकि नाटक सर्व-कला-समन्वित होता है, अतः उसमें वास्तु-कला, संगीत-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला तथा काव्य-कला सभी का समावेश हो जाता है। वस्तु-कला मूर्ति-कला और चित्र-कला रंगमंच से सम्बन्धित होती हैं, और संगीत तथा काव्य-कला का सम्बन्ध पात्रों से रहता है। वस्तुतः भरत मुनि का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है :

न सयोगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।
सर्व शास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च॥

अर्थात् न ऐसा योग है न कर्म, न शास्त्र न शिल्प, अथवा अन्य कोई ऐसा कार्य जिसका नाटक में उपयोग न हो।

इस प्रकार नाटक सभी कलाओं से युक्त होकर समाज के सभी वर्गों के लिए समान रूप से उपलब्ध हो सकता है। इस श्रेष्ठता के कारण ही तो कहा गया है : **काव्येषु नाटकं रम्यम्।**

४. नाटक के तत्त्व

भारतीय आचार्यों ने नाटक के तीन प्रमुख तत्त्व माने हैं—(१) वस्तु, (२) नायक और (३) रस। पाश्चात्य आचार्यों के मतानुसार इन तत्त्वों की संख्या ६ तक पहुँचती है। वे इस प्रकार हैं—(१) कथावस्तु, (२) पात्र, (३) कथोपकथन (४) देश-काल, (५) उद्देश्य तथा (६) शैली। यद्यपि पाश्चात्य आचार्यों द्वारा वर्णित इन विभिन्न तत्त्वों का उपर्युक्त तीन तत्त्वों में ही समावेश हो सकता है, तथापि विस्तृत और युक्ति-संगत विवेचन के लिए हम पाश्चात्य आचार्यों द्वारा वर्णित तत्त्वों का ही आधार लेंगे।

(१) कथावस्तु (Plot)

दृश्य-काव्य के कथानक या कहानी को कथावस्तु कहा जाता है। कथा-वस्तु उपन्यास तथा कहानी का भी एक आवश्यक तत्त्व है, किन्तु उपन्यास तथा नाटक की कथा वस्तु के आकार-प्रकार में बहुत अन्तर है। उपन्यासकार अपनी कथावस्तु के विस्तार और निर्माण में स्वतन्त्र है, वह शताब्दियों की घटनाओं और अधिक-से-अधिक सामग्री को उसमें समाविष्ट कर सकता है। किन्तु नाटककार को एक निश्चित मर्यादा के भीतर चलना होता है, वह न तो कथावस्तु का अधिक विस्तार ही कर सकता है और न अनावश्यक सामग्री का ही समावेश कर सकता है। नाटक की कथा-वस्तु उपन्यास की भांति अधिक विस्तृत नहीं होनी चाहिए, वह तीन-चार घण्टों

में समाप्त हो जानी चाहिए। अतः कथावस्तु की विस्तृत सामग्री में से उसे आवश्यक तथ्यों का ही निर्वाचन करना होता है।

आधिकारिक और प्रासंगिक कथावस्तु के ये दो प्रमुख भेद माने गए हैं। आधिकारिक कथावस्तु का प्रधान या मूल अंग है और उसका कथावस्तु के मुख्य पात्रों से सम्बन्ध होता है, उसी के पात्र फल-प्राप्ति के अधिकारी होते हैं। प्रसंगवश आई हुई कथा को प्रासंगिक कहा जाता है, यह मुख्य कथा के विकास और सौन्दर्य-वर्द्धन में सहायक होती है। 'रामायण' में राम की कथा तथा सुग्रीव की कथा क्रमशः आधिकारिक और प्रासंगिक कहलाती हैं, क्योंकि सुग्रीव की कथा मूल कथा के विकास में जहाँ सहायक होती है, वहाँ वह नायक का हित-साधन भी करती है।

प्रासंगिक कथावस्तु दो प्रकार की होती है (१) पताका तथा (२) प्रकरी। जब प्रासंगिक कथा आधिकारिक कथा के साथ अन्त तक सम्बिन्धित रहती है तो उसे 'पताका' कहा जाता है और जब वह मध्य में समाप्त हो जाय तो वह 'प्रकरी' कहलाती है।

कथावस्तु के विकास में विभिन्न अवस्थाएँ सहायिका होती हैं, इन अवस्थाओं के विषय में पाश्चात्य तथा भारतीय आचार्यों के दृष्टिकोण में भेद है। पाश्चात्य आचार्यों के मतानुसार कथावस्तु की विभिन्न अवस्थाएँ इस प्रकार हैं :

(१) *प्रारम्भ* में कुछ संघर्षमयी घटना का प्रारम्भ होता है, यह संघर्ष या विरोध दो विभिन्न आदर्शों, उद्देश्यों, दलों, सिद्धान्तों इत्यादि किसी का हो सकता है। सामान्यतः दो व्यक्ति (प्रायः नायक और प्रतिनायक) इन विरोधी भावनाओं और आदर्शों के प्रतीक बन जाते हैं।

(२) *विकास* कथावस्तु की दूसरी अवस्था है, इसमें पारस्परिक विरोधी घटनाओं के घटित होने में वृद्धि होती है। पात्रों का अथवा आदर्शों का पारस्परिक संघर्ष एक निश्चित सीमा तक बढ़ जाता है।

(३) *चरम सीमा* कथावस्तु की ऐसी अवस्था है जहाँ पारस्परिक विरोधी दलों का अथवा आदर्शों का विरोध या संघर्ष अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, और वहाँ किसी एक पक्ष की विजय प्रारम्भ हो जाती है।

(४) *उतार* कथावस्तु की चौथी अवस्था है, जहाँ विजयी पक्ष की विजय निश्चित हो जाती है।

(५) *अन्त या समाप्ति* पाँचवीं अवस्था है, जहाँ आकर सम्पूर्ण संघर्ष का अन्त हो जाता है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने कथावस्तु की विभिन्न अवस्थाओं को इस क्रम से निश्चित किया है :

(१) प्रारम्भ, (२) प्रयत्न, (३) प्राप्त्याशा, (४) नियताप्ति तथा (५) फलागम।

(१) प्रारम्भ में कथानक का आरम्भ होता है व फल-प्राप्ति की इच्छा जाग्रत होती है। (२) दूसरी अवस्था में फल-प्राप्ति की इच्छा को पूर्ण करने के लिए प्रयत्न किया जाता है। (३) तीसरी अवस्था में फल-प्राप्ति की आशा उत्पन्न होती है। (५) चौथी अवस्था में यह आशा निश्चित रूप धारण कर लेती है। और (५) पाँचवीं अवस्था में फल की प्राप्ति हो जाती है।

ऊपर भारतीय और यूरोपीय दोनों ही दृष्टिकोण रख दिए गए हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं। अन्तर केवल संघर्ष के विषय में है। हमारे यहाँ संघर्ष को अधिक महत्ता प्रदान नहीं की गई, किन्तु पाश्चात्य आचार्य तो संघर्ष को नाटकों के प्राण के रूप में स्वीकार करते हैं। संघर्ष के बिना वहाँ नाटकीय कथावस्तु सर्वथा अनुपयुक्त और प्राण-हीन समझी जाती है। डॉक्टर श्यामसुन्दरदास का कथन है कि **पाश्चात्य विद्वानों ने विरोध या संघर्ष को प्रधानता देकर अपने-अपने विषय की सीमा बहुत संकुचित कर दी है, और हमारे यहाँ आचार्यों ने अपना क्षेत्र बहुत विस्तृत रखा है। हमारे विभाग और विवेचन के अन्तर्गत उनके विभाग और उनका विवेचन सहज में आ सकता है, पर उनके संकुचित विवेचन में हमारे विस्तृत विवेचन का स्थान नहीं है।**'[1]

किन्तु आज की परिस्थितियों में यह मत उपयुक्त नहीं समझा जाता। आज के नाटकों में यदि संघर्षमय वातावरण की कमी हो तो उसमें नाटकीयता का अभाव माना जाता है। संघर्ष के अभाव में नाटक के पात्र जीवन-रहित कठ-पुतलों के सदृश प्रतीत होते हैं, और कथावस्तु शुष्क एवं नीरस। प्राचीन भारतीय नाटकों में कवित्वपूर्ण वातावरण के साथ अध्यात्म-प्रधान आदर्शवाद का प्राधान्य रहता था। उनमें संघर्ष की उपेक्षा तो नहीं की गई, किन्तु उसे प्रमुखता भी प्रदान नहीं की गई। पर आज यह दृष्टिकोण बदल चुका है।

अर्थ प्रकृतियाँ—कथानक को मुख्य फल-प्राप्ति की ओर अग्रसर करने वाले

---

१. 'साहित्यालोचन' पृष्ठ १६२

चमत्कारपूर्ण अंश को अर्थ प्रकृति कहते हैं। अर्थ प्रकृतियाँ पाँच निश्चित की गई हैं। (१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य।

(१) बीज प्रधान फल के हेतुस्वरूप कथा का वह भाग है, जो क्रमशः विकास प्राप्त करता है। कथावस्तु का प्रारम्भिक अंश बीज रूप में स्थित रहता है, जो कि कार्य-शृङ्खला के साथ-साथ विकसित होता चलता है। बीज का सम्बन्ध आधिकारिक कथा से रहता है।

(२) बिन्दु निमित्त बनकर समाप्त होने वाली अवान्तर कथा को आगे बढ़ाती है और प्रधान कथा से उसका सम्बन्ध स्थापित करती है।

(३) पताका प्रासंगिक कथा का एक भेद है, जिसमें कि नायक अपना पृथक् महत्त्व नहीं रखता, वह अपने कार्यों द्वारा मूल कथा के विकास में सहायक सिद्ध होता है। पताका मूल कथा के साथ बराबर सम्बन्धित रहती है।

(४) प्रकरी भी प्रासंगिक कथा का ही एक भेद है जो कि मूल-कथा के सौन्दर्य-वर्द्धन में सहायक सिद्ध होती है। किन्तु यह थोड़े ही समय तक चलकर रुक जाती है, प्रधान कथा के साथ बराबर नहीं रहती।

(५) कार्य अन्तिम परिणाम या फल को कहते हैं, इसी फल-सिद्धि के लिए सम्पूर्ण प्रयत्न किये जाते हैं।

सन्धियाँ—अवस्थाओं और अर्थ प्रकृतियों में मेल कराने का कार्य सन्धियों द्वारा सम्पन्न होता है। ये विभिन्न सन्धियाँ विभिन्न अवस्थाओं की समाप्ति तक चलती हैं, और उनके अनुकूल अर्थ-प्रकृतियों से उनका मेल कराती हैं। ये संख्या में ५ हैं, इनके नाम इस प्रकार हैं :

(१) मुख सन्धि में प्रारम्भ नाम की परिस्थिति के साथ योग होने से अनेक अर्थों और रसों के व्यंजक बीज की उत्पत्ति होती है।

(२) प्रतिमुख सन्धि में बीज स्पष्ट रूप से अंकुरित होता हुआ दीख पड़ता है। इससे घटना-क्रम अग्रसर होता है।

(३) गर्भ सन्धि में अंकुरित बीज का विस्तार होता है। इस सन्धि में प्राप्त्याशा, अवस्था और पताका अर्थ प्रकृति रहती है।

(४) अवमर्श या विमर्श सन्धि में उपर्युक्त सन्धि की अपेक्षा बीज का अधिक विस्तार होता है, किन्तु इसमें फल-प्राप्ति में अनेक विघ्न भी उपस्थित हो जाते हैं। इसमें नियताप्ति अवस्था और प्रकरी अर्थ प्रकृति होती है।

(५) निर्वहण या उपसंहार सन्धि में मुख्य फल की प्राप्ति हो जाती है। और पूर्व कथित चारों सन्धियों में वर्णित प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है।

ऊपर हमने अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों और सन्धियों के पाँच-पाँच भेदों का विस्तार पूर्वक विवेचन कर दिया है। अर्थ प्रकृतियाँ वस्तु के तत्त्वों से, अवस्थाएँ कार्य-व्यापार से, और सन्धियाँ रूपक-रचना से सम्बन्धित हैं। इन तीनों के विभिन्न भेद विभिन्न विचारों से प्रयुक्त किये जाते हुए भी एक दूसरे के अनुकूल और सहायक हैं। इनका पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार रखा जा सकता है :

अर्थ प्रकृति	अवस्था	सन्धि
१. बीज	१. प्रारम्भ	१. मुख
२. बिन्दु	२. प्रयत्न	२. प्रतिमुख
३. पताका	३. प्राप्त्याशा	३. गर्भ
४. प्रकरी	४. नियताप्ति	४. विमर्श
५. कार्य	५. फलागम	५. निर्वहण या उपसंहार

आज के नाटकों की कथावस्तु में इन प्राचीन शास्त्रीय नियमों का पालन नहीं हो रहा। उनका विकास सर्वथा एक स्वतंत्र दिशा में हो रहा है। आज के नाटकों में प्रायः एक ही प्रधान कथा रहती है, प्रासंगिक कथा आवश्यक नहीं समझी जाती। आकार में भी आज के नाटक प्राचीन नाटकों से छोटे होते हैं, उनमें प्रायः तीन अंक रहते हैं, ऐसी दशा में कथावस्तु की विभिन्न अवस्थाओं का तो निर्वाह हो सकता है, किन्तु सम्पूर्ण सन्धियों और अर्थ प्रकृतियों का नहीं।

नाटक की कथावस्तु के दृश्य और सूच्य दो विभाग किये गए हैं। दृश्य कथावस्तु का वह भाग है जिसमें कि घटनाओं का अभिनय रंगमंच पर दिखलाया जाता है। दृश्य कथावस्तु में समाविष्ट घटनाओं के अतिरिक्त बहुत सी घटनाएँ ऐसी हैं जो कि रंगमंच पर अभिनीत रूप में तो नहीं दिखाई जा सकतीं, किन्तु कथावस्तु के तारतम्य को बनाये रखने के लिए उनकी सूचना अवश्य दी जाती है। अतः नाटकीय कथावस्तु के तारतम्य को बनाए रखने के लिए जिन महत्त्वपूर्ण घटनाओं की किसी-न-किसी रूप में सूचना दे दी जाती है, वह सूच्य कहलाती है।

अर्थोपेक्षक—सूच्य कथावस्तु की सूचना देने के जो साधन हैं, उनको अर्थोपेक्षक कहा जाता है। अर्थोपेक्षक संख्या में पाँच हैं:—

(१) *विष्कम्भक* में पहले ही अथवा बाद में घटित होने वाली घटना की सूचना-मात्र दी जाती है। इसमें केवल दो अप्रधान पात्रों का कथोपकथन होता ही रहता है। नाटक के प्रारम्भ में अथवा दो अंकों के मध्य में यह हो सकता है।

(२) चूलिका में कथा भाग की सूचना पर्दे के पीछे से दी जाती है। संस्कृत-नाटकों में चूलिका के लिए 'नेपथ्य' में ऐसा संकेत किया जाता है।

(३) अंकास्य में आगामी अंक की कथा का सार बाहर जानेवाले पात्रों द्वारा दे दिया जाता है। अभिनीत हुए-हुए अंक की अभिनीत होने वाले अंक के साथ इसके द्वारा संगति मिला दी जाती है।

(४) अंकावतार में पात्रों के परिवर्तित हुए बिना ही पहले अंक की कथा को आगे बढ़ाया जाता है। पहले अंक के पात्र बाहर जाकर लौट आते हैं, उनमें परिवर्तन नहीं होता।

(५) प्रवेशक में आगे आने वाली घटनाओं की सूचना दी जाती है। जहाँ विष्कम्भक नाटक के प्रारम्भ में आता है, वहाँ प्रवेशक दो अंकों के मध्य में ही आता है।

कथावस्तु के तीन भेद—कथावस्तु के तीन प्रमुख भेद किये गए हैं—(१) प्रख्यात, (२) उत्पाद्य और (३) मिश्र।[१]

इतिहासिक, पौराणिक तथा परम्परागत जनश्रुति के आधार पर आधारित कथावस्तु प्रख्यात कहलाती है, कल्पना के आधार पर आधारित कथावस्तु उत्पाद्य, और इतिहास तथा कल्पना से मिश्रित कथावस्तु मिश्र कही जाती है।[२]

किन्तु आधुनिक नाटकों की कथावस्तु का विभाजन सर्वथा उपर्युक्त आधार पर नहीं किया जाता। आज तो नाटकीय कथावस्तु में प्रतिपादित समस्याओं के आधार पर भी उनका विभाजन होता है। हाँ, कथावस्तु के इतिहासिक और पौराणिक विभाजन भी सर्वथा उपेक्षित नहीं। आज के नाटकों की कथावस्तु सामाजिक, राजनीतिक आदि समस्या-मूलक और इतिहासिक तथा पौराणिक आदि के रूप में विभाजित की जाती है।

हम ऊपर लिख आए हैं कि नाटककार को कथावस्तु में अनावश्यक और गौण तथ्यों तथा घटनाओं को समाविष्ट नहीं करना चाहिए। केवल माधुर्य तथा रसपूर्ण उदात्त, आवश्यक, महत्त्वपूर्ण और प्रभावशालिनी घटनाओं का वर्णन कथावस्तुओं में होना चाहिए।

(२) पात्र

नाटक में अनेक पात्र रहते हैं, और उन्हीं के आश्रय से घटनाएँ घटित होती हुई कथावस्तु का निर्माण करती हैं। नाटक का प्रमुख पात्र नायक कहलाता

---

१. प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्व भेदात् त्रेधापि तत्त्रिधा।

२. प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम्।
मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादि भेदतः॥

है। नायक की प्रिया अथवा पत्नी नायिका कहलाती है। हमारे यहाँ आचार्यों ने नायक और नायिका के गुणों की बहुत सूक्ष्म विवेचना की है, और उन्हें उनके स्वभाव तथा गुणों के अनुरूप अनेक वर्गों में विभाजित किया है।

नायक नाटक का प्रधान पात्र होता है और वह सम्पूर्ण कथा-शृङ्खला को विकसित करता हुआ, उसे अन्त की ओर ले जाता है। प्राचीन नियमों के अनुसार नाटक में उसकी उपस्थिति आदि से अन्त तक आवश्यक है। उसमें निम्न लिखित गुणों की उपस्थिति अनिवार्य समझी गई है :

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढ़वंशः स्थिरो युवा ॥
बुद्ध्युत्साह स्मृति प्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्र चक्षुश्च धार्मिकः ॥

अर्थात् नेता को विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रिय बोलने वाला, लोकप्रिय, शुचि, वाक्पटु, उच्चकुलोद्भव, स्थिर, युवा, बुद्धिमान, उत्साही, स्मृतियुक्त, प्रज्ञावान, कलावान, आत्मसम्मानी, शूर, तेजस्वी, दृढ़, शास्त्रज्ञ और धार्मिक होना चाहिए।

इस प्रकार प्राचीन आचार्यों के मतानुसार नायक श्रेष्ठ कुलोत्पन्न सर्व-गुण-सम्पन्न एक महान् देवोपम व्यक्ति होता था। किन्तु आज नाटक के नायक में उपर्युक्त गुणों को अनिवार्य आवश्यकताओं के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। अभिजात्य की तो समस्या ही समाप्त हो चुकी है, आज तो नाटककार जुआरी और शराबी को भी नायक के रूप में चित्रित कर सकता है।

नायक के भेद-नायकों के चार मुख्य भेद हैं (१) धीरोदात्त नायक, (२) धीर ललित नायक, (३) धीरप्रशान्त नायक, तथा (४) धीरोद्धत नायक।

(१) धीरोदात्त नायक शक्ति, क्षमा, स्थिरता, दृढ़ता, गम्भीरता, आत्म-सम्मान तथा उदारता आदि गुणों से युक्त होता है। वह विनयी, अहंकारहीन, तथा क्रोध आदि में स्थिर चित्त रहने वाला होता है। वह कभी आत्म-प्रशंसा नहीं करता। भगवान् राम धीरोदात्त नायक के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

(२) धीर ललित नायक शृङ्गार-प्रेमी, सुखान्वेषी, कलाविज्ञ, कोमल-चित्त, और स्थिर चित्त होता है। उसमें ललित गुणों की प्रधानता होती है। इसी कारण ये शृङ्गार रस के अधिक उपयुक्त समझा जाता है। दुष्यन्त इसी प्रकार का नायक है।

(३) *धीरप्रशान्त नायक* सन्तोषी, शान्ति-प्रिय, कोमल-चित्त तथा सुखान्वेषी होता है। सन्तोषी एवं शान्ति-प्रिय होने के फलस्वरूप धीरप्रशान्त नायक प्रायः ब्राह्मण और वैश्य होते हैं। 'मालती-माधव' का माधव ऐसा ही नायक है।

(४) *धीरोद्धत नायक* में गुणों की अपेक्षा दोष अधिक होते हैं। वह उद्धत, चंचल, प्रचण्ड स्वभाव वाला तथा आत्म-प्रशंसा-परायण और धोखेबाज होता है। उसमें अभिमान और छल का आधिक्य होता है। भीम परशुराम और दुर्योधन आदि ऐसे ही नायक हैं। दुर्गुणों के कारण कुछ आचार्य इन्हें नायक मानना उपयुक्त नहीं समझते ।

नायकों के इन भेदों के अतिरिक्त चार भेद और भी किये जाते हैं। ये भेद इस प्रकार हैं—(१) अनुकूल (२) दक्षिण (३) धृष्ट और (४) शठ। यह चारों भेद वस्तुतः एक ही नायक की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अवस्थाओं के परिचायक हैं। यह विभाजन शृङ्गार से सम्बन्धित हैं,और इनका वर्गीकरण पत्नियों के सम्बन्धों के आधार पर ही किया गया है।

अनुकूल नायक एक पत्नीव्रत होता है, जैसे राम। **दक्षिण नायक** की अनेक प्रेमिकाएँ होती हैं, किन्तु वह अपनी दक्षता के फलस्वरूप प्रधान प्रेमिका को प्रसन्न रखता है, और उस पर अपने अन्य स्त्री-प्रेम को प्रगट नहीं होने देता।

धृष्ट नायक अपने विप्रियाचरण को नहीं छिपाता, वह धृष्टता और निर्लज्जता-पूर्वक दुराचारण करता हुआ प्रधान-प्रेमिका को दुःखित करने में भी नहीं चूकता। वह पत्नी की चिन्ता भी नहीं करता।

शठ नायक प्रधान प्रेमिका से प्रेम करता हुआ भी छिपे-छिपे अन्य नायिकाओं से भी सम्बन्ध रखता है। यह सम्बन्ध प्रायः साक्षात् रहता है, किन्तु वह प्रधान-नायिका को प्रसन्न रखने के लिए अपने अन्य-स्त्री-प्रेम को छिपाने के लिए बराबर तत्पर रहता है।

नायिका—भारतीय साहित्याचार्यों के मतानुसार नायक की पत्नी अथवा प्रिया नायिका कहलाती है। गुणों में वह नायक-तुल्य होनी चाहिए। हमारे यहाँ नायिका-भेद बहुत विस्तारपूर्वक किया गया है। नायिकाओं के अनेक आवश्यक भेद करके बाल की खाल, निकालने की प्रवृत्ति का परिचय दिया गया है। यहाँ उस वाद-विवाद में पड़ने की आवश्यकता न समझते हुए हम केवल नायिकाओं के मुख्य भेद लिखकर इस प्रसंग को आगे बढ़ावेंगे।

नायिकाओं के भेद—'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता भरत मुनि ने नायिकाओं के चार भेद माने हैं--(१) दिव्या, (२) नृपति नीर, (३) कुल-स्त्री तथा (४) गणिका

किन्तु पाश्चात्य आचार्यों ने इन भेदों को न मानकर इस विषय की विवेचना अपने नवीन दृष्टिकोण के अनुसार की है। इनके अनुसार नायिकाओं के तीन भेद किये गए हैं। (१) स्वकीया, (२) परकीया और (३) सामान्या।

स्वकीया अपनी पत्नी होती है, परकीया दूसरे की पत्नी भी हो सकती है और अविवाहिता भी। सामान्या किसी की पत्नी नहीं होती। उसे गणिका या वेश्या भी कहा जाता है।

नायिकाओं के यही प्रमुख भेद हैं।

यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि पाश्चात्य आचार्य यह आवश्यक नहीं समझते कि नायिका नायक की पत्नी अथवा प्रिया हो। स्त्री-पात्रों में जो प्रमुख हो, और कथावस्तु में प्रमुख भाग ले वही नायिका समझी जायगी, चाहे वह नायक की प्रिया अथवा पत्नी हो या न हो। आधुनिक हिन्दी-नाटकों में भी इसी पथ का अनुसरण किया जा रहा है, अतः यहाँ नायिका की समीक्षा में उपर्युक्त दृष्टिकोण का विचार रखना चाहिए।

प्रतिनायक, विदूषक, विट और चेट भी नाटक के मुख्य पात्र होते हैं। नाटक में नायक का जो प्रमुख विरोधी हो, वह प्रतिनायक कहलाता है। विदूषक का काम हँसाना है। नायक से उसकी घनिष्ठता होती है, अतः वह उससे भी परिहास कर सकता है। वह उसका सलाहकार भी होता है। संस्कृत-नाटकों में प्रायः पेटू ब्राह्मण ही विदूषक का कार्य करता था। आजकल के नाटकों में विदूषक की पृथक् सत्ता नहीं रही। चेट नायक का अनुचर होता है, और विट वाद्य-गायन में निपुण नाटक का अन्तरंग सेवक। विट को संस्कृत-नाटकों में वाचाल, नीति-निपुण और धूर्त के रूप में चित्रित किया गया है।

(३) चरित्र-चित्रण

उपन्यास की भांति आज के नाटकों में भी चरित्र-चित्रण को विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता है। पात्रों की मानसिक और भावात्मक परिस्थितियों के चित्रण द्वारा उसकी आन्तरिक और बाह्य वृत्तियों को प्रकाशित किया जाता है। चारित्रिक उत्थान-पतन, मानसिक उतार-चढ़ाव, और विभिन्न भावों और आदर्शों का चित्रण उसमें पर्याप्त मात्रा में रहता है।

उपन्यास तथा नाटक की चरित्र-चित्रण-पद्धति में अन्तर है। क्योंकि उपन्यासकार के पास स्थान और समय की कमी नहीं होती, वह जहाँ कथोपकथन या वार्तालाप द्वारा पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को प्रदर्शित कर सकता है, वहाँ वह स्वयं भी टीका-टिप्पणी करके उनके चरित्र पर प्रकाश डाल सकता है। पर नाटककार के पास समय तथा स्थान की कमी तो होती ही है,

साथ ही वह पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को स्वयं प्रकाशित नहीं कर सकता। उपन्यासकार की भांति वह पात्रों के सूक्ष्म आन्तरिक संघर्ष-विघर्ष का भी चित्रण नहीं कर सकता। इस विषय में नाटककार का कार्य उपन्यासकार की अपेक्षा अधिक कठिन है।

नाटककार अपने पात्रों के विषय में स्वयं कुछ नहीं कहता, वह कथावस्तु, घटनाओं और कथोपकथन द्वारा पात्रों के चरित्र का उद्घाटन करता है। जहाँ उपन्यास में चरित्र-चित्रण करते हुए साक्षात् और परोक्ष या अभिनयात्मक दोनों ही चरित्र-चित्रण प्रकारों को अपनाया जाता है, वहाँ नाटक में तीन प्रकार से चरित्र-चित्रण हो सकता है—

(१) *कथोपकथन* द्वारा जब पात्र आपस में वार्तालाप करते हैं तब हम पात्रों की बातचीत के ढंग से उनके चरित्र का अनुमान लगा सकते हैं। जब वे एक दूसरे के विषय में बातचीत करते हैं, तो वे स्वयं दूसरों की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकाशित करते हैं।

(२) *स्वगत-कथन* भी चरित्र-चित्रण का एक उत्कृष्ट प्रकार है। एकान्त में जब मनुष्य अपने-आप सोचता है और अपने मन के विचारों को अभिव्यक्त करता है, तो वह स्वयं ही अपनी चारित्रिक विशेषताओं को प्रकाशित कर देता है। आन्तरिक संघर्ष का चित्रण भी स्वगत-कथन ारा हो सकता है।

(३) *कार्य-कलाप* मनुष्य की चारित्रिक विशेषताओं के उद्घाटन का एक प्रमुख साधन हैं। क्योंकि हम मनुष्य की उच्चता और नीचता का अनुभव उसके कार्यों द्वारा ही कर सकते हैं।

चरित्र-चित्रण की उत्कृष्टता पर ही नाटक की सफलता आधारित है।

(४) कथोपकथन

नाटकों का विकास कथोपकथन से ही माना जाता है। भारतीय नाट्य-साहित्य का विकास भी वेद तथा उपनिषदादि में प्राप्त कथोपकथन से ही माना गया है, किन्तु आश्चर्य है कि हमारे यहाँ नाटक की कथावस्तु की तो बहुत सूक्ष्म और गम्भीर विवेचना की गई है, किन्तु कथोपकथन को नाटक का एक स्वतन्त्र तत्त्व भी स्वीकार नहीं किया गया। नाटक में नाटकीय वस्तु का विकास कथोपकथन द्वारा ही होता है, और उसी के द्वारा नाटक में नाटकीय गुणों की स्थापना होती है।

हमारे यहाँ आचार्यों ने कथोपकथन के तीन भेद किये हैं—(१) नियत श्राव्य, (२) सर्व श्राव्य और (३) अश्राव्य।

(१) नियत श्राव्य में रंगमंच पर सब पात्रों के सम्मुख बात नहीं की जाती,

बल्कि कुछ निश्चित पात्रों से ही बातचीत होती है। ये दो प्रकार का है—अपवारित और जनान्तिक। जिस पात्र से बात को छिपाना हो उसकी ओर से मुख फेरकर यदि बात की जाती है तो वह अपवारित कहलाता है। जनान्तिक में मध्य की तीन अँगुलियों की ओट में निहित पात्रों से बात की जाती है।

(२) सर्व श्राव्य को प्रकट या प्रकाश भी कहते हैं। सर्व श्राव्य सबके सुनने के लिए होता है।

(३) अश्राव्य किसी अन्य के सुनने के लिए नहीं होता। इसी को आत्मगत अथवा स्वगत कहा जाता है।

स्वगत-कथन को आज अस्वाभाविक समझा जाता है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति जो उसके मन में आये उसे बोलता चला जाय तो वह पागल ही कहलायगा। जब वह अकेला हो तो उसका यह स्वगत-कथन और भी अधिक अस्वाभाविक समझा जाता है। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं; यह ठीक है कि अपने-आप बड़-बड़ाना और बोलना भद्दा मालूम पड़ता है, पर नाटक में इसकी आवश्यकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि पात्रों की आन्तरिक प्रवृत्तियों और उनके मानसिक घात-प्रतिघात के चित्रण के लिए नाटककार के पास इसके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं। आन्तरिक विचारों का प्रदर्शन मनुष्य की चारित्रिक विशेषताओं के ज्ञान के लिए अत्यावश्यक है। उपन्यासकार टीका-टिप्पणी द्वारा यह कार्य कर सकता है, किन्तु नाटककार को स्वगत-कथन का ही आश्रय लेना पड़ता है।

स्वगत-कथन सर्वथा अस्वाभाविक भी नहीं, क्योंकि भावावेश की अवस्था में मनुष्य अपने-आप ही बड़बड़ाने लगता है। हाँ, अस्वाभाविक वह तब हो जाता है, जब उसे अनुचित विस्तार दिया जाता है। स्वगत-कथन संक्षिप्त होना चाहिए, उससे पृष्ठ-के-पृष्ठ नहीं रँगे जाने चाहिएँ।

पाश्चात्य साहित्य में स्वगत-कथन को दूर करने के लिए एक नई युक्ति सोच निकाली गई है। इसके अनुसार एक और नवीन विश्वास-पात्र पात्र की अवतारणा की जाती है जो कि पात्र का अन्तरंग मित्र होता है। और इस अवस्था में वह अपने सब भाव उस पर प्रकट कर देता है। कथोपकथन का एक अन्य ढंग भी हमारे यहाँ प्रचलित है, इसे आकाश-भाषित कहते हैं। इसमें पात्र आकाश की ओर मुख करके इस प्रकार बातें करता है मानो उधर बैठा हुआ कोई व्यक्ति उसकी बातें सुन रहा हो और वह उसका उत्तर दे रहा हो।

'मुद्रा राक्षस' के दूसरे अंक में मदारी आते ही कहता है :

(आकाश में देखकर) महाराज क्या कहा ? तू कौन है ? महाराज,

मैं जीर्ण विष नाम सपेरा हूँ। (फिर आकाश की ओर देखकर) 'क्या कहा कि मैं भी साँप का मंत्र जानता हूँ?' खेलूँगा? तो आप क्या काम करते हैं, यह तो कहिए? (फिर आकाश की ओर देखकर) 'क्या कहा, मैं राजसेवक हूँ? तो आप तो साँप के साथ खेलते ही हैं।' (फिर ऊपर देखकर) 'क्या कहा, जैसे, मंत्र और जड़ी बिना मदारी और आँकुस बिन मतवाले हाथी का हाथीवान, वैसे ही नए अधिकार के संग्राम-विजयी राजा के सेवक ये तीनों अवश्य नष्ट होते हैं।

कथोपकथन और चरित्र-चित्रण—जैसा कि ऊपर लिख आए हैं कि चरित्र-चित्रण में कथोपकथन विशेष उपयुक्त सिद्ध होता है। जब विभिन्न पात्र परस्पर वार्तालाप करते हैं तो वे एक दूसरे की चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन तो करते ही हैं साथ ही वार्तालाप के ढंग और शैली द्वारा अपने चरित्र पर भी प्रकाश डालते हैं। मनोविज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित चरित्र-चित्रण भी कथोपकथन पर आधारित होता है।

कथोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण के लिए यह आवश्यक है कि कथोपकथन पात्रों की परिस्थितियों के अनुकूल ही हो। जहाँ कथोपकथन लम्बे और अस्वाभाविक ढंग से बढ़ जाते हैं, वहाँ नाटक में नीरसता और निर्जीवता आ जाती है। अतः कथोपकथन बहुत लम्बे और विस्तृत नहीं होने चाहिएँ। उन्हें सुनकर पाठक ऊब ही न जाय। यह ध्यान में रखना चाहिए कि कथोपकथन का अभिनय से भी सम्बन्ध है, अतः कथोपकथन का अभिनय के उपयुक्त होना अत्यावश्यक है।

(५) देश, काल तथा वातावरण

उपन्यास की भाँति नाटकों में भी देश,काल तथा वातावरण का विचार रखा जाता है। पात्रों के व्यक्तित्व में स्पष्टता तथा वास्तविकता लाने के लिए, पात्रों के चारों ओर की परिस्थितियों, वातावरण तथा देशकालिक विधान के वर्णन की विशेष आवश्यकता पड़ती है। देश काल तथा वातावरण के विपरीत चित्रण से अस्वाभाविकता उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार यदि गुप्तकालीन समाज का चित्रण करते हुए नाटककार तत्कालीन परिस्थितियों का आधुनिक ढंग से वर्णन करे तो वह अनुपयुक्त और असंगत होगा। गुप्त-काल में मोटरों तथा वायुयानों को और आधुनिक ढंग के सामाजिक रीति-रिवाजों को प्रदर्शित करना अपने बौड़मपन का परिचय देना है। प्रत्येक युग की, प्रत्येक देश की अपनी संस्कृति

और सभ्यता होती है, उनके अपने रीति-रिवाज, रहन-सहन और वेश-भूषा के ढंग होते हैं, जिन्हें कि उसी रूप में चित्रित करना चाहिए। भगवान् राम को हैट, नकटाई पहने अथवा किसी यूरोपीय राजा तथा पात्र को धोती-कुर्ता पहने हुए नहीं चित्रित किया जा सकता। यह देश-विरुद्ध दूषण होगा।

उपन्यास में देश,काल तथा वातावरण-सम्बन्धी जिन बातों का विचार रखना पड़ता है, नाटक में भी वही बातें ध्यान में रखी आती हैं। किन्तु यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि नाटक का सम्बन्ध रंगमंच से है, अतः नाटक में उन्हीं बातों का वर्णन होना चाहिए जो कि रंगमंच पर घटित हो सकती हों।

संकलन-त्रय (Three unities)—नाटक में देश, काल की समस्या पर विचार करते हुए हमें प्राचीन ग्रीक आचार्यों की संकलन-त्रय-(Three unities) सम्बन्धी सिद्धान्त पर विचार कर लेना चाहिए। प्राचीन ग्रीक नाटकों में स्थल, कार्य तथा काल की एकता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। ग्रीक आचार्यों का यह मत था कि नाटक में वर्णित घटना किसी एक ही कृत्य से सम्बन्धित हो, वह एक ही स्थान की हो और एक ही दिन में घटित हुई हो। इसका अर्थ यह हुआ कि एक दिन में एक स्थान पर जो-कुछ कार्य हुए हों, उन्हीं का अभिनय एक बार में होना चाहिए। इस प्रकार नाटक में यह नहीं होना चाहिए कि एक दृश्य दिल्ली का हो तो दूसरा पटना का; नाटक में वर्णित घटना एक ही स्थान की हो। इसे ही वे स्थल की एकता (Unity of place) कहते हैं।

नाटक में जिन घटनाओं का वर्णन किया जाय उनमें बरसों का व्यवधान न हो। उनके घटित होने में उतना ही समय व्यतीत हुआ हो, जितना कि नाटक के अभिनय में लगता है। इसी को समय की एकता (Unity of time) कहते हैं। कार्य की एकता (Unity of action) का अर्थ है कथावस्तु की अविच्छिन्नता तथा एकरसता। ऐसी अवस्था में कथावस्तु में प्रासंगिक कथाओं को स्थान प्राप्त नहीं हो सकता।

ग्रीस में नाटकों का अभिनय आजकल की तरह दो-तीन घंटों में न होकर प्रायः दिन-भर ही होता रहता था। अतः वहाँ के रंगमंच की परिस्थिति के अनुकूल ही इस नियम का प्रचलन हुआ। ग्रीस से यह नियम इटली में पहुँचा और इटली से फ्रांस में, जहाँ कि पर्याप्त समय तक इस नियम का अनुसरण किया गया। ग्रीस में तो यह नियम था कि चौबीस घंटों में जो घटनाएँ हुई हों, नाटक में उन्हीं का अभिनय होना चाहिए, फ्रांस में यह समय चौबीस से तीस घंटे कर दिया गया। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जिस नाटक में जितने समय की घटनाओं का समावेश किया जायगा, उसके अभिनय करने

में भी उतना ही समय व्यतीत होगा।

ग्रीक नाटक बहुत सादे और सरल थे, उनमें पात्रों की संख्या चार-पाँच से अधिक नहीं होती थी, अतः वहाँ इस नियम का पालन हो सकता था। क्योंकि रंगशालाओं की अवस्था उनकी अपनी आवश्यकता के अनुकूल ही थी।

किन्तु शीघ्र ही इस नियम का उल्लंघन प्रारम्भ हुआ। इसे नाटक के कलात्मक विकास में बाधक समझा जाने लगा। संकलन-त्रय की ग्रीक आचार्यों द्वारा जैसी व्याख्या की जाती थी, वैसी आज स्वीकार नहीं की जाती। संकलन-त्रय को आज एक दूसरे ही रूप में देखा जाता है। काल-संकलन से आज यही अर्थ लिया जाता है कि चाहे घटनाओं के घटित होने में कितना ही समय क्यों न लगता हो, उसको रंगमंच पर घटित होते हुए इस प्रकार प्रदर्शित किया जाय कि विभिन्न घटनाओं के बीच में जो समय व्यतीत हो उस पर दर्शक का ध्यान न जाय। प्रथम तो घटना अथवा दृश्य से दूसरी घटना अथवा दृश्य तक पहुँचते हुए प्रेक्षक कहीं अस्वाभाविकता अनुभव न करें। दूसरे पहले होने वाली घटनाओं का वर्णन पीछे होने वाली घटनाओं या दृश्यों से पीछे न हो।

हमारे यहाँ नाटकों में काल-संकलन के पालन में ग्रीक नाटकों-जैसी कठोरता नहीं थी, तथापि यह एक नियम था कि अंक में वर्णित कथा एक दिन से अधिक की न हो, और दो अंक के बीच का व्यवधान एक वर्ष से अधिक का न हो। किन्तु भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' में इस नियम को भंग करके नाटक की स्वाभाविकता को स्थिर रखकर काल-संकलन-सम्बन्धी नियमों की निस्सारता को सिद्ध कर दिया है। काल-संकलन सम्बन्धी नियम वहीं तक सहायक हो सकते हैं जहाँ तक कि नाटक स्वाभाविकता में सहयोगी हो।

स्थल-संकलन के अनुसार ग्रीक नाटकों में दृश्य-परिवर्तन नहीं होता था, रंगशाला में आदि से अन्त तक एक ही रहता था। वहाँ पर्दे के परिवर्तन के स्थान पर सामूहिक गान (Chorous) द्वारा दृश्य-परिवर्तन होता था। तत्कालीन जीवन के अनुरूप नाटक भी सादे और सरल थे, उनमें पट-परिवर्तन या दृश्य-परिवर्तन के बिना काम चल सकता था। किन्तु आज हमारा जीवन पर्याप्त उलझा हुआ है, हमारे जीवन की घटनाएँ एक स्थान पर नहीं हो सकतीं, अतः आज पर्दे के परिवर्तन द्वारा दृश्य-परिवर्तन किया जाता है। बिना पट-परिवतन के भी दृश्य-परिवर्तन हो सकता है। संस्कृत नाटककारों ने कभी भी स्थलैक्य का विचार नहीं किया, शेक्सपियर ने भी इस नियम का बराबर उल्लंघन किया है।

कार्य की एकता (Unity of action) को भारतीय आचार्यों ने समुचित

आता है, और पात्रों द्वारा ही वह अपने उद्देश्य को अभिव्यक्त करता है। इस अवस्था में नाटक के उद्देश्य का और नाटककार के जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण के निर्णय करने का उत्तरदायित्व दर्शक पर ही आ पड़ता है।. अनेक बार नाटक के उद्देश्य की अभिव्यक्ति कथोपकथन द्वारा हो जाती है, अनेक बार यह उद्देश्य कथानक में व्यंजित रहता है। प्रायः नाटककार अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति अपने किसी विशिष्ट पात्र द्वारा करवाता है। कुछ नाटकों में एक ऐसे पात्र की व्यवस्था रहती है, जो कि नाटककार के उद्देश्य की ही अभिव्यंजना करता है, ऐसे पात्र को तार्किक (Raisonniur) कहा जाता है। वस्तुतः नाटककार के जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण को जानने का समुचित ढंग तो यही है कि हम विभिन्न पात्रों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करें, और फिर उसका उद्देश्य निर्धारित करें। किसी एक पात्र के विचारों से ही नाटककार के उद्देश्य को निर्धारित करना भ्रामक होता है।

नाटककार द्वारा अभिव्यक्त उद्देश्य से हम जान सकते हैं कि—

(१) नाटककार हमारे सम्मुख किस नैतिक आदर्श को उपस्थित करता है? उसका जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण क्या है? नाटक में अभिव्यंजित उद्देश्य हमारे जीवन को किस रूप में प्रभावित करता है।

(२) नाटककार द्वारा चित्रित आदर्श हमारे सामने उसके देश तथा समाज के नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों को प्रस्तुत करते हैं। उससे हमें यह मालूम हो जाता है कि उसका देश नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से कितना उन्नत और कितना पतित है?

(३) नाटककार द्वारा अभिव्यक्त उद्देश्य से हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि वह जीवन के प्रति आदर्शवादी दृष्टिकोण रखता है अथवा यथार्थवादी? उसमें निराशा का आधिक्य है अथवा आशा का?

६. भारतीय दृष्टिकोण

पाश्चात्य आचार्यों ने नाटक में जहाँ उद्देश्य का विवेचन किया है वहा हमारे यहाँ रस की विवेचना हुई है। नाटकों के विवेचन में ही रस-सिद्धान्त[१] की स्थापना की गई है। रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया है, अतः भारतीय आचार्यों के अनुसार रस की अभिव्यक्ति ही नाटक का मुख्य उद्देश्य है। नाटक में किसी एक रस की प्रधानता रहती है, शेष रस गौण रूप में रहते हैं, उनका मुख्य कार्य प्रधान रस के उत्कर्ष का वर्द्धन करना ही होता है। इन

१ 'रस' का विवेचन पीछे 'साहित्य' के प्रकरण में किया जा चुका है।

रसों की संख्या दस है, इनकी अभिव्यक्ति अनुभाव, विभाव और संचारी भावों के संयोग से होती है।

हमारा देश आदर्शवादी है, अतः साहित्य की भाँति नाटक की रचना भी सोद्देश्य होती रही है। भारतीय आचार्यों ने भारतीय चतुर्वर्ग धर्म, अर्थ और काम में से किसी एक की प्राप्ति नायक को ही सिद्धि का होना आवश्यक माना है। इस प्रकार हमारे यहाँ नाटकों में जनता के प्रति आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाने का प्रयत्न किया गया।

शैली नाटक का दूसरा तत्त्व है। शैली का विवेचन हम पहले कर चुके हैं, यहाँ उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं।

७. अभिनय तथा रंगमंच

यद्यपि पाश्चात्य आचार्यों ने अभिनय को नाटक के मुख्य तत्त्वों में स्वीकार नहीं किया, किन्तु हमारे यहाँ अभिनय को विशेष महत्त्व प्रदान की गई है। 'नाट्य-शास्त्र' में नाटक के इस प्रमुख तत्त्व का बहुत विशद विवेचन किया गया है।

अभिनय वस्तुतः नाटकीय वस्तु की अभिव्यक्ति का ही नाम है। इसके चार प्रकार कहे गए हैं—

आंगिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्त्विकस्तथा।
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकल्पितः॥

आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक ये अभिनय के चार प्रमुख भेद कहे गए हैं।

आंगिक अभिनय का सम्बन्ध शरीर के विभिन्न अंगों से है। शरीर के विभिन्न अंगों का संचालन, हाथों का हिलाना, अन्धकार में टटोलना, तैरना, घोड़े पर सवार होना, विभिन्न रसों के अनुकूल दृष्टियों में परिवर्तन करना, हँसना, रोना, लज्जान्वित होकर दृष्टि नीची करना इत्यादि सब शारीरिक चेष्टाएँ इसी के अन्तर्गत आ जाती हैं। आंगिक अभिनय के तीन भेद हैं (१) शारीर, (२) मुखज तथा (३) चेष्टाकृत।

वाचिक अभिनय का सम्बन्ध वाणी से है। विभिन्न प्रकार के शब्दों को करना, बोलना, पाठ करना, गाना इत्यादि इसी अभिनय में आयेंगे। विभिन्न शास्त्रों—स्वर शास्त्र, व्याकरण, छन्द शास्त्र—का ज्ञान इसके लिए आवश्यक माना गया है। विभिन्न पात्रों के सम्बोधन के विभिन्न प्रकार हैं, जो कि वाचिक अभिनय के अन्तर्गत ही गृहीत किये जाते हैं।

आहार्य अभिनय में वेश-भूषा, आभूषणों, वस्त्रों तथा विभिन्न प्रकार की साज-सज्जा का उल्लेख रहता है। पृथक्-पृथक् वर्णों के पृथक्-पृथक् रंगों का भी अनुकरण होता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, देवता तथा सम्पन्न व्यक्ति गौर वर्ण वाले होते थे। आहार्य अभिनय के अनुसार ही राजे-महाराजे मुकुटधारी, विदूषक, गंजे, तथा सैनिक वेश-भूषा से सम्बन्धित बहुत सी बातें इसमें आ जाती थी।

सात्विक अभिनय में सात्विक भावों का अभिनय रहता था। स्वेद, रोमांच, कंप, स्तम्भ, और अश्रु-प्रहार द्वारा अवस्थाओं का अनुकरण इसमें मुख्य रूप से रहता है। भाव-प्रदर्शन की शिक्षा को भी सात्विक अभिनय में मुख्य रूप से गृहीत किया जाता रहा।

अभिनय के विवेचन के अनन्तर अब रंगमंच या प्रेक्षा गृह पर भी विचार कर लेना चाहिए। यह भूलना नहीं चाहिए कि नाटकों की रचना रंगमंच के लिए ही होती है, जो नाटक रंगमंच पर अभिनीत नहीं किये जा सकते वे वस्तुतः नाटक कहे जाने के उपयुक्त नहीं। हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से ही जहाँ नाटकों के अभिनय का विवेचन किया गया है, वहाँ रंगमंच की रूपरेखा और उसके विविध प्रकारों का भी बड़ा विशद वर्णन है।

'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता भरत मुनि ने रंगमंच की सर्वतोमुखी विवेचना की है, उनके अनुसार रंगमंच तीन प्रकार के हैं—(१) त्र्यस्त्र, (२) विकृष्ट तथा (३) चतुरस्त्र।

त्र्यस्त्र—त्रिभुजाकार था और निकृष्ट माना जाता था। इसमें केवल कुछ परिचित जन और मित्र ही बैठकर नाटक देखा करते थे।

विकृष्ट सर्वश्रेष्ठ प्रेक्षागृह समझा जाता था, इसकी लम्बाई चौड़ाई से दो गुनी होती थी। इसके तीन भेद हैं। विकृष्ट प्रेक्षागृह में तीन बराबर-बराबर भाग होते थे। सबसे अन्तिम भाग का नाम नेपथ्य था। जनता के कोलाहल अथवा अन्य प्रकार की घटनाएँ, जिनका कि रंगमंच पर अभिनय नहीं किया जा सकता था, यहीं पर सूचित की जाती थीं। दूसरा भाग दो बराबर हिस्सों में बँटा रहता था, इसमें नेपथ्य के निकट का पहला हिस्सा रंगशीर्ष कहलाता था, अभिनय का कार्य इसी में होता था। यह अनेक प्रकार के रंग-बिरंगे पर्दों, चित्रों तथा विविध प्रकार की नक्काशी और चित्रकारी से सुसज्जित रहता था। रंग-शीर्ष का अगला भाग रंगपीठ कहलाता था। इसमें शायद नाच-रंग की व्यवस्था रहती थी। इस भाग में ही सूत्रधार भी आकर अपनी सूचना दिया करता था। रंगपीठ के आगे का भाग दर्शकों के लिए सुरक्षित **रहता था**,

इसमें विभिन्न रंगों के खम्भे रहते थे जो कि विभिन्न वर्णों के बैठने के स्थान के द्योतक होते थे।

चतुरस्र रंगमंच ६४ हाथ लम्बा तथा ३२ हाथ चौड़ा होता था, इसकी रचना वर्गाकार ढंग की होती थी, और यह केवल देवताओं, धनी-मानियों तथा अभिजात वर्ग के लिए सुरक्षित रहता था। यह मध्यम श्रेणी का प्रेक्षागृह था।

पात्रों की वेश-भूषा, रंगमंच की सजावट, तथा अन्य प्रकार से नाटकीय उपकरणों का विवेचन 'नाट्य-शास्त्र' में बहुत विस्तार से किया गया है। यवनिका, रथों और घोड़ों के स्थान तथा रंगमंच से सम्बन्धित अन्य सामग्री का भी 'नाट्य-शास्त्र' में बहुत विस्तार से विवेचन किया गया है।

वृत्तियाँ—'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता भरत मुनि ने वृत्तियों को नाटक की माताएँ कहा है :

एता बुधैर्ज्ञेया वृत्तयो नाट्यमातरः ।

वस्तुतः प्राचीन भारतीय आचार्यों ने नाटकीय तत्त्वों की विवेचना करते हुए इन वृत्तियों को पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया है। इनका सम्बन्ध सम्पूर्ण नाटकीय कथावस्तु की गति-विधि से रहता है, और पात्रों की चाल-ढाल भी इसी से सम्बन्धित रहती है।

प्राचीन आचार्यों के मतानुसार रसास्वादन के प्रधान कारण को वृत्ति कहा जाता है। वृत्तियाँ चार हैं—

(१) भारती वृत्ति, (२) सात्वती वृत्ति, (३) कैशिकी वृत्ति, तथा (६) आरभटी वृत्ति।

इन चारों का जन्म क्रमशः ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्ववेद से माना जाता है।

(१) *भारती वृत्ति* का सम्बन्ध भरतों या नटों से रहता है, इसलिए इसका नाम भारती वृत्ति प्रसिद्ध हो गया है। इसमें स्त्रियों को स्थान प्राप्त नहीं था। इसमें पात्रों की भाषा संस्कृत होती थी, और इसका सम्बन्ध सभी रसों से रहता था। नाटक के प्रारम्भिक कृत्यों से ये विशेष रूप से सम्बन्धित थीं।

(२) *सात्वती वृत्ति* में वीरोचित कार्यों की प्रधानता रहती थी; शौर्य, दान, दया तथा दाक्षिण्य को इसमें विशिष्ट स्थान प्राप्त होता है। वाणी के ओज का इसमें विशेष प्रदर्शन होता है। सात्वती वृत्ति बहुत आनन्द-वर्द्धिनी है,

वीरोचित कार्यों से सम्बन्धित होने के कारण इसमें वीर रस का प्राधान्य रहता है।

(३) *कैशिकी वृत्ति* में स्त्रियों की प्रमुखता रहती है, इसमें लालित्य, सङ्गीत, नृत्य, विलास, रति तथा हास्य का प्राधान्य होता है। इसी कारण यह मनोहारिणी और माधुर्यमयी मानी गई है।

(४) *आरभटी वृत्ति* का प्रयोग रौद्र रस में होता है, क्योंकि इसमें संग्राम, संघर्ष, क्रोध, आघात, प्रतिघात, माया, इन्द्रजाल आदि रौद्र रस के उपकरणों का समावेश रहता है।

८. रूपक के भेद

नाटक यद्यपि रूपक का ही एक भेद है, किन्तु आज उसका प्रयोग रूपक के सभी भेदों के लिए किया जाता है। यहाँ हम प्राचीन शास्त्रीय रीति के अनुसार रूपक के विभिन्न भेदों पर विचार करेंगे। हमारे यहाँ नाट्य शास्त्र की विवेचना करते हुए आचार्यों ने नाट्य को रूपक और उपरूपक दो भेदों में विभाजित किया है। रूपक में रस की प्रधानता होती है और उपरूपक में नृत्य तथा नृत्तकी। नृत्य में केवल अंगों का विभिन्न प्रकार से संचालन रहता है, उसमें अभिनय नहीं होता। उपरूपक में गीत, नृत्य और अभिनय तीनों का समावेश रहता है।

रूपक के १० भेद हैं, जिनके नाम ये हैं—(१) नाटक, (२) प्रकरण, (३) भाण, (४) व्यायोग (५) वीथी, (६) समवकार (७) प्रहसन, (८) डिम, (९) ईहामृग और (१०) अंक।

ये भेद वस्तु, नायक और रस के आधार पर किये गए हैं।

(१) **नाटक** रूपक के दस भेदों में सर्वप्रमुख है और रूपक के सभी भेदों का प्रतिनिधि माना जाता है। इसमें नाट्य-शास्त्र-सम्बन्धी सम्पूर्ण नियम, लक्षण और रस सम्मिलित हो जाते हैं, आचार्यों के मतानुसार इसमें पाँच सन्धियाँ, चार वृत्तियाँ, चौंसठ सन्ध्यंग, छत्तीस लक्षण और तेंतीस अलंकार होने चाहिएँ। इसके पाँच अंक होते हैं, जिन नाटकों में पाँच अंक से अधिक हों वे महानाटक होते हैं। नाटक की कथा का आधार कल्पना नहीं होता, अपितु इसका कथानक इतिहासिक अथवा पौराणिक आधार पर आधारित होता है। उसका नायक महान् देवोपम व्यक्तित्व-सम्पन्न राजा-महाराजा होता था, अथवा कोई महात्मा ऋषि-महर्षि। नाटक के प्रारम्भिक अंकों की अपेक्षा पिछले अंक छोटे होने चाहिएँ।

यद्यपि नाटक में किसी भी **रस की प्रधानता हो सकती है,** तथापि

वीर तथा करुण रस को ही इसमें प्रमुखता प्रदान की जाती है।

(२) **प्रकरण** और नाटक की कथावस्तु में विशेष अन्तर नहीं। हाँ, प्रकरण की कथा कवि-कल्पित होती है, नायक भी धीर-शान्त होता है। वह प्रायः किसी राजा का मन्त्री होता है अथवा ब्राह्मण या वैश्य। इसकी नायिका कुल-कन्या और वेश्या दोनों ही हो सकती हैं। इसमें शृङ्गार रस की प्रमुखता रहती है। 'मालती माधव' रूपक के इस प्रकार का उत्कृष्ट उदाहरण है।

(३) **भाण** में हास्य रस की प्रधानता होती है, और धूर्तों का चरित्र-चित्रण किया जाता है। कथावस्तु कवि-कल्पित होती है। इसमें एक ही अंक होता है और एक ही पात्र। वह ऊपर आकाश की ओर मुख उठाकर इस प्रकार बातें करता है मानो आकाश में उसकी बातों को सुनने वाला और उत्तर देने वाला कोई व्यक्ति हो। इस प्रकार आकाश-भाषित के ढंग पर वह अपने अथवा दूसरे के अनुभवों का वर्णन करता है।

(४) **व्यायोग** में एक अंक और एक ही कथा होती है। इसका कथानक इतिहास अथवा पुराण के आधार पर आधारित होता है, नायक भी धीरोदात्त; राजर्षि अथवा दिव्य व्यक्तित्व-सम्पन्न होता है। इसमें वीर रस की प्रधानता होती है, और स्त्री पात्रों का अभाव रहता है।

(५) **वीथी** का कथानक कवि-कल्पित होता है, और इसमें शृङ्गार तथा वीर रस की प्रमुखता रहती है। इसमें एक या दो पात्र होते हैं, कथोपकथन आकाश-भाषित के ढंग का होता है। नायक उच्च तथा मध्यम श्रेणी का रहता है।

(६) **समवकार** का कथानक इतिहास-प्रसिद्ध होता है। और इसमें तीन अंक होते हैं। वीर रस की इसमें प्रधानता होती है। इसमें बारह पात्र रहते हैं। प्रत्येक को पृथक्-पृथक् फल की प्राप्ति होती है। दानव-देवताओं का वर्णन इसमें प्रमुखता से रहता है।

(७) **प्रहसन** में केवल हास्य रस का वर्णन होता है। भाण और प्रहसन में पर्याप्त साम्य होता है। प्रहसन के तीन भेद किये गए हैं—शुद्ध, विकृत और संकर। शुद्ध में पाखण्डी सन्यासी, पुरोहित अथवा तपस्वी नायक रहता है। विकृत में तपस्वी, कंचुकी तथा नपुंसकों को कामुक वेश में प्रदर्शित किया जाता है। संकर का नायक धूर्त और छली होता है, इसमें उपहास का आधिक्य रहता है। शुद्ध प्रहसन में व्यंग्य का आधिक्य होता है। प्रहसन के प्रथम दो भेदों से उपदेश भी अपेक्षित रहता है।

प्रहसन में एक ही अंक होता है और इसमें मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ रहती हैं।

(८) डिम में रौद्र रस की प्रधानता होती है, अद्भुत का भी मिश्रण रहता है, इन्द्रजाल, माया, जादू, छल, संग्राम इत्यादि का वर्णन रहता है। १६ पात्र होते हैं जिनमें, देवता, दैत्य, असुर, भूत, पिशाच आदि नायक होते हैं। इसके अंकों की संख्या ४ होती है।

(९) ईहामृग का कथानक इतिहास तथा कल्पना से मिश्रित होता है। नायक और प्रतिनायक दोनों ही प्रसिद्ध देवता अथवा लोकनायक होते हैं। इसमें शृङ्गार रस की प्रमुखता होती है, और प्रेम-कथा का वर्णन रहता है। नायक किसी अनुपम-रूप-सम्पन्ना नायिका का इच्छुक होता है, किन्तु प्रति-नायक के विरोध के कारण वह उसे प्राप्त नहीं कर सकता। फलस्वरूप युद्ध की नौबत आ पहुँचती है, परन्तु कोई भी पात्र मरता नहीं। इसमें भी ४ अंक होते हैं।

(१०) अंक की कथा इतिहास-प्रसिद्ध भी होती है और साधारण भी। इसमें एक ही अंक रहता है, इसका नायक साधारण पुरुष होता है। इसमें युद्धों का वर्णन होता है, किन्तु प्रधानता करुण रस की होती है। स्त्रियों के विलाप का विशेष वर्णन रहता है।

रूपक के उपर्युक्त भेद पर्याप्त युक्ति-संगत और व्यापक हैं, इनमें रूपक के सभी प्रकार गृहीत किये गए हैं। आज के नाटक भी इन विभेदों में किसी-न-किसी रूप में सम्मिलित किये जा सकते हैं। पर आज समय बहुत परिवर्तित हो चुका है, समय के साथ साहित्य में भी बहुत परिवर्तन हो गए हैं। जिस प्रकार मनुष्य प्राचीन बन्धनों से बँधा नहीं रह सकता, वह निरन्तर विकासशील है, उसके विकास की गति भी अवरुद्ध नहीं है। इसी कारण मनुष्य की प्रकृति के अनुकूल ही कला और साहित्य भी निरन्तर विकासशील हैं। वे बन्धनों में नहीं जकड़े जा सकते, समय और युग की माँग के परिणाम स्वरूप उनमें निरन्तर विकास की गुन्जाइश रहती है। अतः आज के नाटकों की समस्याएँ प्राचीन नाटकों से भिन्न हैं, इस कारण ये प्राचीन नाटकों से रूप, शैली, और रचना-पद्धति में भिन्न हैं। उनकी समीक्षा और विवेचना के लिए भी हमें नये आदर्शों और माप-दण्डों का आश्रय लेना पड़ेगा।

उपरूपक

उपरूपक के १८ भेद हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) नाटिका (२) त्रोटक

(३) गोष्ठी	(४) सट्टक
(५) रासक	(६) काव्य
(७) उल्लाप्य	(८) प्रस्थानक
(९) नाट्य रसिक	(१०) प्रेंखण
(११) श्री गदित	(१२) संलापक
(१३) शिल्पक	(१४) भाणिका
(१५) हल्लीश	(१६) विलासिका
(१७) दुर्मल्लिका तथा	(१८) प्रकरणिका

नीचे हम इन सबकी रूप-रेखा का संक्षेप से परिचय देंगे—

(१) नाटिका की कथा कल्पित होती है इसमें शृङ्गार रस की प्रधानता होती है। इसमें चार अंक होते हैं। वस्तुतः यह नाटक और प्रकरण का मिश्रित रूप ही है। इसमें स्त्री-पात्रों की अधिकता होती है। नायक कोई धीर ललित राजा होता है। और नायिका अनुरागवती सुन्दरी गायिका।

(२) त्रोटक में शृङ्गार रस की प्रधानता होती है। किन्तु विदूषक की व्यापकता प्रत्येक अंक में रहती है। देवता तथा मनुष्य दोनों ही पात्रों के रूप में रहते हैं। शेष बातें नाटिका के समान ही होती हैं।

(३) गोष्ठी में केवल एक अंक होता है। स्त्री-पात्रों की अपेक्षा पुरुष-पात्रों की संख्या अधिक होती है, शृङ्गारपूर्ण कामुकता का वातावरण इसमें अंकित रहता है।

(४) सट्टक के अंक यवनिका कहलाते हैं, और इसमें अद्भुत की प्रधानता रहती है। शेष बातें नाटिका के सदृश होती हैं।

(५) रासक में केवल एक अंक होता है। इसका नायक मूर्ख और नायिका प्रसिद्ध रूपी होती है। पात्रों की संख्या ५ तक ही रहती है। इसकी भाषा में विभिन्नता रहती है।

(८) व्यवस्थापक में दीन चरित्रों का बाहुल्य रहता है, नायकों की संख्या दस होती है, तो नायिका एक ही होती है, और वह भी दासी। इसमें दो अंक होते हैं।

(९) नाट्य-रसिक में हास्य और शृङ्गार का मिश्रण रहता है। एक सुन्दरी इसकी नायिका होती है। इसका एक ही अंक होता है।

(१०) प्रेंखण का नायक दीन पुरुष होता है। इसमें विष्कम्भक, सूत्रधार तथा प्रवेशक का अभाव रहता है। प्रेंखण का एक ही अंक होता है।

(११) श्रीगदित का नायक धीरोदात्त होता है, इसकी कथा प्रसिद्ध होती है, जो कि एक ही अंक में कही जाती है।

(१२) संलापक में न तो शृङ्गार रस ही होता है और न करुण; क्योंकि इसमें संग्राम, संघर्ष-विघर्ष और भगदड़ का वर्णन रहता है। इसका नायक धूर्त पाखण्डी होता है। इसके अंकों की संख्या कुल चार होती है।

(१३) शिल्पक का नायक ब्राह्मण और उपनायक दीन पुरुष होता है। शान्त और हास्य के अतिरिक्त शेष सभी रसोंका समावेश हो सकता है। इसमें कुल चार अंक होते हैं।

(१४) भाणिका भाण की तरह का ही उपरूपक है। इसमें हास्य की प्रधानता होती है। इसका नायक मूर्ख किन्तु नायिका अत्यन्त चतुर होती है। इसमें एक ही अंक होता है।

(१५) हल्लीश में संगीत का प्राधान्य होता है। नायक एक उदात्त पुरुष होता है। स्त्री-पात्रों की अधिकता होती है। इसमें भी एक ही अंक होता है।

(१६) विलासिका में हास्य की व्यवस्था आवश्यक थी। इसका नायक गुण-हीन परन्तु वेश-भूषा से आकर्षक होता है, इसमें भी एक ही अंक रहता है।

(१७) दुर्मल्लिका में ४८ घड़ियों का व्यापार वर्णित होता है, इसका नायक छोटी जाति का होता है, परन्तु उसमें चातुर्य का अभाव नहीं होता। इसके चार अंक होते हैं।

(१८) प्रकरणिका का नायक तथा नायिका व्यापारिक जाति से सम्बन्धित होते हैं। यह प्रकरण के जोड़ का उपरूपक है। बहुत-सी बातें इसमें प्रकरण के सदृश ही हैं।

प्राचीन समय में रूपक के इन सभी उपभेदों पर रचना हुई हो, यह निश्चित

रूप से नहीं कहा जा सकता। हाँ, प्राचीन शास्त्रीय दृष्टि से इन लक्षणों तथा परिभाषाओं का महत्व अवश्य है।

८. भारतीय नाटक

भारतीय नाटकों का उदय किन परिस्थितियों में और कब हुआ, यह कह सकना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि प्रामाणिक तथ्यों के अभाव में केवल अनुमानों के आधार पर ही तद्विषयक सम्पूर्ण निर्णय आधारित हैं, प्राचीन काल के नाट्य-साहित्य-सम्बन्धी ग्रन्थों में इस विषय का वर्णन अवश्य है, और उनके आधार पर ही सम्पूर्ण निर्णय किये जाते हैं।

ऋग्वेद में सम्वादात्मक तत्वों की कमी नहीं, सरमा और पणिस, यम तथा यमी, पुरूरवा और उर्वशी आदि के संवाद इसके प्रमाण हैं। यज्ञ के अवसर पर दोनों पक्ष की सम्वादात्मक ऋचाओं का गान भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा होता था। नाट्य-वस्तु के लिए आवश्यक काव्य और आख्यान-तत्त्व की भी वेद में कमी नहीं थी। इस प्रकार नाटकों की सम्पूर्ण सामग्री वेदों में विद्यमान थी। आचार्य भरत मुनि का 'नाट्य-शास्त्र' नामक ग्रन्थ इस विषय का सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, उसमें नाट्य की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार कही गई है कि त्रेता के प्रारम्भ में देवताओं ने ब्रह्मा के पास जाकर प्रार्थना की कि हमारे मनोरंजन के लिए किसी ऐसी सामग्री का निर्माण कर दें कि जिसे देखकर हम अपना दुःख भूलकर आनन्द प्राप्त कर लिया करें। कहते हैं कि ब्रह्मा ने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली, और 'नाट्य-वेद' को पाँचवें वेद के रूप में रच दिया। 'नाट्य-वेद' के निर्माण में ऋग्वेद से सम्वाद, यजुर्वेद से अभिनय-कला, सामवेद से संगीत और अथर्ववेद से रस लिया गया। विश्व-कर्मा ने रंगमंच की रचना की, शिवजी और पार्वती ने क्रमशः ताण्डव और लास्य दान किया, और विष्णु ने चार नाट्य-वृत्तियाँ बनाकर इस कार्य को पूर्णता प्रदान की। भरत मुनि ने अपने सौ पुत्रों की सहायता से इसका अभिनय किया।

इत्यादि विद्वानों का मत है कि भारतीय नाटकों का उदय कठपुतलियों के नाच से हुआ है।

इन विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार विभिन्न प्रमाण उपस्थित किए हैं। प्रो० मैक्समूलर और डॉक्टर लेवी वैदिक ऋचाओं के गायन से नाटकों का उदय मानते हैं। पिशल ने नाटक में प्रयुक्त 'सूत्रधार' शब्द द्वारा नाटकों को कठपुतलियों के सूत्र के निकट ला खड़ा किया है। डाक्टर रिजवे ने वीर-पूजा की भावना से नाटक का उदय माना है।

किन्तु यह तो सर्वमान्य ही है कि भारतीय जीवन में सदा धर्म की प्रधानता रही है, क्या लौकिक क्या सामाजिक और क्या दार्शनिक सभी क्षेत्र धार्मिक भावनाओं से अच्छादित हैं। वस्तुतः हमारे यहाँ मानव-जीवन का कोई भी ऐसा पक्ष नहीं जो कि धर्म से बाहर रह जाता हो। ऐसी परिस्थिति में भारतीय नाटकों का मूल धर्म से बाहर खोजना युक्तियुक्त और संगत प्रतीत नहीं होता। नाटकों का उदय निश्चय ही धार्मिक कृत्यों तथा रीति-रिवाजों से हुआ मानना चाहिए। हाँ, बाद में उनका सम्बन्ध लौकिक और सामाजिक जीवन से भी हो गया और सामाजिक उत्सवों पर मनोरंजन के लिए उनका अभिनय होने लगा।

भारतीय नाटक की प्राचीनता—हम लिख चुके हैं कि नाटक के काव्यात्मक, आख्यानात्मक तथा संवाद वास्तव में नाटक के प्रारम्भिक रूप हैं। इनकी गणना नाटकों में भी की जा सकती है। वह संवाद वस्तुतः बाद में पुराणों की कथा और कालिदास के नाटकों के आधार बने।

यद्यपि वैदिक काल में नाट्य-सामग्री का अभाव नहीं था, तथापि यह निश्चित रूप से कह सकना कठिन है कि नाटकों का सृजन वैदिक काल में प्रारम्भ हो चुका था या नहीं। 'नाट्य' पर लिखा गया सबसे प्राचीन ग्रन्थ भरत मुनि का 'नाट्य शास्त्र' है। 'नाट्य शास्त्र' और भरत मुनि का एक निश्चित समय निर्धारित करना तो निश्चय ही कठिन है, किन्तु इतना तो आज स्वीकार ही किया जाता है कि इस ग्रन्थ का निर्माण महात्मा बुद्ध के आविर्भाव से पूर्व ही हो चुका था। इससे यही सिद्ध होता है कि महात्मा बुद्ध के जन्म से पूर्व भारतीय नाट्य-साहित्य पर्याप्त समृद्ध और उन्नत था, और उस समय तक अनेक लक्षण-ग्रन्थ तथा नाटक रचे जा चुके थे। एक बात तो निश्चित ही है कि लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण से पूर्व लक्ष्य-ग्रन्थों का निर्माण पर्याप्त मात्रा में हो जाता है, इस दृष्टि से भरत मुनि के 'नाट्य शास्त्र' से पूर्व नाटकों की रचना पर्याप्त मात्रा में हो चुकी होगी। 'नाट्य शास्त्र' में भी 'त्रिपुर-दाह' और 'अमृत-मंथन' के खेले

जाने का उल्लेख मिलता है। 'वाल्मीकि रामायण' में भी अभिनेताओं के संघों का उल्लेख मिलता है :

वधूनाटक संघैश्च संयुक्ता सर्वतः पुरीम्।[1]

यद्यपि 'वाल्मीकि रामायण' में नाटक या नाटककारों का उल्लेख नहीं है तथापि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय नाटकों का अभिनय अवश्य होता था, तभी तो अभिनेताओं के संघ भी स्थापित थे। 'रामायण' में अन्यत्र भी उत्सवों पर नट-नर्तकों के अभिनय द्वारा आनन्द की प्राप्ति का उल्लेख मिलता है :

वादयंति तदा शांति लासयन्त्यापि चापरे।
नाटकान्यपरे स्माहुर्हास्यानि विविधानि च ॥[2]

'हरिवंश पुराण' में 'राम-जन्म' तथा 'रंभाभिसार' नामक दो नाटकों के खेले जाने का उल्लेख मिलता है। सुप्रसिद्ध व्याकरण-विशेषज्ञ पाणिनि ने भी अपने व्याकरण-सूत्रों में शिलालिन् और कृशाश्व नामक नाट्य-शास्त्र के दो आचार्यों का उल्लेख किया है। पाणिनि का समय ईसा से ४०० वर्ष पूर्व निश्चित किया जाता है। 'महाभाष्य' के रचयिता महर्षि पतंजलि ने भी अपने ग्रन्थ में 'कंस-वध' तथा 'बलि वध' नामक दो नाटकों के खेले जाने का उल्लेख किया है। आज से २५०० वर्ष पूर्व रचे गए बौद्धों के 'विनय पिटक' तथा 'जैन-कल्प सूत्रों' में ऐसी ही कथाओं का उल्लेख किया गया है, जिससे यह विदित हो जाता है कि उस समय नाटकों का पर्याप्त प्रचलन था और भिक्षुक और श्रावक भी नाटक देखने से नहीं रुकते थे।

बौद्ध युग के प्रेक्षागृह भी प्राप्त हुए हैं। सुरगुजा रियासत में प्राप्त प्रेक्षागृह इसका प्रमाण हैं। अतः उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि रामायण, महाभारत तथा बौद्ध-काल में नाटकों का बहुत प्रचलन था, उनका निरन्तर विकास हो रहा था। जन-साधारण तथा समृद्ध वर्ग सभी इनमें भाग लेते थे, और अनेक स्थानों पर उच्चकोटि के प्रेक्षागृह भी निर्मित हो चुके थे।

भारतीय नाटकों की विशेषताएँ—अपने विशिष्ट वातावरण में विकसित होने के कारण यूरोपीय नाटकों की अपेक्षा भारतीय नाटकों की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, जिन्हें कि हम संक्षेप से इस प्रकार रख सकते हैं—

(१) भारतीय नाटककारों ने कार्य विचार-सम्बद्धता तथा एकता का

---

१. बाल काण्ड, १४-९।

२. अयोध्या काण्ड, सर्ग ६६, श्लोक ४।

विशेष ध्यान रखा है। उनके मर्मवाद ने सभी नाटकों को घटनाओं की कार्य-कारण—शृङ्खला में आबद्ध रखा है।

(२) हमारे यहाँ प्राचीन नाटकों के कथानक प्रायः धार्मिक ग्रन्थों से ही लिये गए हैं, उनमें प्रारम्भ से अन्त तक आशीर्वादपूर्ण श्लोक और पद्य रहते हैं। जहाँ यूरोपीय नाटककारों ने अपने नाटकों का विषय मनुष्य को बनाया है, और उसकी आन्तरिक तथा बाह्य सबलताओं तथा निर्बलताओं का चित्रण करके चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी अपनी कुशलता का प्रदर्शन किया है, वहाँ भारतीय नाटककारों का उद्देश्य सदा प्रकृति-चित्रण रहा है। उन्होंने अपनी आदर्शवादी भाव-धारा के अनुसार प्रकृति के संसर्ग से ही मनुष्य को विकसित और शिक्षा ग्रहण करते हुए चित्रित किया है। विश्व-प्रकृति का जैसा विराट तथा अनुपम चित्र हमें भारतीय नाटकों में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र नहीं। उनके लिए प्रकृति ही यथार्थ शिक्षा देने वाली है।

(३) भारतीय मस्तिष्क समन्वयवादी है, उसने परस्पर-विरोधी भावनाओं और आदर्शों में सदा समन्वय करने का प्रयत्न किया है। सुख, दुःख, हर्ष, शोक, आनन्द तथा विषाद सभी उसकी दृष्टि में भूमा के वरदान हैं, और उन्हें वरदान-स्वरूप स्वीकार करने में ही मनुष्य का कल्याण है। उसी अवस्था में पहुँचकर मनुष्य उच्च आनन्द को प्राप्त कर सकने का अधिकारी हो सकता है। हमारे प्राचीन जीवन में आदर्श-प्रधान आध्यात्मिकता का प्राधान्य रहा है, इसी कारण प्राचीन नाटककारों ने मनुष्य जीवन को कभी दुःखान्त रूप में चित्रित नहीं किया। हाँ, यहाँ दुःखात्मक नाटकों की कमी नहीं। किन्तु उनका अन्त सदा ही सुखात्मक रूप में होता है। इसका कारण यह भी है कि हम एक विशिष्ट समन्वयवादी विचार-धारा के अनुगामी हैं, और हमारे साहित्य का एक उद्देश्य आस्तिकता और ईश्वरीय न्याय में विश्वास का प्रचार करना रहा है। यदि भगवान् राम या राजा हरिश्चन्द्र को इतनी आपत्तियाँ और कष्ट झेलने के अनन्तर भी सफलता और यश की प्राप्ति न होती तो क्या हमारी ईश्वरीय न्याय-सम्बन्धी भावना पर ठेस न पहुँचती? इन दुःखों और आपत्तियों के पश्चात् उनकी सफलता सत्य और न्याय की विजय की द्योतक होती है। इस प्रकार भारतीय नाटकों में दुःख और शोक की उपेक्षा तो नहीं हुई, किन्तु जोर इस बात पर दिया गया कि शोक का सहन त्याग से किया जाना चाहिए। बिना आत्म-त्याग और आत्म-विस्तार के आत्मोन्नति नहीं होती, और बिना आत्मोन्नति के आनन्द की उपलब्धि नहीं होती। भारतीय नाटकों में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

(४) पाश्चात्य नाटकों की अपेक्षा भारतीय नाटकों में आदर्श चरित्रों की प्रधानता है। जैसा कि पीछे नायकों के वर्णन में लिखा जा चुका है कि नायक को श्रेष्ठ कुलोद्भव और सब प्रकार के सद्गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। इस प्रकार के नायकों में विकास की गुञ्जाइश नहीं रहती थी। किन्तु जनता की नैतिक भावनाओं पर आघात न पहुँचने देने के लिए ही उन्हें इस रूप में चित्रित किया जाता था। दूसरे नाटक में महत् विषय के प्रतिपादन के लिए ऐसा आवश्यक भी था।

(५) प्रारम्भिक काल में नाटकों का अभिनय धार्मिक कृत्यों और उत्सवों पर होता था, किन्तु बाद में उनका प्रचलन सामाजिक तथा प्रकृति-सम्बन्धी उत्सवों के अवसर पर भी हो गया। ऋतु-सम्बन्धी उत्सवों—वसन्त तथा शरदादि ऋतुओं—पर नाटकों के अभिनय की विशेष व्यवस्था रहती थी।

संस्कृत के कुछ प्रमुख नाटककार

अश्वघोष को यद्यपि हम संस्कृत का सर्वप्रथम नाटककार तो नहीं कह सकते, किन्तु इनसे पूर्व के नाटककारों के विषय में हमें अभी तक कुछ ज्ञात नहीं हो सका, अतः इन्हें ही प्रथम स्थान देना पड़ेगा। अश्वघोष का समय ईसा की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध ठहराया गया है। प्रोफेसर लूडर्स (Luders) को खोज करते हुए तुर्फान में ताल-पत्र पर लिखे हुए इनके 'शारिपुत्र-प्रकरण' नामक नाटक के कुछ अंश प्राप्त हुए हैं। इसकी प्रामाणिकता निश्चित हो चुकी है। अश्वघोष एक बौद्ध-कवि हैं, इन्होंने 'बुद्ध-चरित्र' और 'सौदरानन्द' नामक दो प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ रचे हैं। इन्होंने अपने नाटकों में भी बौद्ध-मत के प्रचार की प्रवृत्तिको प्रदर्शित किया है। अभी इनके जीवन पर कुछ विशेष प्रकाश नहीं पड़ सका।

भास का उल्लेख कालिदास ने अपने ग्रन्थों में किया है, इनके रचे हुए 'स्वप्नवासवदत्ता', 'चारुदत्त', 'प्रतिमा' तथा 'अभिषेक' आदि १३ नाटक खोजे जा चुके हैं। १९१२ ई० में पं०गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित होकर ये प्रकाशित भी हो चुके हैं। 'स्वप्नवासवदत्ता' भास का प्रमुख नाटक है। इसका नायक वत्सराज उदयन है और नायिका अवंति की राजकुमारी वासवदत्ता। इसमें करुण रस की प्रधानता है। उदयन का चरित्र बहुत करुणापूर्ण और उत्कृष्ट है। भास ने मानव-प्रकृति और चरित्र के अध्ययन में बहुत सूक्ष्मता प्रदर्शित की है। वस्तुतः यह एक श्रेष्ठ और कल्पना-प्रधान आदर्श नाटक है।

'उरुभंग' भी भास के प्रमुख नाटकों में से एक है। संस्कृत का यह सर्वप्रथम दुःखान्त नाटक कहा जाता है। किन्तु इसे दुःखान्त कहना उपयुक्त नहीं, क्योंकि दुर्योधन की मृत्यु से किसी को खेद नहीं होगा।

भास के जीवन के विषय में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं हो सका। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में अपने से पूर्व के जिन नाटककारों का उल्लेख किया है उनमें केवल भास के ही नाटक उपलब्ध हुए हैं। शेष सौमिल्ल और कवि पुत्र के न तो अभी तक नाटक ही उपलब्ध हुए हैं, और न उनका जीवन-चरित्र ही ज्ञात हो सका है।

महाकवि कालिदास विश्व-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटककारों में हैं। 'शकुन्तला'के अनुवाद से ही भारतीय नाटक-साहित्य की ख्याति सम्पूर्ण विश्व में फैली और तभी भारतीय नाट्य-साहित्य का अन्वेषण प्रारम्भ हुआ। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' के अतिरिक्त महाकवि के 'विक्रमोर्वशीय' तथा 'मालविकाग्निमित्र' दो प्रसिद्ध नाटक हैं। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' कवि का सर्वश्रेष्ठ नाटक है, महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में इस नाटक में एक गम्भीर परिणति का भाव परिपक्व होता है। वह परिणति फूल से फल में, मर्त्य से स्वर्ग में और स्वभाव से धर्म में सम्पन्न हुई है। जर्मनी के विश्व-विख्यात कवि गेटे ने शकुन्तला की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उसमें स्वर्ग और मर्त्य के मिलन की मुग्धता का वर्णन किया है। वस्तुतः 'शकुन्तला' भारतीय जीवन के चरम आदर्श की अभिव्यक्ति है, और उसमें भारतीय संस्कृति सार रूप में संग्रहीत है।

'शकुन्तला' का अनुवाद संसार की लगभग सभी सभ्य भाषाओं में हो चुका है। कालिदास का समय ईसा से लगभग आधी शताब्दी पुराना माना गया है.

शूद्रक कालिदास से पूर्ववर्ती और भास से परवर्ती नाटककार है। अभी तक इसका समय निश्चित नहीं किया जा सका। कुछ अन्वेषकों का विचार है कि शूद्रक आन्ध्र देश का शासक था। 'मृच्छकटिक' शूद्रक का प्रसिद्ध नाटक है। इसमें १० अंक हैं।

विशाखदत्त के लिखे हुए दो नाटक बतलाए जाते हैं। 'मुद्राराक्षस' तथा 'देवीचन्द्रगुप्तम्'। 'मुद्राराक्षस' लेखक का सर्वश्रेष्ठ नाटक है, इसमें चाणक्य के राजनीतिक दाव-पेंचों का बहुत आकर्षक और रोचक वर्णन किया गया है। राजनीतिक दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व है। 'देवीचन्द्र गुप्तम्' अभी तक अधूरा ही प्राप्त हुआ है।

विशाखदत्त का समय ईसा की छठी शताब्दी माना गया है।

श्री हर्ष थानेश्वर तथा कान्यकुब्ज के यशस्वी राजा थे। वे जहाँ स्वयं कवि और नाटककार थे, वहाँ कवियों के आदर्श आश्रयदाता भी थे। हर्ष ने

'नागानन्द' नामक एक नाटक और 'प्रियदर्शिका' तथा 'रत्नावली' नाम की दो नाटिकाएँ लिखी हैं।

श्री हर्ष का समय ईसा की ७ वीं शताब्दी माना जाता है।

भवभूति कालिदास की टक्कर के नाटककार थे। वह वेद-शास्त्र तथा काव्य-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। 'उत्तर-रामचरित', 'महावीर-चरित' तथा 'मालती-माधव' इनके तीन प्रसिद्ध नाटक हैं। 'उत्तर-रामचरित' इनका सर्वश्रेष्ठ नाटक है, इसमें सीताजी के वनवास का वृत्तान्त है। करुण रस की इसमें प्रधानता है। 'महावीर-चरित' में श्रीराम की लंका-विजय तक की कथा है। 'मालती-माधव' एक प्रेम-कथा है।

यदि कालिदास को शृङ्गार-वर्णन में अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है तो इन्हें करुण रस में। करुण रस का जैसा समुचित परिपाक 'उत्तर-रामचरित' में हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। यद्यपि नाट्य-कला के सूक्ष्म समीक्षकों का यह मत है कि भवभूति को अभिनय की दृष्टि से इतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई जितनी कि काव्य-कौशल की दृष्टि से, तथापि कालिदास के अतिरिक्त संस्कृत-नाटककारों में भवभूति की टक्कर का और कोई नाटककार नहीं।

भवभूति का समय ईसा की ७ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना गया है।

महाराज महेन्द्र विक्रमसिंह पल्लव-नरेश सिंह विष्णु वर्मा के पुत्र थे, साँची इनकी राजधानी थी। यह संस्कृत के सर्वप्रथम प्रहसन-लेखक हैं। 'मत-विलास' संस्कृत का प्राचीनतम प्रहसन है। इसमें लेखक को आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। प्रहसन में अश्लीलता और कृत्रिमता का अभाव है।

इन प्रमुख नाटककारों के अतिरिक्त भट्टनारायण (६वीं शताब्दी) ने 'वेणी संहार', मुरारि कवि (६ वीं शताब्दी) ने 'अनर्घ-राघव', राजशेखर (१६ वीं शताब्दी) ने 'कर्पूर-मंजरी','बाल-रामायण', 'बाल-भारत', तथा कृष्णमिश्र (११ वीं शताब्दी) ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक लिखकर-अपने नाट्य-कौशल का परिचय दिया है।

११ वीं शताब्दी के पश्चात् यद्यपि क्षेमेश्वर और दामोदर मिश्र ने क्रमशः 'चण्डकौशिक' और 'हनुमन्नाटक'-जैसे नाटक लिखे, परन्तु सामूहिक रूप से उस समय तक संस्कृत-नाटकों का ह्रास प्रारम्भ हो चुका था। नाटकों की रचना तो होती ही रही, किन्तु कालिदास तथा भवभूति-जैसे कलाकार उत्पन्न न हो सके।

राजनीतिक अशान्ति और देश-भाषाओं के प्रचार और प्राधान्य के कारण संस्कृत-नाटकों का ह्रास प्रारम्भ हुआ।

६. हिन्दी-नाटक

संस्कृत की विस्तृत नाटक-परम्परा को उत्तराधिकार मे प्राप्त करने पर भी हिन्दी में नाट्य-साहित्य का विकास आधुनिक युग में ही हुआ, जिसमे कि राजनीतिक अशान्ति व्याप्त थी, और मनोरंजक साहित्य की रचना करना सर्वथा असम्भव था। मुगल राज्य के समृद्धिपूर्ण दिनों मे भी जबकि राजाओं के आश्रय में कविता विलास का साधन बन चुकी थी और हिन्दी का कवि आर्थिक चिन्ताओ से मुक्त हो चुका था, न तो हिन्दी मे नाटकों की रचना ही हो सकी और न उनके अभिनय के लिए रंगमंच की स्थापना ही हुई।

वस्तुतः उस समय का काव्य पतनोन्मुख था, उस समय की संस्कृति निरन्तर ह्रासशील थी। इस कारण तत्कालीन समाज मे उस गतिशील शक्ति (Dynamic energy) का और सामाजिकता का अभाव था जो कि नाट्य-साहित्य की मूलभूत प्रेरणा का कार्य करती है। रीतिकालीन जीवन तथा समाज मे एक प्रकार की गतिहीनता और एकान्तिकता आ चुकी थी। भक्ति युग मे यद्यपि वैयक्तिक विकास अवश्य हो रहा था तथा धार्मिक और दार्शनिक चिन्तन भी बढ़ रहा था, परन्तु उन सबके मूल मे एक प्रकार की उदासी और एकान्तप्रियता की भावना बढ़ रही थी। जन-साधारण सासारिक बन्धनो से, सामाजिक कर्तव्यों से और जीवन की गतिशीलता और उत्साह से पराङ्मुख होकर अपने वैयक्तिक विकास के लिए इच्छुक था। तत्कालीन कवियो और साहित्यिकोमे सामाजिक सम्पर्क की कमी और एकान्त-प्रियता की भावना का आधिक्य था। कबीर, सूर तथा दादू आदि कवियो के काव्य मे आत्म-चिन्तन की प्रधानता और सामाजिकता का अभाव है। केशव और बिहारी आदि कवियों के काव्य मे व्यक्तित्व की प्रधानता है।

उत्साह, गतिशीलता और सामाजिकता के अभाव के अतिरिक्त मुगल-शासन के ह्रास के साथ देश मे राजनीतिक अशान्ति का फिर बोल-बाला होगया, राष्ट्र मे अनेक उत्पात तथा ऊधम प्रारम्भ हो गए। ऐसी अवस्थाओं मे नाट्य-साहित्य का विकास कठिन हो गया।

एक बात और। नाटको के समुचित विकास के लिए गद्य की परिपक्वता आवश्यक है। मुगल राज्य की शान्ति और समृद्धि के दिनो मे भी हिन्दी-गद्य अविकसित था, इसी कारण जो नाटक उन दिनों लिखे भी गए उनमे गद्य के अभाव में स्वाभाविकता न आ सकी। सब वार्तालाप और कथोपकथन पद्य में ही लिखे गए।

इस प्रकार हिन्दी-नाट्य-साहित्य के शीघ्र विकसित न होने के कारणों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

(१) प्रारम्भ काल की राजनीतिक अशान्ति और उथल-पुथल।

(२) दार्शनिक वाद-विवाद का आधिक्य। वैयक्तिक विकास की प्रमुखता और सामाजिक सम्पर्क का अभाव।

(३) जन-सामान्य में लौकिक जीवन के प्रति उत्साह की कमी। जातीय जीवन में गतिशीलता का अभाव।

(४) नाटकीय कथोपकथन के समुचित विकास के लिए विकसित गद्य का अभाव।

हिन्दी-नाट्य-साहित्य की परम्परा—यदि हम हिन्दी-नाटकों की अविच्छिन्न परम्परा का प्रारम्भ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से मानें तो यह अनुचित न होगा, क्योंकि भारतेन्दु के पूर्ववर्ती नाटककारों के नाटक न तो नाटकीय तत्त्वों की दृष्टि से ही सफल कहे जा सकते हैं और न रंगमंच की दृष्टि से हाँ, रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह (आनन्द रघुनन्दन) तथा भारतेन्दु बाबू के पिता बा० गोपालचन्द्र 'गिरधर' (नहुप) इसके निश्चय ही अपवाद हैं, किन्तु हिन्दी-नाटकों की अविच्छिन्न परम्परा का विकास तो भारतेन्दु के पश्चात् ही होता है; क्योंकि उनसे पूर्व गद्य अभी परिपक्व अवस्था में था। उनके साथ ही गद्य का रूप स्थिर हुआ, और नाटकों की अविरल रचना प्रारम्भ हुई।

भारतेन्दु के पश्चात् के नाटकों का काल-विभाजन हम इस प्रकार कर सकते हैं—

(१) विकास काल। (भारतेन्दु युग सन् १८६७ से १८७४)

(२) संक्रान्ति काल (सन् १६०५ से १६१५)

(३) नवीन काल (प्रसाद युग तथा प्रासादोत्तर युग सन् १६१५ से आज तक)

विकास काल के सर्व प्रमुख नाटककार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हैं। उन्हीं ने हिन्दी-नाटकों की प्रारम्भिक रूपरेखा का निर्माण किया और अभिनय के उपयुक्त नाटकों की रचना की। भारतेन्दु बाबू के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता उनका अभिनय के उपयुक्त होना है। वे स्वयं अपने नाटकों के अभिनय में भाग लेते थे और रंगमंच की सब विशेषताओं से भली-भाँति परिचित थे। भारतेन्दु बाबू ने बहुत से मौलिक नाटक लिखे हैं और कुछ का अन्य भाषाओं से अनुवाद किया है।

भारतेन्दु बाबू के समकालीन नाटककारों में लाला श्रीनिवासदास तथा राधाचरण गोस्वामी और किशोरीलाल गोस्वामी प्रमुख हैं।[1] रंगमंच और कलात्मकता की दृष्टि से इनके नाटकों का कोई विशेष महत्त्व नहीं। क्योंकि प्रायः इन नाटककारों ने भारतेन्दुजी द्वारा प्रदर्शित पथ का अनुसरण न करके पारसी-रंगमंच की पद्धति का अनुसरण किया।

इसी समय भारतेन्दु बाबू के परम मित्र पं० प्रतापनारायण मिश्र ने अनेक प्रहसनों के अतिरिक्त 'गोसंकट नाटक,' 'कलि-प्रभाव' और 'हठी हमीर' आदि अच्छे नाटक लिखे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की शैली का अनुसरण करने वाले नाटककारों में ये लेखक प्रमुख हैं—दामोदर शास्त्री[2]. देवकीनन्द त्रिपाठी[3]. श्रीकृष्ण तकरू[4]. ज्वालाप्रसाद मिश्र[5]. बल्देवप्रसाद मिश्र,[6] तथा तोताराम वर्मा[7]।

पं० बालकृष्ण भट्ट ने सुन्दर प्रहसन लिखे हैं। 'प्रेमघन' के लिखे हुए नाटक बहुत लम्बे हैं इसी कारण वे रंगमंच के उपयुक्त नहीं बन पड़े। राधाकृष्णदास तथा राव कृष्णदेवशरण सिंह ने भी सुन्दर नाटक लिखे हैं। बहुत से धार्मिक नाटक भी इसी समय में लिखे गए थे।

भारतेन्दु युग में ही बंगला, संस्कृत तथा अंग्रेजी से बहुत से नाटकों

---

१. भारतेन्दु से पूर्ववर्ती नाटककार और उनके नाटक इस प्रकार हैं—।
(क) मैथिल-कोकिल विद्यापति ठाकुर (पारिजात-हरण, रुक्मिणी-परिचय)
(ख) बनारसीदास जैन (समय सार)
(ग) प्राणचन्द्र चौहान (रामायण महानाटक)
(घ) हृदयराम (हनुमन्नाटक)
(ङ) देव कवि (देव-माया-प्रपंच)
(च) महाराज जसवन्तसिंह (प्रबोध चन्द्रोदय)
(छ) ब्रजवासीदास (प्रबोध-चन्द्रोदय)
(ज) नेवाज (शकुन्तला)
(झ) हरिराम (सीता-स्वयंवर)

२. रामलीला ३. सीता-हरण, रुक्मिणी-हरण नाटक, कंस वध नाटक आदि। ४. विद्याविलासिनी और सुख सम्बन्धिनी ५. सीता वनवास, वेणीसंहार नाटक, विचित्र कवि इत्यादि। ६. मीराबाई, नन्द-विदा। ७. विवाह-विडम्बना नाटक।

के हिन्दी में अनुवाद किये गए। इन अनुवादकों में राजा लक्ष्मणसिंह बहुत प्रसिद्ध हैं। राजा जी ने 'शकुन्तला' का बहुत सफल और सुन्दर अनुवाद किया है।

भारतेन्दु बाबू और ला० तोताराम ने भी इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है। इन्होंने अंग्रेजी, संस्कृत तथा बंगला तीनों भाषाओं के नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किये।

भारतेन्दु युग में पौराणिक तथा इतिहासिक कथाओं के अतिरिक्त बहुत से सामाजिक कथानकों को भी नाटकीय सामग्री के रूप में प्रयुक्त किया गया। यह युग जागरण का युग था, इसमें समाज-सुधार की भावनाओं की प्रमुखता थी। अतः इस युग के नाटकों में प्रचार तथा उपदेश की मात्रा की अधिकता है। राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं की विवेचना बहुत रहती थी। नारी-शिक्षा, विधवा-विवाह, बाल-विवाह आदि सामाजिक समस्याएँ नाटकों में प्रतिपाद्य विषय के रूप में प्रयुक्त होती थीं। भारतेन्दु के अतिरिक्त शेष नाटक-कारों के नाटक कलात्मक दृष्टि से शिथिल हैं। किन्हीं नाटकों में कथानक अस्वाभाविक और रंगमंच के अनुपयुक्त है तो किन्हीं में वार्तालाप और भाषा की अपरिपक्वता है। सामाजिक समस्याओं के अतिरिक्त नाटकों में हास्य, व्यंग्य और रोमांस की भी अधिकता रहती थी। भारतेन्दु के परवर्ती नाटककारों ने तो प्रेम-कथाओं को ही अपने नाटकों का विषय बनाया। चरित्र-चित्रण पर अधिक बल नहीं दिया गया।

नाटकीय संगठन और तत्त्वों की दृष्टि से भारतेन्दुकालीन नाटकों में पर्याप्त परिवर्तन प्रारम्भ हो गए थे। मंगलाचरण, और भरत-वाक्य का धीरे-धीरे लोप होने लगा, एक ही अंक में विभिन्न दृश्यों तथा गर्भाङ्कों का प्रवेश प्रारम्भ हुआ। बंगला-नाटकों की देखा-देखी प्राचीन बन्धनों को शिथिल किया जाने लगा। कथानक में विविध परिवर्तन प्रारम्भ हुए। ऋषि-मुनि, देवी-देवताओं के साथ-ही-साथ पापी, मूर्ख, पाखण्डी इत्यादि सभी प्रकार के पात्रों का समावेश होने लगा। भारतेन्दु के नाटकों के अतिरिक्त शेष नाटककारों के नाटकों में उच्चकोटि के गीतों का अभाव हो गया। भाषा ब्रज से खड़ी बोली में परिवर्तित होने लगी। इस प्रकार भारतेन्दु युग के नाटक सभी प्रकार से परिवर्तित हो रहे थे।

संक्रान्ति-काल में अनुवादों का आधिक्य रहा। संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटकों के भावात्मक अनुवाद किये गए। संस्कृत-नाटकों के अनुवाद बहुत कम सफल कहे जा सकते हैं। राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदित 'शकुन्तला' का

वर्णन हम पीछे कर आए हैं। इस काल में श्री सत्यनारायण 'कविरत्न' ने भवभूति के 'उत्तररामचरित' और 'मालती माधव' के अनुवाद किये। इनमें कविरत्न जी को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। दोनों अनुवादों के पढ़ते समय मूल का-सा आनन्द आ जाता है। कविरत्न जी के अतिरिक्त रायबहादुर ला० सीताराम ने संस्कृत के कुछेक बहुमूल्य नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया। ये अनुवाद भी काफी सफल समझे जाते हैं।

बंगला से डी० एल० राय तथा गिरीश घोष के नाटकों के विशेष रूप से अनुवाद हुए। इन नाटकों की विशिष्ट शैली, विषय-प्रतिपादन का ढंग और नाटकीय वस्तु सभी हिन्दी-नाटकों के लिए नवीन चीज थी। हिन्दी-नाट्य-साहित्य के विधान और रूपरेखा पर उनका उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। रवीन्द्रनाथ के नाटकों के भी अनुवाद हुए, उनकी भावात्मक और संकेतात्मक शैली ने हिन्दी के नाटककारों के सम्मुख नवीन आदर्श प्रस्तुत किया। रूपनारायण पांडेय-बंगला नाटकों के अनुवादकों में प्रमुख हैं।

इस काल में कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गए हैं, जिनमें से कुछ तो साहित्यिक हैं और कुछ केवल रंगमंच के लिए ही लिखे गए हैं। पं० बद्रीनाथ भट्ट ने 'कुरु-वन-दहन,' 'दुर्गावती,' 'वेन-चरित्र' तथा 'चन्द्रगुप्त' आदि अच्छे मौलिक नाटक लिखे हैं। भट्टजी के नाटकों में कथानक का सौन्दर्य, संगीत का माधुर्य और चरित्र-चित्रण की कुशलता तथा हास्य का पुट सभी कुछ मिलता है। पं० माधव शुक्ल तथा मिश्रबन्धुओं ने क्रमशः 'महाभारत' और 'नेत्रोन्मीलन' नामक नाटकों की रचना की। इनके पश्चात् पं० माखनलाल चतुर्वेदी तथा बा० मैथिलीशरण गुप्त ने क्रमशः 'कृष्णार्जुन-युद्ध' और 'चन्द्रहास' नाटक लिखे। भारतेन्दु युग की परम्परा का निरन्तर विकासशील रूप हम इन नाटककारों के नाटकों में प्राप्त कर सकते हैं। चतुर्वेदी जी और गुप्तजी के नाटकों ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है।

रंगमंच के उपयुक्त नाटक लिखने वालों में राधेश्याम कथावाचक, आगा हश्र, नारायणप्रसाद 'बेताब,' हरिकृष्ण जौहर तथा तुलसीदत्त 'शैदा' इत्यादि बहुत प्रसिद्ध हैं। इन नाटककारों के नाटक पारसी-रंगमंच की पद्धति पर लिखे गए थे, इनमें साहित्यिकता का अभाव था। हिन्दी-नाट्य-शैली के प्रचार की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व है।

नाटकीय विधान की दृष्टि से यद्यपि संक्रान्ति-काल में कुछ विशेष परिवर्तन नहीं हुए तथापि बहुत से प्राचीन बन्धन जो पहले शिथिल हो गए थे, अब टूट गए; और जो कठोर थे उनमें शिथिलता आ गई। प्राचीन नाटकीय विधि के अनुसार

नाटककार नाटकों के प्रारम्भ में ईश्वर-वन्दना और प्रस्तावना रखते थे, अब वह परिपाटी दूर कर दी गई। दृश्य-परिवर्तन और अंकों के विषय में जो कठोरता थी, उसमें अब शिथिलता आ गई। अंकों की संख्या ७ से घटकर केवल ३ ही रह गई। भाषा की दृष्टि से भी ब्रज के स्थान पर खड़ी बोली का प्रचलन बढ़ चला। पद्यों का भी धीरे-धीरे लोप होने लगा। विषय में धार्मिकता का स्थान सामाजिकता और इतिहासिकता ने ले लिया। नाटककारों का दृष्टिकोण यथार्थवाद से प्रभावित हुआ।

हिन्दी-नाट्य-साहित्य में नवीन काल का प्रारम्भ 'प्रसाद' के आविर्भाव से होता है। इस महान् प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार ने हमारे साहित्य के प्रत्येक अंग को सुपुष्ट किया है। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी और उनका व्यक्तित्व महान् था। उनमें जहाँ भावुकता थी, वहाँ सहज दार्शनिक गाम्भीर्य भी था। प्रसाद जी के नाटकों का क्षेत्र भारत का प्राचीन स्वर्णिम अतीत है। भारत के अतीत से उन्हें विशेष ममत्त्व था। अपने नाटकों में उन्होंने इसी महान् अतीत को चित्रित किया है। इतिहासिक नाटक लिखने के लिए जिस अध्ययन और अन्वेषण की आवश्यकता होती है, वह प्रसाद जी में विद्यमान थी। प्रसाद जी के नाटक सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं। रंगमंच के वे उपयुक्त नहीं।

नाटकीय विधान में भी प्रसाद जी ने अपने नाटकों को ाचीन परिपाटी से सर्वथा स्वतन्त्र रखा है। मंगलाचरण, नान्दी, सूत्रधार और भरत वाक्य इत्यादि सबको ही उन्होंने त्याग दिया।

प्रसादजी द्वारा प्रवाहित इतिहासिक परिपाटी पर नाटक-रचना होती रही। हरि-कृष्ण 'प्रेमी' के नाटकों में मुगलकालीन संस्कृति में वर्तमान राजनीतिक समस्याओं के समाधान को खोजने का प्रयत्न किया गया है। प्रेमीजी के अतिरिक्त इतिहासिक तथा पौराणिक नाटककारों में सर्व श्री उदयशंकर भट्ट, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, उग्र, सेठ गोविन्ददास इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

प्रसादोत्तर नाटककारों की समस्याएँ और मानसिक पृष्ठभूमि पर्याप्त परिवर्तित हो गई है। समय और युग की माँग के फलस्वरूप नाटकों के आन्तरिक और बाह्य विधान तथा रूपरेखा (Stracture) में क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रारम्भ हो गए हैं। स्वगत-भाषण की प्राचीन परिपाटी उठा दी गई है, लम्बे-लम्बे भाषणों का महत्त्व कम कर दिया गया है, पात्र, वेश-भूषा, प्रदर्शन आदि में भी नये-नये परिवर्तन हो गए हैं। गीत और पद्यात्मक अंश विलुप्त हो गए हैं। अंकों की संख्या भी तीन ही निश्चित हो गई है। विषय की दृष्टि से भी बहुत परिवर्तन हो

गए हैं। अब नाटककार इतिहासिक या पौराणिक कथानकों की अपेक्षा वर्तमान सामाजिक समस्याओं को अधिक महत्त्व देता है। वह मानव-मन की सूक्ष्म मनोवृत्तियों के विश्लेषण पर अधिक बल देता है। प्राचीन पौराणिक और इतिहासिक समस्याओं की भी वह बौद्धिक ढंग से समीक्षा करता है। आधुनिक हिन्दी-नाट्य-साहित्य पर बर्नार्डशा, इब्सन तथा गाल्सवर्दी आदि पाश्चात्य नाटककारों का विशेष प्रभाव है। आज के प्रमुख नाटककारों में सर्व श्री लक्ष्मी-नारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, गोविन्दवल्लभ पन्त, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क तथा पृथ्वीनाथ शर्मा इत्यादि प्रमुख हैं।

भाव-नाट्य-लेखकों में श्री गोविन्दवल्लभ पन्त (वरमाला) तथा उदयशंकर भट्ट (राधा, विश्वमित्र, मत्स्यगन्धा) श्रेष्ठ हैं। हिन्दी के नाट्य-रूपकों में 'कामना' (प्रसाद), 'ज्योत्स्ना' (पन्त) तथा 'छलना' (भगवतीप्रसाद वाजपेयी) ने विशेष ख्याति प्राप्त की है।

चल-चित्र के प्रचार तथा लोक-प्रियता के कारण नाटक-साहित्य का प्रचार कम हो रहा है।

१०. पाश्चात्य नाटक

पाश्चात्य राष्ट्रों की सांस्कृतिक प्रेरणा के मूल स्रोत ग्रीस और रोम हैं। ग्रीक और रोमन नाटकों के विभिन्न तत्वों का सम्पूर्ण यूरोप के नाटककारों पर प्रभाव पड़ा है। प्रारम्भिक अवस्था में जिन प्रेरणाओं और आदर्शों का अनुसरण इन दोनों देशों में हुआ उन्हीं का अनुसरण बाद में सम्पूर्ण यूरोप में भी हुआ।

ग्रीक नाटकों का उदय धार्मिक कृत्यों से हुआ। अनेक धार्मिक उत्सवों और रीति-रिवाजों पर जिन गीतमय नृत्यों का आयोजन रहता था, वही बाद में नाटकों की आधारभूत सामग्री बने। ग्रीक नाटकों के दो रूप प्राप्य हैं, दुःखान्त (ट्रेजेडी) और सुखान्त (कामेडी)।

दुःखान्त-(ट्रेजेडी) नाटकों का उदय वर्षारम्भ के समय डाइयोनिसस (Deonysus) की प्रसन्नता के हेतु गाये गए गीतों से हुआ है। यह उत्सव जहाँ नव वर्ष के स्वागतार्थ होता था, वहाँ समाप्त होते हुए वर्ष को मृत्यु-दण्ड देने के लिए भी उसकी आयोजना रहती थी। मृत्यु के समय गम्भीर और करुणाजनक स्थिति की उपस्थिति आवश्यक ही है। प्रो० रिजवे का मत है कि ग्रीक दुःखान्त नाटक केवल नव वर्ष के आरम्भ और डाइयोनिसस की प्रसन्नता के लिए ही आयोजित नहीं किये गए थे, प्रत्युत उनका वीर-पूजा के उत्सवों पर भी आयोजन रहता था। वीरों के जीवन और उनके कष्टों के

अनुकरण के कारण दुःखान्त नाटकों में घोर और भयानक घटनाओं का समावेश रहता था। ट्रेजेडी की कथावस्तु अधिकांशतः भयावह दृश्यों—मृत्यु, हत्या, असह्य पीड़ा, से और भद्दे गीतों से पूर्ण होती थी।

सुखान्त (कामेडी) नाटकों का उदय भी धार्मिक उत्सव और डाइयोनिसस की पूजा से ही हुआ बतलाया जाता है। इन नाटकों में प्रायः भद्दे गीत, अश्लील और कुरुचिपूर्ण नृत्यों और स्वाँगों की भरमार रहती थी। किन्तु इनमें स्वस्थ व्यंग्य और विनोद की मात्रा का सर्वथा अभाव नहीं होता था। सुखान्त नाटक जीवन के अधिक निकट थे। उनमें राजकीय अधिकारियों की बहुत व्यंग्यपूर्ण आलोचना की जाती थी।

वस्तुतः ग्रीक नाटकों के ये दोनों रूप अभिनय-कला और नाट्य-कला के समुचित विकास में सहायक न हुए। इन नाटकों का अभिनय नकाब पहनकर किया जाता था, जिससे उनमें स्वाभाविकता नहीं आती थी। रोम में भी ग्रीक नाटकों के अनुकरण पर हास्य रसपूर्ण नाटकों की रचना प्रारम्भ हुई, किन्तु रोमन-समाज में अभिनय के कार्य को बहुत तुच्छता की दृष्टि से देखा जाता रहा। अभिनेता और नट प्रायः दास होते थे। इसलिए वहाँ भी अभिनय-कला की समुचित उन्नति न हो सकी।

पाश्चात्य नाटक रोमन नाटकों और अभिनय-कला से विशेष प्रभावित हुए। यूरोप के विभिन्न देशों में नाटकों का अभ्युदय धार्मिक कृत्यों से ही प्रारम्भ हुआ। इङ्गलैंड के प्रारम्भिक नाटकों का विषय भी धार्मिक है। बाइबिल की कहानियाँ और साधु-सन्तों के विषय में परम्परागत दन्त-कथाएँ इन नाटकों का आधार होती थीं। उनमें कुछ मात्रा में हास्य-रस का भी समावेश रहता था। इन्हीं नाटकों को रहस्य तथा चमत्कार-सम्बन्धी नाटक (Mystery and Miracle plays) कहा जाता है। मिस्ट्री और मिरेकल नाटकों से ही इङ्गलैंड के आधुनिक नाटकों का विकास हुआ है। सन् १५७६ में ब्लेक फ्रायर्स-थियेटर (Black friars theatre) की स्थापना के अनन्तर अंग्रेजी नाटकों का अप्रतिहतगति से विकास प्रारम्भ हुआ। 'लिली', 'पनी', 'ग्रीन', 'लाज', 'मारलो' आदि नाटककारों का प्रादुर्भाव १६वीं शताब्दी में हुआ। इन नाटककारों ने जहाँ अंग्रेजी नाटकों के रूप को परिवर्द्धित किया, वहाँ अंग्रेजी रंगशालाओं में भी बहुत से प्रशंसनीय सुधार किये।

सन् १५८७ में शेक्सपीयर ने लन्दन में प्रवेश किया और उसके साथ अंग्रेजी नाटकों की अभूतपूर्व उन्नति प्रारम्भ हो गई। शेक्सपीयर से पूर्व नाटकों में मौलिकता का आधिक्य था, किन्तु अभिनव प्राचीनतावादी (Neo classic)

युग के प्रारम्भ के साथ ही नाटकीय वस्तु में प्रेम का भी समावेश होने लगा। शेक्सपीयर का प्रादुर्भाव स्वातन्त्र्य युग (Romantic age) में हुआ। इस युग में प्राचीन रूढ़ियों और बन्धनों की अवहेलना प्रारम्भ हो चुकी थी। युग तथा समय की माँग के फलस्वरूप कथावस्तु में प्रेम का प्राधान्य हो गया और नाटकों में समृद्ध और अभिजात वर्ग को प्रमुखता प्रदान की जाने लगी। नाटकीय विधान (Structure) के नियम परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल बनाये गए। शेक्सपीयर स्वयं अपने नाटकों के अभिनय में भाग लेता था, इसी कारण उसने अपने नाटकों को जहाँ रंगमंच के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया, वहाँ रंगमंच में भी आवश्यक सुधार किये। वह रंगमंच की विशेषताओं से भली-भांति परिचित था। शेक्सपीयर ने प्राचीन परम्पराओं और रूढ़ियों की अवहेलना की। उसने रंगमंच के लिए वर्ज्य दृश्यों को भी रंगमंच पर दिखाया, और संकलन-त्रय-सम्बन्धी नियमों का भी उल्लंघन किया। किन्तु शेक्सपीयर की मौलिकता, प्रतिभा और अनुपम काव्य-चातुरी ने सम्पूर्ण यूरोप को प्रभावित किया। शेक्सपीयर के पश्चात् अंग्रेजी नाटकों का विकास रुक गया। किन्तु इसी समय में यूरोप में कोरनील रेसीन, विक्टर ह्यूगो आदि प्रतिभा-सम्पन्न नाटककारों का आविर्भाव हुआ। अंग्रेजी के नाट्य-साहित्य पर भी इन नाटककारों का प्रभाव पड़ा। इन नाटककारों ने मानव-जीवन के सच्चे और वास्तविक चरित्रों को प्रस्तुत किया है।

अंग्रेजी नाटकों में आधुनिक युग का प्रारम्भ डब्ल्यू राबर्टसन (१८२६-१८७१) से माना जाता है। राबर्टसन ने कामेडी-नाटकों के पुनरुत्थान की चेष्टा की और 'सोसाइटी', 'कास्ट' तथा 'आवर्स' नामक नाटक लिखकर इस विषय में पथ-प्रदर्शन किया। राबर्टसन के नाटकों का अभिनय 'प्रिंस-आव-वेल्स थियेटर' में होता था। वह स्वयं रंगशाला के सुधार में रुचि रखता था, उसने नाट्य-शालाओं के सुधार का पर्याप्त प्रयत्न किया।

इधर नार्वेजियन नाटककार इब्सन के प्रादुर्भाव के साथ पाश्चात्य नाट्य-विधान, विषय, और आदर्श में बहुत से परिवर्तन हो गए। इब्सन ने सर्वप्रथम पाश्चात्य नाटकों में समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया और उसके नाटकीय विधान को बहुत सरल और स्वाभाविक बना दिया। इब्सन ने सर्व प्रथम अपने नाटकों में जीवन की नित्य-प्रति की समस्याओं को उनके यथातथ्य रूप में रखा। उसने नाटकों में प्राचीन इतिहासिक कथाओं के स्थान पर वर्तमान जीवन के यथार्थ को चित्रित किया। वह यथार्थ चित्रण इतना सजीव और स्पष्ट है कि हमें यही मालूम पड़ता है कि मानो हमने इन दृश्यों को कहीं देखा है।

इस प्रकार रंगमंच, पात्रों की बातचीत, अभिनय और दृश्य सभी में वास्तविकता आ गई, और वह हमारे दैनिक जीवन के अधिक निकट है। इब्सन से पूर्व नाटकों में अभिजात वर्ग और उनकी जीवन-सम्बन्धी समस्याओं का ही चित्रण रहता था, किन्तु अब नाटकों में जन-साधारण के जीवन को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। साहित्य के अन्य अंगों की भाँति नाटकों में सामाजिक और वैयक्तिक समस्याओं के सुलझाव में मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का अनुसरण किया गया। पात्रों की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों के चित्रण के साथ उनके आन्तरिक घात-प्रतिघात का भी बहुत सजीव और स्पष्ट चित्रण किया गया। नेपथ्य, आकाश-भाषित और स्वगत-कथन आदि नाट्य-शैली के प्राचीन अस्वाभाविक तरीकों को दूर कर दिया गया है।

इंग्लैंड में जब इब्सन के नाटकों का सर्वप्रथम अभिनय किया गया तो उनकी बहुत तीव्र आलोचनाएं की गईं। इब्सन ने मानव-जीवन के उस अन्धकारमय पक्ष का उद्घाटन किया था जिसके वर्णन का आज तक कोई भी नाटककार साहस नहीं कर सका। किन्तु धीरे-धीरे इब्सन की नाट्य शैली का प्रभाव इंग्लैंड के नाटककारों पर भी पड़ा, और बर्नार्ड शा तथा गाल्सवर्दी-जैसे प्रसिद्ध नाटककारों ने इब्सन की यथार्थवादी शैली पर रचना प्रारम्भ की। शा ने समाज के जीवन के घृणित दुर्गुणों का स्पष्ट और नग्न चित्रण किया। समाज इसके लिए तैयार नहीं था, फलस्वरूप उनकी तीव्र आलोचना की गई। शा का दृष्टिकोण वस्तुतः एक सुधारक का दृष्टिकोण है, वे समाज को उसके दोषों से परिचित कराकर उन्हें दूर करना चाहते हैं। पर शा के जीवन-दर्शन की आज बहुत कटु आलोचना की जा रही है।

जीवन को यथातथ्य रूप में चित्रण की प्रवृत्ति बढ़ रही है, उसमें स्वाभाविक और कलात्मकता का पूर्ण विकास हो रहा है।

पाश्चात्य नाट्य-साहित्य का इतिहास बहुत पेचीदा और उलझा हुआ है। उसमें विभिन्न युगों में अनेक परस्पर-विरोधी आदर्शों का बोल-बाला रहा है, स्थानाभाव से हम उन सबका यहाँ विस्तृत परिचय नहीं दे सके। पाठकों की जानकारी के लिए केवल संक्षिप्त रूप-रेखा से ही सन्तोष कर लिया है।

१५. हिन्दी-एकांकी

कला और पृष्ठभूमि—जिन कारणों ने उपन्यास-क्षेत्र में कहानी अथवा गल्प को जन्म दिया, वे ही कारण नाटक-क्षेत्र में एकांकी के जन्म के लिए भी उत्तरदायी हैं। यन्त्र-युग का मनुष्य अपने दैनिक कार्य-भार में इतना तल्लीन रहता है कि अनेक अंकों और दृश्यों वाला महा-नाटक देखने अथवा पढ़ने के लिए उसके पास समय ही नहीं रहता। उसका अधिकांश समय दैनिक कार्य-व्यापार में व्यतीत होता है, अतएव यह स्वाभाविक ही था कि वह मनोरंजन के ऐसे साधनों को अपनाये जो अपेक्षाकृत कम समय में ही पूर्ण हो जायँ। आज का युग प्रायः उसी अर्थ में 'एकांकी नाटक का युग' है, जिस अर्थ में यह कहानी-युग अथवा महाकाव्य के विपरीत गीति-काव्य और मुक्तक काव्य का युग है।

एकांकी का स्थान—एकांकी नाटक विश्व-साहित्य के उपादानों में सर्वथा नवीन वस्तु नहीं है। ग्रीक नाटक में यवनिका के आविर्भाव के पूर्व तथा अंकों के बीच में उनको विभाजित करने के लिए कोरस-गीतों के उपयोग के पूर्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सारे नाटक एकांकी नाटक ही थे। संस्कृत-साहित्य में एकांकी नाटक सम्भवतः विश्व-साहित्य में सबसे पूर्व लिखे गए थे। संस्कृत नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों ने नाटक के जो दस धान भेद बतलाये हैं उनमें कम-से-कम पाँच तो स्पष्ट रूप से एकांकी ही थे। इसकी पुष्टि के लिए व्यायोग, अंक, वीथी, भाण और प्रहसन आदि के नाम बिना किसी संकोच के लिये जा सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक भेद कम-से-कम एक उदाहरण द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। परन्तु फिर भी एकांकी नाटक का यह आधुनिक विकास भारतीय परम्परा से दूर पश्चिम से हुआ है, मध्यकालीन यूरोप में चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में अनेक 'इण्टरल्यूड' और भावना-नाटक लिखे गए थे, जो एकांकी नाटक के रूप में ही थे। अपने 'इक्कीस एकांकी नाटक' की भूमिका में एकांकी नाटकों की प्रणाली के सम्बन्ध में 'एवरीमैन' नामक एक नाटककार ने ऐसे ही नाटक का उल्लेख किया है।

इस प्रकार रंगमंच, पात्रों की बातचीत, अभिनय और दृश्य सभी में वास्तविकता आ गई, और वह हमारे दैनिक जीवन के अधिक निकट है। इब्सन से पूर्व नाटकों में अभिजात वर्ग और उनकी जीवन-सम्बन्धी समस्याओं का ही चित्रण रहता था, किन्तु अब नाटकों में जन-साधारण के जीवन को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। साहित्य के अन्य अंगों की भाँति नाटकों में सामाजिक और वैयक्तिक समस्याओं के सुलझाव में मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का अनुसरण किया गया। पात्रों की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों के चित्रण के साथ उनके आन्तरिक घात-प्रतिघात का भी बहुत सजीव और स्पष्ट चित्रण किया गया। नेपथ्य, आकाश-भाषित और स्वगत-कथन आदि नाट्य-शैली के प्राचीन अस्वाभाविक तरीकों को दूर कर दिया गया है।

इंग्लैंड में जब इब्सन के नाटकों का सर्वप्रथम अभिनय किया गया तो उनकी बहुत तीव्र आलोचनाएँ की गईं। इब्सन ने मानव-जीवन के उस अन्धकारमय पक्ष का उद्घाटन किया था जिसके वर्णन का आज तक कोई भी नाटककार साहस नहीं कर सका। किन्तु धीरे-धीरे इब्सन की नाट्य शैली का प्रभाव इंग्लैंड के नाटककारों पर भी पड़ा, और बर्नार्ड शा तथा गाल्सवर्दी-जैसे प्रसिद्ध नाटककारों ने इब्सन की यथार्थवादी शैली पर रचना प्रारम्भ की। शा ने समाज के जीवन के कुत्सित दुर्गुणों का स्पष्ट और नग्न चित्रण किया। समाज इसके लिए तैयार न था, फलस्वरूप उनकी तीव्र आलोचना की गई। शा का दृष्टिकोण वस्तुतः एक सुधारक का दृष्टिकोण है, वे समाज को उसके दोषों से परिचित कराकर उन्हें दूर करना चाहते हैं। पर शा के जीवन-दर्शन की आज बहुत कड़ी आलोचना की जा रही है।

आदि तत्त्व, जो क्रमशः कम होते चले जा रहे थे, पुनः नये रूप में नाटकों में उपस्थित किये गए। वारकर और वेरेन के नाम इस आन्दोलन के साथ अमर रहेंगे। क्रमशः यह आन्दोलन प्रमुख नगरों तक सीमित न रहकर उपनगरों और छोटे-छोटे कस्बों में भी अपना प्रभाव लेकर गया। इन नये नाट्य-मंचों ने अनेकों नई प्रतिभाओं को लिखना ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाने के लिए प्रेरित किया। एकांकी नाटक के विकास में यूरोपीय समाज की यह सारी घटनाएँ विशेष महत्त्व रखती हैं।

ऐसी परिस्थितियों में पाश्चात्य देशों में एकांकी नाटक प्रस्फुटित और पल्लवित होता रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व ही जार्ज बर्नार्ड शा के कुछ एकांकी नाटक अंग्रेजी में प्रकाशित हो चुके थे। कुल मिलाकर उन्होंने एक दर्जन से भी अधिक अनूठे एकांकी नाटक अंग्रेजी साहित्य को प्रदान किये हैं। अन्य अंग्रेजी एकांकी नाटककारों में पेट्स, गाल्सवर्दी, बैरिस और सिंग आदि के नाम विशेष महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय हैं। गाल्सवर्दी ने अपने एकांकियों द्वारा अत्यन्त गम्भीर और स्पष्ट रूप में सामाजिक समस्याओं को विश्व के सम्मुख प्रस्तुत किया है। अमरीकन एकांकी-लेखकों में यूजेन और नील का नाम विशेष स्मरणीय है।

परन्तु एकांकी नाटक केवल अंग्रेजी की ही सम्पदा नहीं था। विश्व के अन्य देशों और अन्य साहित्यों में भी वह स्वतन्त्र रूप से विकसित हो रहा था। रूस के एकांकी-लेखकों में ल्योनिड का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके 'एक घटना', 'पड़ोसी का प्रेम' और 'प्रिय विदा' नामक एकांकी अधिक लोकप्रिय हुए। बेल्जियन साहित्य में पैरिस को एकांकी नाटककार के रूप में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई और स्कैंडेनेवियन में यह स्थान आगस्ट स्ट्रैण्डर्ग को प्राप्त हुआ।

बंगला में—भारतवर्ष में अन्य नये साहित्यिक उपादानों की सबसे पहले बंगला ने ही यूरोप के इस नये नाटकीय रूप को अपनाया। कवीन्द्र रवीन्द्र ने बहुत से सुन्दर और अनूठे एकांकी नाटक प्रस्तुत किये, इनमें 'चित्रा', 'संन्यासी' और 'मालिनी' के नाम विशेष परिगणनीय हैं। बंगला के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में भी एकांकी नाटक का प्रणयन प्रारम्भ हुआ। दक्षिण भारत की भाषाएँ भी इस दौड़ में किसी से पीछे न रहीं। मराठी, गुजराती, पंजाबी और उर्दू आदि प्रत्येक भाषा में एकांकी नाटक प्रस्तुत किये गए। हिन्दी के एकांकी नाटक भी एक नया जीवन लेकर साहित्य में आये।

अभी हाल में ही एकांकी नाटक विश्वविद्यालयों ने साहित्य के अध्ययन का

एकांकी का प्रचार—पीछे अठारहवीं शताब्दी में अनेक 'फार्स' और 'बरलेस्क' एकांकी नाटक के रूप में लिखे गए। क्रमशः इस एकांकी नाटक का महत्त्व बढ़ता गया, यह स्मरणीय है कि यही युग मशीन-क्रान्ति का था। नाटकों के प्रारम्भ में देर से नाट्यशाला में पहुँचने वाले दर्शकों की प्रतीक्षा में पहले ऐसे ही एकांकी नाटक उपयोग में लाये जाते थे। इस प्रकार जब तक पीछे पहुँचने वाले आराम से अपनी-अपनी जगह पर न बैठ जाते, पहले पहुँचनेवालों के सम्मुख ऐसा ही एकांकी नाटक उपस्थित किया जाता। इस प्रकार के एकांकी नाटक को यवनिका-उत्थापक अथवा 'कर्टेन रेजर' कहते थे। परन्तु अठारहवीं शताब्दी से ही अंग्रेज़ी साहित्य में क्रमशः एक अवनति का युग आ गया था। मौलिकता का सर्वथा अभाव हो चला था। वर्ड्सवर्थ, कालरिज, बायरन और शेली आदि कवियों ने नाट्य-शैली में एक-एक कृति लिखी, पर वे सब रंगमंच के उपयुक्त न थीं। गिलबर्ट, हेनरी आर्थर, पिनेरो और आस्कर वाइल्ड के साथ फिर जागृति प्रारम्भ हुई। परन्तु नार्वे के प्रसिद्ध विद्वान् इब्सन के द्वारा वस्तुतः नाट्य-जगत् में एक क्रान्ति ही हो गई। इंग्लैंड में भी अन्य देशों की भाँति इब्सन का स्वागत हुआ। जार्ज बर्नार्ड शा-जैसे प्रख्यात नाटककार भी

आदि तत्त्व, जो क्रमशः कम होते चले जा रहे थे, पुनः नये रूप में नाटकों में उपस्थित किये गए। बारकर और बेरेन के नाम इस आन्दोलन के साथ अमर रहेंगे। क्रमशः यह आन्दोलन प्रमुख नगरों तक सीमित न रहकर उपनगरों और छोटे-छोटे कस्बों में भी अपना प्रभाव लेकर गया। इन नये नाट्य-मंचों ने अनेकों नई प्रतिभाओं को लिखना ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाने के लिए प्रेरित किया। एकांकी नाटक के विकास में यूरोपीय समाज की यह सारी घटनाएँ विशेष महत्त्व रखती हैं।

ऐसी परिस्थितियों में पाश्चात्य देशों में एकांकी नाटक प्रस्फुटित और पल्लवित होता रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व ही जार्ज बर्नार्ड शा के कुछ एकांकी नाटक अंग्रेजी में प्रकाशित हो चुके थे। कुल मिलाकर उन्होंने एक दर्जन से भी अधिक अनूठे एकांकी नाटक अंग्रेजी साहित्य को प्रदान किये हैं। अन्य अंग्रेजी एकांकी नाटककारों में पेट्स, गाल्र्सवर्दी, बैरिस और सिंग आदि के नाम विशेष महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय हैं। गाल्र्सवर्दी ने अपने एकांकियों द्वारा अत्यन्त गम्भीर और स्पष्ट रूप में सामाजिक समस्याओं को विश्व के सम्मुख प्रस्तुत किया है। अमरीकन एकांकी-लेखकों में यूजेन और नील का नाम विशेष स्मरणीय है।

परन्तु एकांकी नाटक केवल अंग्रेजी की ही सम्पदा नहीं था। विश्व के अन्य देशों और अन्य साहित्यों में भी वह स्वतन्त्र रूप से विकसित हो रहा था। रूस के एकांकी-लेखकों में ल्योनिड का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके 'एक घटना', 'पड़ोसी का प्रेम' और 'प्रिय विदा' नामक एकांकी अधिक लोकप्रिय हुए। बेल्जियन साहित्य में पैरिस को एकांकी नाटककार के रूप में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई और स्कैंडेनेवियन में यह स्थान आगस्ट स्ट्रैण्डर्ग को प्राप्त हुआ।

बंगला में—भारतवर्ष में अन्य नये साहित्यिक उपादानों की सबसे पहले बंगला ने ही यूरोप के इस नये नाटकीय रूप को अपनाया। कवीन्द्र रवीन्द्र ने बहुत से सुन्दर और अनूठे एकांकी नाटक प्रस्तुत किये, इनमें 'चित्रा', 'संन्यासी' और 'मालिनी' के नाम विशेष परिगणनीय हैं। बंगला के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में भी एकांकी नाटक का प्रणयन प्रारम्भ हुआ। दक्षिण भारत की भाषाएँ भी इस दौड़ में किसी से पीछे न रहीं। मराठी, गुजराती, पंजाबी और उर्दू आदि प्रत्येक भाषा में एकांकी नाटक प्रस्तुत किये गए। हिन्दी के एकांकी नाटक भी एक नया जीवन लेकर साहित्य में आये।

अभी हाल में ही एकांकी नाटक विश्वविद्यालयों में साहित्य के अध्ययन का

अवलम्बित रहता है। एकांकी नाटकों में आधुनिक रंगमंचीय उपायों के अतिरिक्त यह दृश्य-स्थिति-विवरण वाला अंग नाटककार को इस बात के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान कर देता है कि वह अपने और श्रोताओं के बीच की दूरी कम कर सके।

आधुनिक एकांकी नाटकों के संवादों के विषय में भी कुछ कहना उपयोगी है। उनकी भी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। छन्द अथवा मुक्तक छन्दों का उपयोग तो एकांकी नाटकों में कभी स्थान न प्राप्त कर सका। संसार के सबसे सुन्दरतम एकांकी नाटक गद्य में ही लिखे गए हैं। गद्य के उपयोग के समय भी इस बात का ध्यान रखा गया है कि जहाँ तक सम्भव हो बोल-चाल की भाषा को साहित्यिक गम्भीर भाषा से अधिक स्थान दिया जाय। किन्तु यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि ठेठ देहाती बोली का उपयोग नाटक की गम्भीरता को नष्ट कर देगा। अतएव भले ही पात्र विशेष की चारित्रिक योजना इस प्रकार की भाषा के उपयोग की माँग करती हो, इसे कभी परिहार्य नहीं कहा जा सकता। एकांकी नाटक के संवाद को यथासम्भव सरल, प्रभाव-पूर्ण, स्पष्ट और संक्षिप्त होना चाहिए। एकाकी नाटक की सीमाएँ कभी भी दीर्घ व्याख्यानों को सहन नहीं कर सकतीं, यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए।

यह बात भी कभी नहीं भूली जा सकती है कि एकांकी नाटक अपेक्षा-कृत थोड़े से जीवन-काल की घटनाओं का लेखा-जोखा है। इस कारण इसकी कुछ विशेषताएँ हैं। यदि बड़े नाटक को एक विस्तृत उद्यान कहा जाय तो एकांकी नाटक को एक गुलदस्ता कहा जायगा। यहाँ पात्र थोड़े से समय के लिए आते हैं, क्षण-भर के लिए ठहरते हैं और फिर विलीन हो जाते हैं। अतएव एकांकी नाटक में उनको अत्यन्त चमत्कारिक रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। उनके प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक शब्द को लिखने के पूर्व नाटककार को गम्भीर रूप से सोच लेना चाहिए। परन्तु फिर भी कला का प्रस्फुटन न होकर अस्फुट बना रहना ही श्रेयस्कर है। अतएव प्रयत्न यही होना चाहिए कि यह प्रगट न हो कि प्रत्येक वाक्य को सोच-सोच कर लिखा गया है। वे स्वाभाविक रूप में सामने आने चाहिएँ। पात्रों के प्रत्येक अभिनय पर भी ध्यान देना चाहिए। यही बात कथानक और संगठन के विषय में भी कही जा सकती है। बहुत कुछ वस्तु-निर्वाचन और उसके प्रतिपादन पर निर्भर है। अतएव यह स्पष्ट है कि एकांकी नाटक की प्रणयन-कला नाटककार से पूर्ण नाटक की तुलना में कहीं अधिक कला की माँग कर रही है।

नाटक-परिवार में एकांकी नाटक की यह [illegible] ही नवीनतम है। यह नवजात शिशु अल्पकाल थोड़े ही समय में [illegible] का ध्यान खींच सकने में सफल हुआ है। एकांकी नाटकों की सफलता ने ही पश्चिमीय नाटक-साहित्य को अभूतपूर्व सम्मान दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कृत साहित्य में भी अंक, भाण, व्यायोग आदि नाटकों की शैलियाँ मिलती हैं, जिनमें केवल एक ही अंक होता है, किन्तु हमारी यह निश्चित धारणा है कि पश्चिम के प्रभाव से ही हिन्दी में 'एकांकी' का प्रचलन हुआ।

हिन्दी में एकांकी—यद्यपि पहले हिन्दी का कोई अपना स्थायी रंगमंच नहीं था, हमारे रंगमंच पर पहले पारसी कम्पनियों का अधिकार था। 'भारतेन्दु' और 'व्याकुल' की नाटक-मण्डलियों ने हिन्दी-रंगमंच को प्रश्रय दिया। किन्तु इस प्रयत्न के बावजूद भी हिन्दी के नाटक रंगमंच के योग्य न बन सके, केवल पाठ करने योग्य ही रहे। इसका प्रबल प्रमाण श्री माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' है। यद्यपि हिन्दी के सबसे पहले नाटककार श्री भारतेन्दु ने कई नाटक लिखे हैं तथापि रंगमंच के उपयुक्त उनके कुछ ही नाटक रहे। उनके बाद श्री सुदर्शन तथा गोविन्दवल्लभ पन्त ने भी कुछ एकांकी लिखे, किन्तु प्रगति की दिशा में इनसे कुछ निर्देश नहीं मिला।

वास्तव में हिन्दी-एकांकी के इतिहास में 'प्रसाद' के 'एक घूँट' का वही स्थान है, जो आज कांग्रेस में 'गांधीवाद' का। 'एक घूँट' के बाद श्री रामकुमार वर्मा के 'बादल की मृत्यु' का उल्लेख किया जा सकता है। फिर तो सर्व श्री पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, भुवनेश्वरप्रसाद, कमलाकान्त वर्मा तथा गणेशप्रसाद द्विवेदी के एकांकी-नाटक प्रकाशित हुए और धीरे-धीरे सर्वश्री उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', हरिकृष्ण 'प्रेमी', जगदीशचन्द्र माथुर तथा विष्णु प्रभाकर आदि नाटककार भी इस क्षेत्र में आ गए। इन पिछले दस वर्षों में हिन्दी-एकांकी एक अच्छी-खासी मंजिल पार कर चुका है। उसके मूल में एक नवीन शैली का आकर्षण तो है ही, साथ ही मंच का आग्रह भी है। आज कालिज और क्लब के स्टेज पर उसकी माँग दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। साधारणतः सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं से लगाव होने पर भी उसमें विचित्रता की कमी नहीं है आज हिन्दी में समस्या-एकांकियों के अतिरिक्त रोमानी और इतिहासिक एकांकी, कवित्वमय भाव-नाट्य, मोनोड्रामा तथा प्रहसन आदि उसके अनेक रूप मिलते हैं। हमें विश्वास होता है कि हिन्दी-रंगमंच और एकांकी नाटक का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। उच्चकोटि के मौलिक नाटक और अनुवाद हमारे समक्ष हैं।

१२. रंगमंच

उपयोगिता—प्राचीन भारत और तत्कालीन समाज में रंगमंच का काफी सम्मान था। रंगमंच पर अभिनय करना गौरव की बात समझी जाती थी। पर आज के क्रान्तिकारी-युग में हिन्दी-रंगमंच पर अभिनय करने वालों का प्रायः अभाव-सा है। जहाँ संसार के समस्त प्रगतिशील राष्ट्रों में रंगमंच की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है तथा नाटकों का चुनाव भी रंगमंच की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर ही किया जाता है, वहाँ जब हम अपनी भद्दी सजावट से युक्त रंगशालाओं को देखते हैं तो हृदय में एक ठेस लगती है और ऐसा जान पड़ता है कि मानो हम अपने रंगमंच की ओर से सर्वथा उदासीन हैं। सच बात तो यह है कि हिन्दी में रंगमंच नहीं के बराबर है। रंगमंच के अभाव के कारण हमारे नाटकों का प्रचार साधारण जनता में नहीं हो सकता और इससे नाट्य-साहित्य की प्रवृत्ति भी रुक गई है। रंगमंच के अभाव में आज का हिन्दी-नाटक एक श्रव्य-काव्य बनकर रह गया है। हिन्दी में अनेक ऐसे नाटक भी हैं, जिनका रंगमंच पर अभिनय करना कठिन है। इसका कारण ही रंगमंचों का अभाव है। जब हिन्दी-नाटकों का रंगमंच पर अभिनय होने लगेगा तो नाटककार लिखते समय अवश्य इस बात का ध्यान रखेगा कि मेरा नाटक रंगमंच पर खेला जा सके और जब रंगमंच ही नहीं है तो नाट्य-रचयिता भी इस बात की लापरवाही कर जाते हैं। फिर हिन्दी में ऐसे नाटकों का अभाव नहीं है जो रंगमंच पर खेले जा सकें।

भारत के उत्तर-मध्यप्रान्तों में स्टेज है ही नहीं, बंगाल में भी आजकल पहले की अपेक्षा उसका ह्रास हो गया है। हाँ, दक्षिण और महाराष्ट्र का रंगमंच अब सक्रिय है।

हिन्दी के लेखक के सामने आज अपना कोई रंगमंच नहीं, फिर भी जिस मंच को दृष्टि में रखकर वह नाटक की रचना करता है, उसके विषय में कुछ विवेचन कर देना आवश्यक है।

स्वरूप—हमारे रंगमंच के आज तीन स्वरूप हैं—(१) पारसी रंगमंच का भग्नावशेष, (२) अध्यवसायी मंच और (३) रजतपट।

आज से कुछ वर्ष पूर्व पारसी-रंगमंच की भारत में धूम मची हुई थी। 'एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' तथा 'कोरन्थियन नाटक कम्पनी' का मंच-शिल्प धीरे-धीरे विकास की ओर पहुँच रहा था। उन्होंने मंच-भ्रम के कुछ साधन भी जुटा लिए थे। विभिन्न दृश्यों के लिए बढ़िया पर्दे, चिता एवं अग्नि इत्यादि के लिए पाउडर का प्रयोग करते थे। वेश-भूषा में वैभव था। बिजली के अक्स से

दृष्टि से अच्छे चित्र प्रस्तुत कर रही हैं। इनमें बाम्बे टाकीज को तो हम एक-मात्र हिन्दी का मंच कह सकते हैं।

सिनेमा—यदि देखा जाय तो सिनेमा ने नाट्य-कला के लिए अनन्त क्षेत्रों का उद्घाटन कर दिया है। नाटककार को अब एक विस्तृत मंच मिल गया है। इस प्रकार के दृश्यों को सुन्दर रूप में चित्रपट पर दिखाया जा सकता है। कल्पना को अवकाश देने के साथ-साथ सिनेमा ने अभिनय-कला को विकसित किया है। आज भारत में कई उत्तम श्रेणी के अभिनेता हैं। हिन्दी के अभिनेताओं में चन्द्रमोहन, पृथ्वीराज, सान्याल, अशोककुमार, प्रेम अदीब आदि सफल कलाकार कहे जा सकते हैं। स्त्रियों में कानन बाला, जमुना देवी, देविका रानी, शान्ता आप्टे, लीला देसाई, लीला चिटनिस तथा शोभना समर्थ ने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। संगीत और नृत्य की समृद्धि भी आशाजनक है।

'न्यू थियेटर्स' बंगाल की कम्पनी है। इसके चित्र भावपूर्ण, रोमांटिक, सङ्गीतमय तथा कोमल होते हैं। इसके 'देवदास', 'हमराही' आदि चित्र कला एवं भाव की दृष्टि से अच्छे सफल हुए हैं। 'प्रभात' का महाराष्ट्र से सम्बन्ध होने के कारण उसके चित्रों में जीवन का पौरुष झलकता है। 'आदमी' में इसका सजीव चित्रण देखिए। 'बाम्बे टाकीज' के चित्र प्रायः सब सामाजिक एवं सुधारवादी होते हैं। इसमें प्रायः मध्य वर्ग और उच्च वर्ग के मिले-जुले चित्र होते हैं। 'मिनर्वा' के चित्र भी अच्छे आए, परन्तु उसके चित्र उर्दू की विभूति हैं। हिन्दी का 'जेलर' अथवा 'सिकन्दर' पर कोई अधिकार नहीं। स्व० प्रेमचंद जी की 'रंगभूमि' का भी अच्छा चित्र हमारे सामने आया था। उस चित्र की भाषा प्रेमचन्द जी की भाषा से मिलती-जुलती ही रखी गई है। कला का भी उसमें उत्तम प्रदर्शन है। यदि हम किसी चित्र को हिन्दी-चित्र कह सकते हैं तो वह है 'प्रकाश' का 'राम-राज्य' तथा 'भरत-मिलाप'। इन चित्रों में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का विशुद्ध चित्रण किया गया है। इनकी भाषा भी शुद्ध हिन्दी है। इधर पिछले दिनों हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' के 'रक्षा-बन्धन' नाटक का 'चित्तौड़-विजय' नाम से प्रदर्शन हुआ था। प्रेमी जी ने 'प्रीत का गीत' नाम से एक और नई फिल्म का निर्माण किया है।

इस प्रकार आज रजतपट निरन्तर उन्नति कर रहा है। परन्तु अभी तक वह नाटक की अपेक्षा उपन्यास को अधिक अपनाता है। किन्तु अब धीरे-धीरे सिनेरियो के लिए नाटक भी लिखे जाने लगे हैं और उधर सिनेमा भी नाटकों को अपनाने लगा है। यदि सिनेमा और नाटक का पारस्परिक सहयोग हो गया तो हिन्दी का ही क्या, भारत के रंगमंच का भविष्य भी उज्ज्वल हो जायगा।

ही निबन्ध या प्रबन्ध कहा जाता था, शनैः-शनैः यह शब्द अपना अर्थ परिवर्तित करता गया और उसका अर्थ एक ऐसा लेख, जिसमें कि अनेक विचारों, मतों या व्याख्याओं का सम्मिश्रण या ग्रन्थन हो, बन गया। जैसा कि नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' में इस शब्द का अर्थ लिखा है: 'बन्धन वह व्याख्या है, जिसमें अनेक मतों का संग्रह हो।'

३. निबन्ध की महत्ता

आज हिन्दी में निबन्ध शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया जाता है जिस अर्थ में 'एसे' (Essay) शब्द का अंग्रेजी में। 'एसे' शब्द का व्युत्पत्यर्थ प्रयास या प्रयत्न है। सुप्रसिद्ध फ्रेंच लेखक मौनटेन (Montaigne) ने सर्व-प्रथम इस शब्द का प्रयोग किया। उसके अनुसार 'एसे' वैयक्तिक विचार या अनुभूति को एक कलात्मक सूत्र में पिरो देने का ही प्रयत्न-मात्र है। परन्तु मौनटेन की रचनाओं में विशृङ्खलता है, उनमें अभिव्यक्त विभिन्न विचारों में सम्बद्धता नहीं। उनमें वैयक्तिक रुचि, भाव और अनुभूति की प्रधानता होती है। अपनी रचनाओं के विषय में मौनटेन का यह कथन है यह मेरी अपनी भावनाएँ हैं; इनके द्वारा मैं किसी नवीन सत्य के अन्वेषण का दावा नहीं करता; इनके द्वारा मैं अपने-आपको पाठकों की सेवा में समर्पित करता हूँ। वस्तुतः निबन्ध निबन्धकार के व्यक्तित्वकी प्रधानता को सिद्ध करता है।

४. अभिव्यक्ति-का एक प्रकार

मौनटेन के आदर्शों के अनुसरण पर ही पश्चिम के निबन्धकारों ने निबन्ध-रचना की है, और मौनटेन के निबन्धों को ही आदर्श मानकर निबन्ध की परिभाषाएँ की गई हैं। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध समालोचक डॉ० जानसन (Johnson) का कथन है कि निबन्ध (Essay) मन की ऐसी विशृंखल विचार-तरंग है, जो अनियमित और अपच है।[१] जे० बी० प्रीस्टले का का कथन है कि निबन्ध वह साहित्यिक रचना है, जिसे एक निबन्धकार ने रचा हो। इसी प्रकार एक अन्य लेखक महोदय लिखते हैं कि लेखक की सामयिक चित्त-वृत्ति को बड़ी सुन्दरता से व्यक्त करने वाली साहित्यिक वस्तु को प्रस्ताव कहते हैं। उपर्युक्त विवेचन और परिभाषाओं से निबन्ध के विषय में हम निम्न लिखित निर्णयों पर पहुँच सकते हैं—

---

१. A loos sally of mind, an irregular, indigested piece not a regular and orderly performance

(१) निबन्ध गद्य में अभिव्यक्त एक प्रकार का स्वगत-भाषण है, जिसका मुख्य उद्देश्य अपने व्यक्तित्व को अथवा किसी विषय पर अपनी वैयक्तिक अनुभूति, भावना या आदर्श को प्रकट करना है। गद्य-काव्य के अन्य रूपों की अपेक्षा निबन्ध में साहित्यिक का निजी रूप अधिक प्रत्यक्ष और स्पष्ट रहता है। इसी कारण ऐसे दार्शनिक वाद-विवाद या वैज्ञानिक अथवा राजनीतिक लेख, जिनमें कि रचयिता का व्यक्तित्व प्रतिफलित नहीं होता, निबन्ध के क्षेत्र के अन्तर्गत गृहीत नहीं किये जायँगे।

(२) निबन्ध का आकार छोटा होता है, उसमें जीवन या समाज के किसी एक पक्ष की अभिव्यक्ति या विवेचना रहती है। जिस प्रकार गीत में कभी कवि अपने अन्तर की वेदना को शब्दों के ढाँचे में ढालता है, तो कभी वह किसी प्राकृतिक दृश्य के सौन्दर्य से प्रेरित होकर अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करता है, उसी प्रकार निबन्धकार भी विश्व के विविध रूपों में से किसी एक की विवेचना अपने दृष्टिकोण के अनुसार करता है। जिस प्रकार प्रगीत-काव्य में लेखक का व्यक्तित्व झलकता रहता है, उसकी अपनी अनुभूति और कल्पना की प्रधानता होती है, उसी प्रकार निबन्ध में भी लेखक की निजी सम्मति और दृष्टिकोण की प्रधानता रहती है।

(३) इस प्रकार आत्म-निवेदन अथवा अपने दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति में ही निबन्ध-कला की इतिकर्तव्यता है। वैयक्तिक प्रतिभा के प्रकाशन का निबन्धकार को विशेष अवसर प्राप्त होता है। वह अपनी वैयक्तिक प्रतिभा के बल पर ही साहित्य की इस विधा को इतना चमत्कारपूर्ण और उत्कृष्ट बना देता है।

५. निबन्ध, आख्यायिका और प्रगीत-काव्य

निबन्ध, आख्यायिका और प्रगीत काव्य तीनों में पर्याप्त साम्य है, क्योंकि जिस प्रकार आख्यायिका का सृजन एक विशिष्ट उद्देश्य के प्रतिपादन के लिए होता है, और उसके प्रतिपादन के अनन्तर वह समाप्त हो जाती है, वैसे ही निबन्ध भी एक विशिष्ट उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए लिखा जाता है और उसके पूर्ण होने पर वह समाप्त हो जाता है। दोनों के आकार, रूप-रेखा और उद्देश्य में साम्य है। जिस प्रकार उपन्यास के किसी एक अध्याय को हम आख्यायिका नहीं कह सकते, उसी प्रकार दार्शनिक या साहित्यिक ग्रन्थ के किसी एक विशिष्ट अध्याय को निबन्ध नहीं कहा जा सकता। आख्यायिका और निबन्ध दोनों का ही स्वतन्त्र अस्तित्व है। आख्यायिका में जब तक आख्यायिका-शैली की सम्पूर्ण विशेषताएँ उपलब्ध न हों वे आख्यायिका नहीं कहला सकती,

इसी प्रकार निबन्ध कहलाने के लिए भी निबन्धों की वैयक्तिक विशेषताओं की उपस्थिति आवश्यक है।

निबन्ध एक ओर यदि आख्यायिका से समता रखता है तो दूसरी ओर उसमें प्रगीत-काव्य की बहुत-सी विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं। गीति-काव्य के समान ही निबन्ध में लेखक का स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित रहता है, जिस प्रकार गीति-काव्य में कवि अपनी आन्तरिक अनुभूति को अभिव्यक्त करता है, अपने निजत्व को ढालता है, उसी प्रकार निबन्ध में भी निबन्धकार इस विविध रूप जगत् के प्रति अपनी भावात्मक या विचारात्मक प्रतिक्रियाओं को अपने दृष्टिकोण के अनुरूप प्रकट करता है।

गीति-काव्य में आत्मीयता, भावमयता और व्यापक सहानुभूति विद्यमान रहती है, निबन्ध में भी इन्हीं विशेषताओं को प्राप्त किया जा सकता है।

इन समताओं के होते हुए भी इनमें कुछ अन्तर है। आख्यायिका की गति तीव्र होती है, उसमें केवल एक विशिष्ट केन्द्र-बिन्दु पर ही प्रकाश डाला जाता है। उसकी शक्ति केन्द्रीभूत अधिक होती है। किन्तु निबन्ध में तीव्रता नहीं होती, उसमें एक प्रकार का शैथिल्य रहता है। वह शैथिल्यमय हल्का वातावरण निबन्ध की एक प्रमुख विशेषता होती है, किन्तु यहाँ शैथिल्य से मतलब शैली की परिपक्वता से नहीं। शैथिल्य से यहाँ मतलब यही है कि जैसा कहानी का वातावरण अत्यन्त खिंचावपूर्ण रहता है, वैसा निबन्ध में नहीं होता। इस शैथिल्यपूर्ण वातावरण में ही वह गम्भीर-से-गम्भीर दार्शनिक समस्याओं को पाठकों के लिए सुपाच्य बना लेता है। कहानीकार अपने आदर्श की अभिव्यक्ति एक विशिष्ट कथानक के सृजन द्वारा करता है। गीति-काव्य गेय होने के कारण रसमय होता है, और वह मानव-हृदय के अधिक निकट रहता है। किन्तु निबन्धकार न तो कथानक का ही आश्रय ग्रहण कर सकता है, और न ही वह गीति-काव्य का रसमय वातावरण उत्पन्न कर सकता है। वह इसे दोनों सुविधाओं से वंचित रखता है। निबन्धकार गीति-काव्य और कहानी, दोनों के ही उपकरणों का उपयोग करता है। इस प्रकार निबन्ध का स्थान कथा और गीति-काव्य दोनों के मध्य का है।

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर अब हम यहाँ निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार बना सकते हैं कि निबन्ध गद्य-काव्य की वह विधा है जिसमें कि लेखक एक सीमित आकार में इस विविध रूप जगत् के प्रति अपनी भावात्मक तथा विचारात्मक प्रतिक्रियाओं को प्रगट करता है।

६. निबन्धों के प्रकार

विषय की दृष्टि से निबन्ध का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, उसमें विश्व के सम्पूर्ण तत्त्वों, भावनाओं, वस्तुओं और क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का विवेचन हो सकता है। वस्तुतः विश्व की कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जिसका कि निबन्ध में विवेचन न हो सकता हो। इस विषय के वैभिन्य को दृष्टिकोण में रखते हुए निबन्धों के चार प्रकार बतलाये जाते हैं—

(१) वर्णनात्मक निबन्ध (Descriptive essays)

(२) विवरणात्मक निबन्ध (Narrative essays)

(३) विचारात्मक निबन्ध या विवेचनात्मक निबन्ध (Reflective essays)

(४) भावात्मक निबन्ध (Emotional essays)

निबन्धों के ये प्रकार सर्वसम्मत तो नहीं हो सकते, क्योंकि निबन्धों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसी कारण इनके और भी बहुत से भेद किये जाते हैं, जैसे—विश्लेषणात्मक निबन्ध (Expository essays) या विवादात्मक निबन्ध (Argumentative essays) किन्तु इन भेदों को हम बड़ी सुविधा से निबन्ध के उपर्युक्त चारों प्रकारों में सम्मिलित कर सकते हैं।

वर्णनात्मक निबन्ध—इन निबन्धों में प्राकृतिक उपकरणों तथा भौतिक पदार्थों का वर्णन रहता है। ये पदार्थ प्रायः स्थिर होते हैं और इन निबन्धों का सम्बन्ध प्रायः देश से होता है। वर्णनात्मक निबन्धों की वर्णन-शैली को व्यास-शैली कहा जाता है। व्यास-शैली में वर्ण्य पदार्थ की बहुत विस्तृत विवेचना की जाती है। उसमें पाठक के मस्तिष्क में सम्पूर्ण वस्तुस्थिति को समझा-कर बिठा देने की प्रवृत्ति लक्षित की जा सकती है।

उदाहरण

> हम अपने निश्चित उद्देश्य के निकट पहुँच रहे थे। मार्ग में अब कभी-कभी पहाड़ी स्त्रियाँ बच्चों को पीठ पर लटकाये इधर-उधर जाती हुई मिल जाती थीं। उनकी वेश-भूषा काफी अस्त-व्यस्त थी, मुख पर विशेष उदासी छाई हुई थी। हमारे पहुँचने पर वे कुछ भयभीत होकर लजा-सी गईं। शीघ्र ही हम झील के निकट पहुँच गए। चारों ओर लम्बे-लम्बे देवदारू के पेड़ और उनकी सहज भाव से उठती हुई उठान मन को मुग्ध कर रही थी। अब हम झील के किनारे पहुँच चुके थे। हरित मणि पर पड़ी हुई ओस-बिन्दु की

भांति उसका जल काईसे हरा हो गया था। बीच-बीचमें श्वेत तथा रक्त वर्ण के कमल जल से ऊपर उठे हुए मुग्ध भाव से सूर्य की ओर निहार रहे थे। कभी-कभी कोई पक्षी अपने अपरिचित किन्तु मधुर स्वर से उस शान्त वातावरण को गुञ्जरित कर देता था। झील के मध्य में कभी-कभी कोई मछली ऊपर आकर हमें देखकर शीघ्र ही जल में छिप जाती, मानों पुरुष को देखकर वह लज्जान्वित हो गई हो। कभी दूसरे किनारे से छप-छप की आवाज आ जाती।

('चम्बे की पहाड़ियों में' योगेन्द्र)

ठा० जगमोहनसिंह का 'श्यामा-स्वप्न', कृष्णबलदेव वर्मा का 'बुन्देलखण्ड का पर्यटन', मिश्रबन्धुओं का 'रूस-जापानी युद्ध' वर्णनात्मक निबन्ध हैं।

विवरणात्मक निबन्ध—गतिशील वस्तुओं का तथा काल और परिस्थितियों का जिनमें वर्णन रहे, वे निबन्ध विवरणात्मक कहलायेंगे। शिकार, पर्वतारोहण, दुर्गम प्रदेशों की यात्रा, नदियों के उद्‌गम स्रोत की खोज - इत्यादि साहसपूर्ण कृत्यों का वर्णन प्रायः ऐसे निबन्धों में रहता है। इनमें भी अधिकतर व्यास-शैली ही प्रयुक्त की जाती है। इतिहासिक घटनाओं, महापुरुषों की संक्षिप्त विवरणात्मक जीवनियों तथा यात्राओं का वर्णन भी ऐसे ही निबन्धों में रहता है।

उदाहरण

अब भी पंगी के सारे भगत ऋषिकुल से बागी नहीं हो गए हैं, विवेकी पुरुष हर जगह होते ही हैं। किन्तु ब्रह्मचारी का मन उचट गया है। आज ऋषिकुल सूना है। महीने-भर के भीतर ही उन्होंने भैरवी को पितृ-कुल भेज दिया। ३०-३१ मई को वह मुझसे मिले। उसी समय तीर्थ-आविष्कार की बात उन्होंने की थी। ११ जुलाई को फिर आए। कह रहे थे 'पाण्डव-तीर्थ' पर मंदिर बनाने का प्रबन्ध कर आया हूँ। 'आजकल आदमी कहीं मिल रहे हैं। अब कैलाश की परिक्रमा करने जा रहा हूँ।' सच्चे कैलाश की नहीं, झूठे कैलाश की, जो मेरे कमरे की खिड़की से इस समय भी दिखाई दे रहा है।

('घुमक्कड़ों का समागम' राहुल)

विचारात्मक या विवेचनात्मक निबन्ध—इसमें बौद्धिक-विवेचन की

प्रधानता रहती है। दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा मनोविज्ञानिक आदि विषयों की विवेचना ऐसे ही निबन्धों में रहती है। ऐसे निबन्धों के लिए गम्भीर अध्ययन, मनन और जीवन में प्राप्त गम्भीर अनुभवों की आवश्यकता होती है। लेखक की वैयक्तिक अनुभूतियाँ जितनी विस्तृत होंगी उसका जीवन का अध्ययन जितना पूर्ण होगा, उतने ही ये निबन्ध अधिक सफल हो सकेंगे। तर्क के साथ-साथ इनमें भावना का भी कभी-कभी मिश्रण रहता है। इमर्सन तथा कार्लाइल इत्यादि विश्व-विख्यात निबन्ध-लेखकों के निबन्धों में इसी प्रकार का बौद्धिक आध्यात्मिक विवेचन रहता है। हमारे यहाँ सर्व श्री आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, जैनेन्द्रकुमार तथा नलिनी मोहन सान्याल इत्यादि ने बहुत ऊँचे विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं।

विचारात्मक निबन्ध व्यास-शैली के अतिरिक्त समास-शैली में भी लिखे जाते हैं। समास-शैली में संक्षिप्तता को अधिक महत्त्व दिया जाता है अर्थात् थोड़े-से-थोड़े शब्दों में अधिक-से-अधिक विचार व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

द्विवेदी जी के निबन्ध अधिकतर व्यास-शैली में लिखे गए हैं, आचार्य शुक्ल के निबन्धों में समास-शैली का आधिक्य होता है। नीचे विचारात्मक निबन्धों की दोनों शैलियों के उदाहरण दिये जाते हैं :

विचारात्मक-निबन्धों की व्यास-शैली

> कविता में कुछ-न-कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्ध-सभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के खास-खास स्थलों का स्त्रियों पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना पढ़े-लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता। हजारों वर्षों से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृतिक बातों का वर्णन बहुत-कुछ अब तक हो चुका है, जो नये-नये कवि होते हैं वे उलट-फेर से प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं। इसी से अब कविता कम हृदय-ग्राहिणी होती है।

(पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी)

विचारात्मक निबन्धों की समास शैली

प्रेम और श्रद्धा में अन्तर यह है कि प्रेम प्रिय के स्वाधीन-

कार्यों पर उतना निर्भर नहीं। कभी-कभी किसी का रूप-मात्र, जिसमें उसका कुछ भी हाथ नहीं, उसके प्रति प्रेम होने का कारण होता है, पर श्रद्धा ऐसी नहीं। किसी की सुन्दर आँख या कान देखकर उसके प्रति श्रद्धा नहीं उत्पन्न होगी, प्रीति उत्पन्न हो सकती है। प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य हमें अच्छा लगे,पर श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य जान-बूझकर अपने को किसी ऐसी स्थितिमें डाले जिससे किसी जन-समुदाय का सुख व भला हो। श्रद्धा व्यापार -स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकान्त। प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार। किसी मनुष्य से प्रेम रखने वाले दो ही मिलेंगे, पर उस पर श्रद्धा रखने वाले सैकड़ों, हजारों लाखों क्या करोड़ों मिल सकते हैं।"

× × ×

"काव्य के दो स्वरूप हमें देखने में आते हैं –अनुकृत या प्राकृत तथा अतिरंजित या प्रगति। कवि की भावुकता की सच्ची झलक वास्तव में प्रथम स्वरूप में ही मिलती है। जीवन के अनेक मर्म पक्षों की वास्तविक अनुभूति, जिसके हृदय में समय-समय पर जगती रहती है, उसी से ऐसे रूप-व्यापार हमारे सामने लाते बनेगा, जो हमें किसी भी भाव में मग्न कर सकते हैं और उसी से उस भाव की ऐसी स्वाभाविक रूप में व्यंजना भी हो सकती है जिसको सामान्यत. सबका हृदय अपना सकता है अपनी व्यक्तिगत सत्ता की अलग भावना से हटाकर, निज के योग-क्षेम के सम्बन्ध से युक्त करके, जगत् की वास्तविक दशाओं में, जो हृदय समय-समय पर रमता है, वही सच्चा कवि-हृदय है।"

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

भावात्मकता निबन्ध—भावात्मक निबन्धों का सम्बन्ध हृदय से है। इनमें बुद्धि-तत्त्व की अपेक्षा भाव-तत्त्व की प्रधानता होती है, इसी कारण इनमें रागात्मकता भी अधिक रहती है। इन्हें कवित्वपूर्ण निबन्ध भी कहा जा सकता है। भावात्मक निबन्धों में एक विशेष सजीवता, तड़प और हार्दिक सौन्दर्य विद्यमान रहता है।

भावात्मक निबन्धों में दो प्रकार की शैलियाँ प्रयुक्त की जाती हैं—एक तो

विक्षेप शैली और दूसरी धारा शैली। विक्षेप शैली में कहीं-कहीं कुछ दूर तक सम्बद्ध, बीच-बीच में उखड़े-उखड़े वाक्य, कहीं वाक्यों के किसी मर्मस्पर्शी अंश की आवृत्ति तो कहीं अधूरे छूटे हुए प्रसंग रहते हैं। विक्षेप शैली के विपरीत धारा शैली में भावों का प्रकटीकरण प्रवाहमय होता है। उसकी गति में एक विशिष्ट तारतम्य रहता है, जो कि सम्पूर्ण वाक्यों को एक सूत्र में पिरोए रखता है।

महाराजकुमार डॉक्टर रघुवीरसिंह के भावात्मक निबन्ध अधिकांश में विक्षेप शैली में ही लिखे गए हैं। पद्मसिंह शर्मा तथा अध्यापक पूर्णसिंह के निबन्धों में धारा शैली के दर्शन होते हैं। अनेक लेखकों के भावात्मक निबन्धों में इन दोनों शैलियों का मिश्रण भी विद्यमान रहता है।

उदाहरण

भावात्मक निबन्धों की विक्षेप शैली

> आज भी उन सफेद पत्थरों से आवाज आती है—मैं भूला नहीं हूँ। आज भी उन पत्थरों से न जाने किस मार्ग से होती हुई पानी की एक बूँद प्रति वर्ष उस सुन्दर साम्राज्ञी की कब्र पर टपक पड़ती है, वे कठोर निर्जीव पत्थर भी प्रति वर्ष उस सुन्दर साम्राज्ञी की मृत्यु को याद कर, मनुष्य की उस करुण-कथा के इस दुःखान्त को देखकर, पिघल जाते हैं और उन पत्थरों में से अनजाने एक आँसू ढुलक पड़ता है। आज भी यमुना नदी की धारा-समाधि को चूमती हुई भग्न मानव-जीवन की यह करुण कथा अपने प्रेमी सागर को सुनाने दौड़ पड़ती है। आज भी उस भग्न-हृदय की व्यथा को याद कर कभी-कभी यमुना नदी का हृदय-प्रदेश उमड़ पड़ता है और और उसके वक्षःस्थल पर भी आँसुओं की बाढ़ आ जाती है।
>
> (महाराजकुमार डॉक्टर रघुवीरसिंह)

भावात्मक निबन्धों की धारा शैली

> आचरण के आनन्द नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते हैं। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है। नये-नये विचार स्वयं ही प्रगट होने लगते हैं। सूखे काष्ठ सचमुच हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर जाता है। नये नेत्र मिलते हैं। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री-भाव

फूट पड़ता है। सूर्य, जल, वायु, पुष्प, घास-पात, नर-नारी और बालक तक में एक अश्रुतपूर्व सुन्दर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।

(अध्यापक पूर्णसिंह)

७. निबन्धों का विकास : पश्चिम में

हिन्दी में निबन्धों का प्रचलन आधुनिक युग में अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से हुआ है, अतः हिन्दी के निबन्धों की विविध शैलियों तथा शैली-निर्माताओं का ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व हमारे लिए यह उचित होगा कि हम पाश्चात्य-साहित्य के निबन्ध-लेखकों का कुछ परिचय प्राप्त कर लें।

जैसा कि हम पीछे लिख आए हैं कि आधुनिक साहित्यिक निबन्धों का प्रचलन फ्रेंच लेखक मौनटेन से हुआ है। निबन्ध-लेखक की दृष्टि से मौनटेन एक आदर्श व्यक्ति था। वह हास्यप्रिय, सत्यान्वेषी, सहृदय, प्रेमास्पद और मनोविज्ञानिक सत्यों के अन्वेषण में उन्मुख था। इसी कारण मौनटेन के निबन्धों में सरलता, आत्मीयता और सहानुभूति कूट-कूटकर भरी हुई है। यद्यपि उनमें अभिव्यक्ति और विचार सुसबद्ध और शृङ्खलायुक्त नहीं।

उनमें एक ही साथ अनेक विषयों की विवेचना रहती थी। वस्तुतः उसके निबन्धों का वातावरण ठीक वैसा ही होता था जैसा कि मित्रों के पारस्परिक वार्तालाप के समय होता है। जिस प्रकार पारस्परिक वार्तालाप में विषय में परिवर्तन होता रहता है, उसी प्रकार उसके निबन्धों में भी विषय परिवर्तित होता रहता था। इतना होते हुए भी उसमें पर्याप्त सरसता, भावमयता तथा अनुपम आकर्षण विद्यमान रहता था।

मौनटेन के आदर्शों का अनुसरण विविध देशों में हुआ। इंगलैंड में सन् १६०० के लगभग बेकन ने निबन्ध लिखने प्रारम्भ किये। बेकन और मौनटेन के व्यक्तित्व तथा आदर्शों में पर्याप्त अन्तर था, इसी कारण दोनों की निबन्ध-लेखन-शैली में बहुत अन्तर है। मौनटेन के विपरीत बेकन के निबन्धों में तार्किक विवेचन, विज्ञानिक विश्लेषण तथा बौद्धिकता की प्रधानता है। उसने मानव-जीवन की सूक्ष्म विवेचना की है, किन्तु उस विवेचना से अपने व्यक्तित्व को पृथक् रखने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः बेकन एक साहित्यिक की अपेक्षा दार्शनिक और विचारक अधिक था। इसी कारण उसके निबन्धों में मौनटेन की-सी आत्मीयता, स्वच्छन्दता और सरसता नहीं आ पाई। उसके निबन्धों में ऐसे बहुत से तथ्य मिल जायँगे, जिनका उसने पर्याप्त गम्भीर अनुशीलन तो अवश्य

किया होगा, किन्तु उन्हें अनुभव नहीं किया होगा। इसी कारण बेकन की अपेक्षा मौनटेन की निबन्ध-लेखन-शैली को ही अधिक साहित्यिक और अनुकरण करने योग्य समझा जाता है। बेकन के निबन्धों का एक प्रभाव यह भी पड़ा कि उसके पश्चात् निबन्धों में धीरे-धीरे विचारों की विशृङ्खलता मिटने लगी और उनमें सबद्धता आने लगी।

कौडले की निबन्ध-शैली मौनटेन के आदर्शों की ही अनुगामिनी है। उसके निबन्ध उसके अपने व्यक्तित्व से पूर्ण हैं, उनमें उसकी आत्मा की प्रतिध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है। काउले के निबन्धों के विषय अमूर्त की अपेक्षा मूर्त अधिक हैं। इसी कारण उनमें सजीवता भी अधिक है। विलियम टेम्पल, स्टील, एडिसन तथा डॉ० जानसन के प्रादुर्भाव के साथ ही अंग्रेजी निबन्धों में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। विलियम टेम्पल भी मौनटेन के आदर्शों का ही अनुगामी था, उसके निबन्धों की शैली अपेक्षाकृत विवेचनात्मक अधिक थी। इसी समय 'स्पैक्टेटर' तथा 'टैटलर' आदि मासिक तथा साप्ताहिक पत्रों में निबन्धों का प्रचलन हुआ। अतः एक बड़ी संख्या में निबन्धों की रचना प्रारम्भ हुई, जिनमें सामाजिक रूढ़ियों, जड़ताओं और कुरीतियों का तीव्र विरोध किया जाता था। स्टील तथा एडीसन का सम्बन्ध 'स्पैक्टेटर' से था। इनकी शैली में पर्याप्त साम्य था। इन लेखकों ने प्रायः एक विशिष्ट श्रेणी के व्यक्तियों को चित्रित किया है, और अनेक बार चारित्रिक समस्याओं का भी अच्छा विवेचन किया है। इनकी शैली बहुत सजीव और सरस थी, उसमें वार्तालाप की-सी स्वाभाविकता रहती थी। कहीं-कहीं व्यंग्य और विनोद का भी मिश्रण रहता था। जनता में इस जोड़ी को सर्वप्रियता प्राप्त थी। डॉ० जानसन एक विशिष्ट तिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। उनके निबन्ध भी उनके व्यक्तित्व के अनुरूप हैं। उनकी निबन्ध-शैली पर्याप्त गम्भीर है, स्टील तथा एडीसन का-सा हास्य-विनोद उसमें नहीं।

राबर्ट लुई स्टीवन्सन भी प्रथम श्रेणी का निबन्धकार था, उसके निबन्धों में उसका व्यक्तित्व बहुत मनोहर तथा भव्य रूप में अभिव्यक्त हुआ है। उसमें मानवीय जीवन के समुचित विकास के लिए पुस्तकाध्ययन की अपेक्षा जीवन में अनुभव प्राप्त करने पर अधिक बल दिया है। १६ वीं शताब्दी के अन्य प्रसिद्ध निबन्ध-लेखकों में गोल्डस्मिथ, हैज़लिट, रस्किन, इमर्सन, मैकाले, ले हण्ट, मैथ्यू आर्नल्ड तथा चार्ल्स लेम्ब इत्यादि प्रमुख हैं।

गोल्डस्मिथ के निबन्धों में उसकी वैयक्तिक विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। उसकी शैली का विकसित रूप हम चार्ल्स लेम्ब में प्राप्त करते हैं।

चार्ल्स लेम्ब सर्वोत्कृष्ट निबन्ध-लेखक माना जाता है। उसकी उत्कृष्टता का एक बहुत बड़ा कारण उसकी निश्छलता है। वे अपने निबन्धों में अपने स्वप्नों, कल्पनाओं तथा आदर्शों को उसी रूप में अभिव्यक्त करता है जैसा कि वह उन्हें अनुभव करता है। उसका सम्पूर्ण जीवन उसमें सजीव हो उठा है। उसके निबन्धों में इतनी आत्मीयता है कि हम केवल उसी के बल पर उसकी उत्कृष्टता को स्वीकार कर सकते हैं। उसका स्वभाव अद्वितीय था, उसके पठन-पाठन और अनुशीलन का ढंग भी अद्‌भुत था, उसका निबन्ध-कला पर पूर्ण और अनुपम अधिकार था। हैज़लिट के निबन्ध भी बहुत सजीव हैं। उनमें वर्णन की प्रधानता होती है। किन्तु उसकी वर्णन-शैली बहुत मधुर और प्रभावोत्पादक है। वैयक्तिक उत्साह तथा कल्पना की मात्रा उनमें पर्याप्त होती है। रस्किन, इमर्सन, मैकाले इत्यादि लेखकों ने यद्यपि निबन्ध-लेखन-विषयक प्राचीन आदर्शों को स्वीकार अवश्य किया है, किन्तु उन्होंने अपनी वैयक्तिक शैलियों का स्वतन्त्र विकास भी किया है। जहाँ रस्किन के निबन्धों में पाण्डित्य और चमत्कार की प्रधानता है, वहाँ इमर्सन के निबन्धों में आदर्शवादी अध्यात्म की। किन्तु इन दोनों लेखकों में भावुकता और अन्य प्रकार की वैयक्तिक विशेषताएँ पर्याप्त उपलब्ध होती हैं, जो कि इनके निबन्धों में भी स्पष्ट प्रतिबिम्बित हुई हैं। इन लेखकों ने निबन्ध के प्राचीन आकार को स्थिर रखा है। वस्तुतः इमर्सन, रस्किन और मैथ्यू आर्नल्ड इत्यादि के निबन्ध अंग्रेजी-साहित्य में विशेष महत्त्व रखते हैं।

मैकाले ने बृहदाकार निबन्धों की रचना की है। उसकी शैली में एक विशेष चमत्कार और प्रवाह है, किन्तु उसने कल्पना का अधिक आश्रय लेकर अनेक परिस्थितियों तथा तथ्यों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। इसी कारण मैकाले तथा उसकी कोटि के अन्य लेखक निबन्ध-क्षेत्र में विशेष आदर प्राप्त न कर सके। कार्लाइल के निबन्ध साहित्यिक आलोचना से सम्बन्धित हैं। उसके निबन्धों में उसकी भावुकता विशेष रूप से चमत्कृत हुई है। कार्लाइल एक प्रतिभा-सम्पन्न आलोचक था, इसी कारण उसके निबन्धों में कहीं-कहीं उसका आलोचक तथा उपदेशक का रूप अधिक प्रखर हो गया है।

अत्याधुनिक निबन्धकारों में प्रो० हेराल्ड लास्की, एच० जी० वेल्स०, तथा जी० के० चेस्टरटन विशेष प्रसिद्ध हैं। इन लेखकों के निबन्धों में उपदेशात्मकता कम और जीवन की गम्भीर आलोचना अधिक होती है। इधर प्रो० लिण्टमैन के निबन्ध भी देखने को मिले हैं, इनमें मानसिक वृत्तियों का बहुत सुन्दर विश्लेषण किया गया है। शैली भी आकर्षक है।

८. हिन्दी-साहित्य में निबन्धों का विकास

हिन्दी-गद्य का विकास भारतेन्दु युग में ही हुआ, और उसके साथ ही निबन्ध-लेखन की परम्परा का विकास भी प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भिक निबन्ध अधिकांश में मासिक या साप्ताहिक पत्रों के लिए ही लिखे गए थे, अतः वे आवश्यक रूप से ही संक्षिप्त थे। उस समय की सामाजिक और धार्मिक समस्याएँ ही प्रायः इन निबन्धों के विषय हैं। परन्तु ये लेखक प्रायः जिन्दादिल, सजीव और कल्पनाशील हैं। इसी कारण इनके निबन्धों में वैयक्तिक विशेषताओं, हास्य-विनोद तथा व्यंग्य इत्यादि का समावेश हो गया है। वे लोग प्रायः निबंध-लेखन की शैली से अपरिचित थे, अतः वे उन लम्बी-लम्बी भूमिकाओं से अपने निबन्धों का प्रारम्भ करते थे जिनका कि निबन्ध के विषय से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता था। भाषा भी अपरिपक्व और असंस्कृत थी। स्वभावततः उनकी लेखन-शैली में निबन्ध-कला की बहुत-सी विशेषताएँ सम्मिलित हो गई हैं जिनमें आत्मीयता, निश्छलता तथा विनोद और हास्य-व्यंग्य की भावनाएँ मुख्य हैं।

इस काल के निबन्ध-लेखकों में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, उपाध्याय बद्रीनारायण 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, पं० अम्बिकादत्त व्यास, बा० बालमुकुन्द गुप्त, पं० राधाचरण गोस्वामी इत्यादि प्रमुख थे। पं० महावीरप्राद द्विवेदी के प्रादुर्भाव के साथ ही हिन्दी-गद्य का परिमार्जन प्रारम्भ हुआ, और गद्य के विविध अंगों की समृद्धि के अनेक प्रयत्न किये जाने लगे। ि वेदी युग के निबन्धों का विषय की दृष्टि से पर्याप्त विस्तार हुआ। इस समय तक समाज में जागरण भी पर्याप्त हो चुका था, भारतेन्दु युग में अंकुरित देश भक्ति की भावनाएँ अब पर्याप्त विकसित हो चुकी थीं। विचारात्मक, भावात्मक तथा वर्णनात्मक सभी प्रकार के निबन्धों का प्रचलन हुआ। व्यंग्य-विनोद और चटपटेपन का स्थान गाम्भीर्य और विशद विवेचन ने लिया। समाज तथा धर्म की विवेचना के साथ जीवन की बहुमुखी आलोचना भी प्रारम्भ हुई। साहित्य और दर्शन की गम्भीर समस्याओं पर लिखने के सफल प्रयत्न किये गए। निबन्ध की नवीन शैली का इस युग में पर्याप्त विकास हुआ।

द्विवेदी जी के अतिरिक्त इस काल के लेखकों में पं० पद्मसिंह शर्मा, माधवप्रसाद मिश्र, पं०चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बा०गोपालराम गहमरी तथा व्रजनन्दन सहाय आदि प्रमुख हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा के निबन्धों में भावुकता की प्रधानता होती थी। उन्होंने बड़ी ही मार्मिक और कभी-कभी चटपटी भाषा में अपने भावों

को अभिव्यक्त किया है। मिश्र जी जोशीले लेखक थे। उन्होंने अधिकतर पर्वों तथा हिन्दू त्योहारों पर ही लिखा है। इनके निबन्ध अधिकतर भावात्मक शैली में लिखे गए हैं। नाटकीय तत्त्वों के समावेश से मिश्र जी के निबन्ध पर्याप्त सजीव हैं। गुलेरी जी के निबन्ध भी भावात्मक ही कहे जायँगे। उनमें भाषा का चमत्कार विशेष दृष्टिगोचर होता है। बा० व्रजनन्दनसहाय ने अनुभूति-प्रधान निबन्ध लिखे हैं, परन्तु वे भावात्मक श्रेणी के अन्तर्गत ही गृहीत किये जाते हैं। सजीवता और स्वाभाविकता आपके निबन्धों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। भाषा भी आपकी बहुत मनोहारी है।

इन लेखकों के अतिरिक्त पं० गोविन्दनारायण मिश्र तथा मिश्र बन्धुओं ने भी बहुत अच्छे निबन्ध लिखे हैं।

डा० श्यामसुन्दरदास और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने यद्यपि द्विवेदी युग में ही लिखना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु वास्तव में वे द्विवेदी युग में और आधुनिक युग के बीच एक कड़ी का कार्य करते हैं आप दोनों के निबन्ध अधिकांश में विचारात्मक हैं। जिस किसी विषय पर आपने लेखनी उठाई है उसका आपने पर्याप्त गम्भीर विवेचन किया है। द्विवेदी युग और आधुनिक युग के निबन्धों की शैली में पर्याप्त अन्तर है। विवेचित विषय भी अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर हैं। निबन्ध-कला की दृष्टि से भी आधुनिक युग के निबन्धकारों के निबन्ध पर्याप्त उत्कृष्ट हैं। अध्यापक पूर्णसिंह, गुलाबराय, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा, श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सियारामशरण गुप्त, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नलिनीमोहन सान्याल, जयशंकर प्रसाद, शान्तिप्रिय द्विवेदी, बनारसीदास चतुर्वेदी, सद्गुरुशरण अवस्थी, जैनेन्द्र-कुमार डॉ० नगेन्द्र, महादेवी वर्मा, डॉ० सत्येन्द्र, तथा कन्हैयालाल सहल इत्यादि आज के उत्कृष्ट निबन्धकार हैं।

अध्यापक पूर्णसिंह के निबन्धों की संख्या यद्यपि थोड़ी है, किन्तु उन्होंने उन थोड़े से निबन्धों से ही हिन्दी-निबन्धकारों में अपना विशेष स्थान बना लिया है। आधुनिक निबन्ध अधिकांश में साहित्यिक और आलोचात्मक हैं। उनमें लेखन का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित होता है। अध्ययन और विषय-विवेचन की गम्भीरता उनसे स्पष्ट प्रकट हो जाती है। महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह के निबन्धों में भावुकता की प्रधानता होती है, उनकी वर्णन-शैली बहुत चित्ताकर्षक होती है। सुश्री महादेवी वर्मा के निबन्ध उनकी वैयक्तिक विशेषताओं को प्रकट करते हैं। इसी प्रकार श्री सियारामशरण गुप्त के निबन्धों ने भी व्यक्तित्व और आत्मीयता की प्रधानता रहती है।

आधुनिक युग में लेखकों की दृष्टि हमारी सामाजिक, बौद्धिक और मनोविज्ञानिक समस्याओं की ओर भी जा रही है। कुछ लेखकों ने इन विषयों की गम्भीर विवेचन भी की है। व्यंग्य और विनोद-प्रधान शैली को लेकर भी कुछ लेखक इस क्षेत्र में बढ़ रहे हैं। किन्तु अभी तक भिन्न-भिन्न आकर्षक वैयक्तिक शैलियों का पूर्ण विकास नहीं हो सका।

६. हिन्दी के कुछ प्रमुख निबन्धकार : एक समीक्षा

पं० बालकृष्ण भट्ट ने अपने पत्र 'हिन्दी-प्रदीप' द्वारा निबन्धों का श्रीगणेश किया। भट्ट जी के निबन्ध सामाजिक, साहित्यिक और नैतिक इत्यादि अनेक कार के विषयों से सम्बन्धित हैं। आकार में वे बहुत बड़े नहीं। भावाभिव्यक्ति अच्छी है, किन्तु उनमें प्रयत्नशीलता लक्षित नहीं की जा सकती। भट्ट जी बेकन से प्रभावित थे। इसी कारण वे विषय की विवेचना करते हुए पर्याप्त गम्भीर होते थे। उनका प्रेरणा-स्रोत सदा भारतीय-साहित्य और दर्शन रहा। भट्ट जी के निबन्धों में उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित हुआ है। उसमें मनोरंजकता पर्याप्त है। भाषा आपकी संस्कृत-गर्भित है, किन्तु यत्र-तत्र उर्दू, अंग्रेजी तथा फारसी के शब्दों का प्रयोग किया गया है, इसी कारण वह पूर्ण परिष्कृत नहीं, वाक्य भी असंगठित हैं। हिन्दी-निबन्ध-लेखकों में आपका विशेष स्थान है।

पं० प्रतापनारायण मिश्र एक विनोदशील प्रकृति के व्यक्ति थे। यह प्रकृति उनके सम्पूर्ण निबन्धों में प्रतिबिम्बित होती हुई परिलक्षित की जा सकती है। उन्होंने साधारण-से-साधारण विषयों को लेकर बहुत सुन्दर, सफल और महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखे हैं। उनमें गम्भीरता भी है, किन्तु हास्य, व्यंग्य, विनोद आदि का बड़ी कुशलता से समावेश किया गया है। मिश्र जी के निबन्धों में बहुत स्वाभाविकता है। उनका वातावरण ऐसा ही होता है जैसा कि एक मित्र-मण्डली की बातचीत का। क्योंकि मिश्र जी का अध्ययन बहुत गम्भीर था, उन्होंने अनेक विषयों का चिन्तन-मनन भी पर्याप्त किया था, इस कारण उनके निबन्धों में उनके जीवन-दर्शन का विवेचन भी मिल जाता है। मिश्र जी की भाषा में आलंकारिकता का आधिक्य है लोकोक्तियों तथा मुहावरों का सुन्दर प्रयोग किया गया है। अवधी इत्यादि के शब्दों के प्रयोगों के फलस्वरूप उनकी भाषा में परिष्कार नहीं आ सका। मिश्र जी के निबन्ध बहुत रोचक और सरस हैं।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी-गद्य के निर्माता हैं। हिन्दी-साहित्य में उनका महत्त्व भी इसी दृष्टि से है। निबन्ध-लेखन की दृष्टि से उनमें मौलिकता

का अभाव है, किन्तु उन्होंने भाषा-शैलियों का सृजन किया है। निबन्ध-लेखन में भी उन्होंने तीन प्रकार की विभिन्न शैलियों का आश्रय ग्रहण किया है। वर्णनात्मक निबन्धों के लिखने में अपनाई गई उनकी शैली बहुत सरल है। उसे वस्तुतः कहानी कहने की शैली कहा जा सकता है। इसमें हास्य और व्यंग्य का हल्का पुट है, यह प्रयत्न किया गया है कि कठिन-से-कठिन विषय को भी सरल-से-सरल ढंग से कहा जाय। क्योंकि उनका लक्ष्य सदा साधारण पाठक ही था। ऐसी रचनाओं में हमें उनका व्यक्तित्व दृष्टिगत नहीं होता। भाषा उनकी बहुत सरल है, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी आदि के शब्दों को उदारतापूर्वक ग्रहण किया गया है।

विचारात्मक तथा आलोचनात्मक निबन्धों में गाम्भीर्य है, विनोद का अभाव है। भाषा भी व्यवस्थित है और उसका झुकाव तत्समता की ओर है। वाक्य छोटे और गठे हुए हैं। तीसरी प्रकार की शैली संस्कृत-गर्भित तथा अलंकृत है। उसमें कुछ दुरूहता भी है। जहाँ कहीं व्यंग्य और विनोद का समावेश हुआ है वहाँ भाषा भी व्यावहारिक हो गई है।

द्विवेदी जी के निबन्ध विविध विषयों पर लिखे गए हैं। उनमें इतिवृत्तात्मकता के सर्वत्र दर्शन हो जाते है।

डा० **श्यामसुन्दरदास** हिन्दी के उत्कृष्ट निबन्ध-लेखकों में से हैं। आपके निबन्ध विचारात्मक हैं, उनमें साहित्य, कला और मानव-जीवन के विविध अंगों की बहुत मार्मिक विवेचना की गई है। आपका विशाल अध्ययन और मनन उनमें विशेष रूप से परिलक्षित किया जा सकता है। डॉ० साहब के निबन्धों में द्विवेदी जी के निबन्धों की भाँति व्यक्तित्व का अभाव है। उनकी शैली अपनी अवश्य है, किन्तु उनका व्यक्तित्व उनके निबन्धों मे प्रतिबिम्बित नहीं हुआ। आपके निबन्धों के विषय पर्याप्त गम्भीर हैं, उनकी विवेचना में पुनरावृत्ति का दोष है, उसका कारण शायद उनका उद्देश्य पाठकों के लिए इन गम्भीर विषयों को सरल बनाना ही हो। किन्तु उनके निबन्ध आचार्य शुक्ल की भांति गम्भीर मनन से युक्त नहीं। उनकी गहराई कम है।

आपकी भाषा परिमार्जित है। उसमें संस्कृत शब्द तथा पदावली का उदारतापूर्वक प्रयोग किया गया है। विदेशी शब्द नहीं अपनाए गए। परन्तु बाबूजी की भाषा में क्लिष्टता नहीं आ पाई, क्योंकि वाक्य छोटे-छोटे हैं, और तत्सम शब्दों को भी उन्होंने तद्भव रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। इस कारण विषय भी स्पष्ट और बोधगम्य है। जहाँ विषय की सरलता है, वहाँ भाषा की क्लिष्टता भी दृष्टिगोचर नहीं होती।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने दो प्रकार के निबन्ध लिखे हैं—

विचारात्मक और साहित्यिक। शुक्ल जी की शैली गम्भीर है। उनके निबन्ध सर्वथा मौलिक हैं। शुक्लजी वस्तुतः एक स्वतंत्र चिन्तक, मौलिक और गम्भीर विचारक तथा मनस्वी पण्डित थे। यही कारण है कि उनके निबन्ध हिन्दी-साहित्य में विशेष महत्त्व के उपयुक्त समझे जाते हैं। शुक्ल जी के निबन्धों का संग्रह 'चितामणि' नाम से प्रकाशित हो चुका है। इसके प्रारम्भिक निबन्ध क्रोध, चिन्ता, श्रद्धा, करुणा तथा ग्लानि इत्यादि मनोविकारों से सम्बन्धित हैं। उपर्युक्त मनोवृत्तियों का इनमें विशद विवेचन किया गया है। कुछ आलोचकों का कथन है कि ये निबन्ध मनोविज्ञानिक अधिक हैं और साहित्यिक कम, किन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं। शुक्ल जी ने समाज-गत व्यावहारिक बातों का ध्यान रखते हुए ही इनकी विवेचना की है, इस कारण ये निबन्ध विचारात्मक कहलायँगे। साहित्यिक निबन्धों में सैद्धान्तिक अलोचना से सम्बन्धित कुछ सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है।

शुक्ल जी के निबन्धों में बुद्धि और हृदय का जैसा सामंजस्य है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी निबन्ध-लेखन-शैली वैयक्तिक विशेषताओं से युक्त है। बाबू श्यामसुन्दरदास की शैली की भांति निर्वैयक्तिक नहीं। हास्य, व्यंग्य और विनोद का उसमें बहुत शिष्टता से समावेश किया गया है। उत्कृष्ट निबन्धों की सम्पूर्ण विशेषताएँ उनमें विद्यमान हैं। भाषा अत्यन्त परिष्कृत और प्रौढ़ है। शब्दों का चुनाव आवश्यकतानुसार उर्दू और अंग्रेजी में भी किया गया है। भाषा का प्रत्येक वाक्य गठा हुआ और सुसम्बद्ध है, एक भी वाक्य की अनुपस्थिति सम्पूर्ण सौन्दर्य को नष्ट कर देगी। कहीं-कहीं तार्किकता अधिक है और रमणीयता कम। पर हास्य और व्यंग्य के कारण सरसता का अभाव कहीं नहीं। संस्कृत पदावली से युक्त वाक्य तो गद्य-गीत की रमणीय पंक्तियों के सदृश हैं। विचारात्मक निबन्धों की भाषा में तद्भव शब्द अधिक प्रयुक्त किये गए हैं, साहित्यिक निबन्धों की भाषा क्लिष्ट किन्तु प्रभावोत्पादक है। बहुत से वाक्य तो सूक्तियों के सदृश अपनी स्वतंत्र सत्ता भी रखते हैं।

अध्यापक पूर्णसिंह के निबन्ध अधिकांश में भावात्मक हैं। यह भावुकता आध्यात्मिकता और धार्मिकता से सम्बन्धित है। आपने विभिन्न धर्मों का बहुत विस्तृत अध्ययन किया है, अतः आपकी आध्यात्मिक भावनाएँ बहुत उदार हैं। आपने यद्यपि बहुत थोड़े निबन्ध लिखे हैं, किन्तु जितने भी लिखे हैं वे सब शैली, भावाभिव्यक्ति की शक्तिमत्ता और प्रभावोत्पादकता के कारण बहुत प्रसिद्धि और प्रशंसा प्राप्त कर चुके हैं। आपके अधिकांश निबन्धों की भाषा काव्यमय है, उसमें क्लिष्टता नहीं। वे अलंकृत हैं, किन्तु अस्वाभाविक नहीं। विषय को

मूर्तिमान बनाने की आपमें अद्भुत क्षमता है। आपके भावों मेंवेगवान प्रवाह है, अरबी, फ़ारसी और उर्दू के शब्द भी कहीं-कहीं प्रयुक्त किये गए हैं। वाक्य सुसंगठित सुसम्बद्धित हैं। आपको समाज के निम्न वर्गसे विशेष स्नेह है,किसानों और मज़दूरों के जीवन से तो आपको विशेष ममत्व है।

आपका व्यक्तित्व अत्यन्त मधुर है, और यह व्यक्तित्व की मधुरिमा ही उनके सब निबन्धों में व्यक्त हुई है।

बाबू गुलाबराय भी हिन्दी-साहित्य के प्रमुखतम निबन्धकार हैं। आपकी शैली डॉ० श्यामसुन्दरदास और आचार्य शुक्ल की शैली के मिश्रण से बनी है। आपने जीवन, समाज और साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है, अतः आपके निबन्धों के विषय भी इन्हीं क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं। आपकी विवेचना-शैली सरल और बोधगम्य है। बाबू जी ने विचारात्मक और भावात्मक दोनों ही प्रकार के निबन्ध लिखे हैं। दोनों ही प्रकार के निबन्धों में आपने मनोविज्ञानिक ढंग से विषय का प्रतिपादन किया है। विचारात्मक निबन्धों की भाषा में संस्कृत-शब्दों का बाहुल्य है, प्रचलित मुहावरे भी प्रयुक्त किये गए हैं। अंग्रेजी तथा संस्कृत के वाक्य, मुहावरे तथा श्लोक उद्धरण के रूप में रहते हैं। कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। कुछ निबन्धों में डॉ० श्यामसुन्दरदास की-सी संस्कृत-पदावली को अपनाया गया है। भावात्मक निबन्धों की भाषा अपेक्षाकृत सरल है। किन्तु काव्य की रमणीयता उसमें व्याप्त रहती है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का प्राचीन और नवीन साहित्य का बहुत गम्भीर अध्ययन है। इसी कारण जहाँ वे शास्त्रीय विवेचन का आश्रय ग्रहण करते हैं वहाँ वे आधुनिक युग के आदर्शों और परिस्थितियों को भी नहीं भूलते। आपके निबन्ध अधिकांशतः विचारात्मक हैं, उनमें आपका विशद अध्ययन और प्राचीन साहित्य की गवेषणा स्पष्ट परिलक्षित होती है। द्विवेदी जी के निबन्धों में बौद्धिकता का प्राधान्य है, किन्तु भावुकता को आपने सर्वथा त्याग नहीं दिया। इसी कारण आपके निबन्ध शुष्क नहीं, अपितु सरस और आकर्षक हैं। आपका व्यक्तित्व उनमें स्पष्ट झलकता है। द्विवेदी जी की भाषा और शैली आकर्षक है, वह पाठक को एकाएक आकृष्ट कर लेती है। भाषा संस्कृत-गर्भित है, किन्तु उसमें डॉ० श्यामसुन्दरदास की-सी रूक्षता नहीं। प्रभावोत्पादन की आपमें अद्भुत क्षमता है। विचारों की मौलिकता और स्वतंत्रता आपकी प्रमुख विशेषता है।

सात
गद्य-गीत

१. गद्य-गीत का स्थान

गद्य-गीत साहित्य में आज स्वतन्त्र स्थान और विवेचन का अधिकारी है, क्योंकि विगत कुछ वर्षों में इसने एक ऐसी विशिष्ट शैली और रूप को धारण कर लिया है, जो कि उसे साहित्य के दूसरे अंगों से पृथक् ला खड़ा करता है। यद्यपि कुछ समालोचक गद्यबद्ध काव्य को निबन्धों के अन्तर्गत ही स्थान देते हैं, और गद्य-गीतों को भावात्मक निबन्ध स्वीकार करते हैं। किन्तु आज के गद्य-गीतों में भाव और अनुभूति का आधिक्य है, और इसी कारण वे निबन्धों के अन्तर्गत नहीं रखे जा सकते।

२. स्वरूप

गद्य-गीतों का स्वरूप क्या हो इसका विवेचन करते हुए हिन्दी के सुप्रसिद्ध गद्य-गीतिकार श्री तेजनारायण काक 'क्रांति' लिखते हैं: गद्य-काव्य, मेरे विचार में, निबन्ध का सबसे विकसित रूप होने के कारण गद्य का भी पूर्ण विकसित, और सबसे नवीन और ठोस स्वरूप है। इससे आगे गद्य में हमारी अभिव्यंजन-शैली का और अधिक विकास होना कदाचित असम्भव है। अन्यत्र श्री काक लिखते हैं: मानव-हृदय में प्रायः दो प्रकार के भाव उठा करते हैं। कुछ भाव बहुत धीरे-धीरे उत्पन्न होते हैं, जिनके प्रभाव से हृदय में एक अत्यन्त कोमल स्फुरण-सा होने लगता है। ऐसे ही भावों को पद्यमय कविता में व्यक्त किया जा सकता है। किन्तु कुछ भाव ऐसे भी होते हैं, जो आँधी की तरह उत्पन्न होते हैं और जिनका प्रवाह पहाड़ी नाले के वेग से भी अधिक द्रुत और प्रचण्ड होता है। ऐसे भाव गद्य-कविता में व्यक्त किये जा सकते हैं, क्योंकि इन भावों को पद्य बद्ध करने की चेष्टा में उनके खो जाने का भय रहता है। मुन्शी प्रेमचन्द एक स्थान पर लिखते हैं: हमारा खयाल

है,........कि गद्य-गीत स्वतन्त्र वस्तु है और कवि जो-कुछ पद्यों में नहीं कह पाता, वह गद्य-गीतों में कहता है। कविता भावना-प्रधान रचना है, और गद्य-गीत अनुभूति-प्रधान।

वस्तुतः गद्य-गीत, गद्य और पद्य के मध्य की वस्तु है। यह उसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है। गद्य-गीत में पद्य की भावात्मकता अनुभूति-प्रवणता और रसात्मकता रहती है। साथ ही उसमें गद्य की स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता भी विद्यमान रहती है। गद्य-गीत का निर्माण गद्य और पद्य के आदान-प्रदान से हुआ है। गद्य ने पद्य से कुछ ग्रहण किया और पद्य ने गद्य को कुछ दिया, इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप साहित्य में भावाभिव्यंजन की एक नवीन शैली का प्रादुर्भाव हुआ।

३. प्रमुख तत्त्व

गद्य-गीत में कल्पना, भावुकता और रसात्मकता अवश्य रहती है, किन्तु उसे कविता के अन्तर्गत गृहीत नहीं किया जा सकता। क्योंकि कविता के लिए आवश्यक छन्दोमय लय का उसमें अभाव रहता है। पर उसे गीत कहा जाता है, वह इसीलिए कि उसमें गीत की बहुत-सी विशेषताओं का समावेश हो जाता है, जैसे :

(१) गीत की उत्पत्ति भावावेश के समय हृदय की किसी दुर्दमनीय किन्तु क्षण-भंगुर अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए ही होती है। गद्य-गीत भी इस भावावेशमयी अनुभूति की ही गद्यबद्ध अभिव्यक्ति है।

(२) गीत के समान ही गद्य-गीत दीर्घाकार नहीं होता। उसमें लघुत्व होता है।

(३) गीत में एक ही भाव, एक ही अनुभूति, एक ही वातावरण और एक ही वृत्ति तथा विचार का आदि से अन्त तक निर्वाह होता है। गद्य-गीत में भी यही क्रम रहता है।

(४) गीत की ही भाँति गद्य-गीत भी रसमय होता है। उसमें भी अनुभूति की तीव्रता और निरन्तरता विद्यमान रहती है।

(५) गीत की ही भाँति गद्य-गीत की रचना के लिए भी एकाग्रता और विशिष्ट क्षमता की आवश्यकता होती है।

(६) गीत की रचना छन्द में होती है, किन्तु गद्य-गीत में छन्द का बन्धन नहीं होता। पर उसमें वाक्यों और वाक्यांशों की आवृत्ति

इस प्रकार होती है कि उसमें भी एक विशिष्ट लय उत्पन्न हो जाती है।

४. गद्य-गीत का विकास

गद्य-गीत का इतिहास पुराना नहीं। शायद २० वीं शताब्दी से पूर्व गद्य-गीत का विवरण साहित्य में प्राप्त नहीं होगा। उसके साहित्यिक रूप का विकास आधुनिक युग में ही हुआ है। किन्तु प्राचीन ग्रंथों और विशेष रूपसे धार्मिक साहित्य का अनुशीलन करने पर ऐसी अनेक भावना, कल्पना और अनुभूतिपूर्ण उदात्त गद्यांश मिल जायँगे जिन्हें कि निश्चय ही गद्य-काव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने प्राचीन वैदिक और उपनिषद् साहित्य का अनुशीलन करते हुए अनेक ऐसे कवित्वमय गद्य-खण्डों को खोज निकाला है, जिन्हें निस्संकोच गद्य-काव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है। बृहदारण्यक उपनिषद् से उन्होंने एक ऐसा ही उदाहरण प्रस्तुत किया है :

स वा अयमात्मा
सर्वेषां भूतानामधिपतिः
सर्वेषां भूतानां राजा,
तद्यथा रथानामौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता
एवमेवास्मिन्नात्मनि
सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः
सर्वे एत आत्मानः समर्पिताः।

अर्थात् वह ही आत्मा समस्त प्राणियों का अधिपति है, समस्त प्राणियों का राजा है, जिस तरह रथ नेमि और रथनाह में सारे आरे निबद्ध रहते हैं, उसी तरह आत्मा में सब वस्तुएँ, सब देव, सब लोक और सब प्राण ये सब आत्माएँ समर्पित हैं।

वस्तुतः ब्राह्मण ग्रन्थ, बृहदारण्य उपनिषद्, और छान्दोग्य उपनिषद् आदि में ऐसे ही अनेक कल्पना तथा भाव-प्रधान गद्य-गीत प्राप्त हो जायँगे। वैदिक-साहित्य के अनन्तर हमें बाणभट्ट और दण्डी के उपन्यासों और गद्य रचनाओं में काव्यात्मक गद्य के सुसंस्कृत और विशुद्ध रूप प्राप्त होते हैं। 'जातक कथाओं' में भी कहीं-कहीं कल्पनापूर्ण, समृद्ध काव्यात्मक गद्य उपलब्ध हो जाता है।

आधुनिक युग में कवि रवीन्द्रनाथ टाकुर की 'गीतांजलि' के प्रकाशन के अनन्तर विशुद्ध गद्य-गीत का प्रचलन हुआ है। जब अंग्रेजी में इसका गद्यानुवाद

प्रकाशित हुआ, तब अंग्रेजी-साहित्य पर भी इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में रवीन्द्रनाथ के अनुकरण पर ही इनका प्रचलन हुआ।

पाश्चात्य साहित्य में गद्य-गीत का प्रारम्भिक रूप हम बाइबिल के अनेक उत्कृष्ट गद्यांशों में प्राप्त कर सकते हैं। वस्तुतः यदि बाइबिल को धर्म-ग्रंथ न माना जाता, तो वह साहित्यिक गद्य-काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण होता। धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त रूसो आदि प्रकृतिवादी निबंधकारों तथा उपन्यासकारों के निबंधों तथा उपन्यासों में कवित्वपूर्ण गद्य पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। अंग्रेजी-साहित्य में बाइबिल के अनुवाद से तथा मौलिक भाषा के गीतों के गद्यानुवाद से गद्य-गीतों की प्रणाली का प्रचलन हुआ। आज तो वाल ह्विटमैन, वाल्टरपेटर तथा एडवर्ड कार्पेण्टर-जैसे उत्कृष्ट गद्य-गीतकार अंग्रेजी-साहित्य में ऊँचे गद्य-गीतों की रचना कर चुके हैं।

५. हिन्दी के कुछ गद्य-गीत लेखक : एक समीक्षा

रायकृष्णदास हिन्दी के सर्वप्रथम गद्य-गीत लेखक हैं। वे कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ से विशेष रूप से प्रभावित हैं। रवि बाबू की 'गीतांजलि' के हिंदी-अनुवाद के अनन्तर हिंदी-लेखकों में भी गद्य-गीत लिखने की प्रवृत्ति बढ़ी। उनसे पूर्व प्रसाद जी ने बहुत-सी ऐसी कहानियाँ अवश्य लिखी हैं, जो कि एक प्रकार से गद्य-गीत ही कही जा सकती हैं; किन्तु उनकी कथाओं में गद्य-गीत का शुद्ध कलात्मक रूप न निखर सका। यह कार्य रायकृष्णदास द्वारा ही सम्पन्न हुआ।

रायकृष्णदास के गद्य-गीत भाव, अनुभूति तथा कल्पना से पूर्ण हैं। उनके भावों में जहाँ गाम्भीर्य है, वहाँ भी भाषा सरल और चलती हुई है, उसमें क्लिष्टता और दुरूहता नहीं। इसी कारण आपके गद्य-गीतों में रहस्यमय ऊहापोह का अभाव है। आपकी कल्पना बहुत सजीव और सशक्त है। चित्रमयी भाषा में अमूर्त भावनाओं को भी आप साकार और स्पष्ट कर देने में विशेष पटु हैं। प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति आपको विशेष अनुराग है। आपकी शैली बहुत मधुर और सुष्ठु है। उसमें नाद लय का विशेष ध्यान रखा गया है। आपके वाक्य छोटे और संगत होते हैं। और शब्दों का चुनाव बहुत मनोहारी है। राय महोदय एक ऊँचे कलाविज्ञ हैं, गद्य-गीतों में उनका एक भावुक कलाकार का रूप अभिव्यक्त हुआ है।

'साधना' और 'प्रवाल' आपके दो गद्य-गीतों के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'साधना' में प्रतीकात्मक (Symbolic) शैली का अनुसरण किया गया है। 'प्रवाल' में वातावरण की प्रधानता है। दो उदाहरण देखिए:

संध्या को जब दिन-भर की थकी-माँदी छाया वृक्षों के नीचे विश्राम लेती है और पक्षिगण अपने चह-चहे से उसकी थकावट दूर करते हैं तथा मैं भी शान्त होकर अपना शरीर भार पटक देता हूँ तब तुमने मधुर गान गुनगुनाकर मेरा श्रम दूर करके और मेरे बुझे हृदय को प्रफुल्लित करके मुझे मोह लिया।

वर्षा की रात्रि में जब प्रकृति को अपने सारे संसार से छिपा करसम्भवतः अभिसार करती है,तब तुमने मृदंग के घोष से मेरी ही हृदय-गाथा सुना-सुनाकर मुझे मोह लिया है। जब शान्तिवसना कुमुद मालिनी प्रकृति पर चंदा अमृत बरसाता है और मैं विशाल दृग्गोचर की ओर देखता अपने ज्ञात विचारों में अज्ञात हो जाता हूँ तब तुमने मुझे अपनी बंसी की तानों और रंग के पीयूष से प्लावित करके मोह लिया है। प्रातःकाल, जब सूर्य अपने राग से कमलवन को तथा पक्षि-गण अपने राग से स्तब्ध प्रकृति को जगाते हैं तब तुमने भी अपने राग से मेरे हृत्कमल और प्रकृति को जगमगाकर मोह लिया।

('मोहन' साधना)

मेरे नाच में न लय है न भाव। लेकिन तो भी तुम्हें उसी में खूबी मिल जाती है। मेरी पेंजनी कभी एकदम से बज उठती है; और कभी मंद पड़ जाती है। मेरा कुठला मेरे वक्ष पर हिलोरें मार रहा है और उसके घुँघरू चुन-मुन चुन-मुन ध्वनि करते हैं। मेरे छोर छहर रहे हैं औरमेरे कोमल, कुटिल, स्वर्ण-धूसर केशों के सिरे जरा-जरा उड़ रहे हैं, मेरे चक्कर काटने से आंदोलित पवन द्वारा उत्कम्पित हो रहे हैं। माँ, सब छोड़कर तुम मेरी यह लीला क्यों देखती हो।

(प्रवाल)

वियोगी हरि एक भक्त और भावुक कलाकार हैं। आपकी अभिव्यक्ति बहुत सशक्त होती है। आपके गद्य-गीत भावुकता, सरलता और अनुभूति की तीव्रता से पूर्ण होते हैं। आपका भावुक हृदय और मधुर व्यक्तित्व सभी गीतों ... जा सकता है। वियोगी हरि के गद्य-गीत दो विभिन्न शैलियों

में अभिव्यक्त हुए हैं। एक में तो हृदय के भावों की सरलता के अनुरूप भाषा-शैली भी सीधी-सादी, घरेलू और स्वाभाविक है। उसमें वाक्य छोटे-छोटे हैं, और शब्दों का चुनाव संगत और मनोहर है। दूसरी शैली में वक्रता है, उसमें अनुप्रास, समासयुक्त पदावली और अलंकारों का बाहुल्य है। शब्दों का चुनाव भी असंगत है, उर्दू-फारसी के शब्दों को संस्कृत शब्दों के साथ प्रयुक्त किया गया है और 'साहित्य-विहार' और 'प्रेम योग' में आपकी प्रथम शैली के दर्शन होते हैं। 'भावना' में पाण्डित्यपूर्ण शैली को प्रयुक्त किया गया है।

रवीन्द्रनाथ का आप पर भी पर्याप्त प्रभाव है। एक गीत देखिए:

> दया धाम ! काँटा निकालकर क्या करोगे ? चुभा सो चुभा। उसकी कमकीली चुभन ही तो अब तक मेरे इन अधीर प्राणों को धैर्य बँधाती आई है। सच मानो, प्रीति की गली के इस काँटे की कसकीली चुभन या चुभीली कसक ही मेरे जीर्ण-शीर्ण जीवन का एक मधुरतम अनुभव है। सो, नाथ यह काँटा अब ऐसा ही चुभा रहने दो।

वियोगी हरि कृष्ण-भक्त हैं। उन्होंने प्राचीन कृष्ण-भक्त कवियों की परम्परा के अनुसार ही कृष्ण के प्रति अपने प्रेम की अभिव्यक्ति की है। माखन-चोर को दिये गए उनके उपालम्भ बहुत मधुर हैं।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के 'अन्तस्तल' में बहुत सुन्दर गद्य-गीत संग्रहीत हैं। भावना और अनुभूति की प्रधानता आपके गीतों की प्रमुख विशेषता है। शैली आपकी बहुत सुन्दर है, उसमें कहीं कृत्रिमता या अस्वाभाविकता नहीं। संवादात्मक शैली का आपने विशेष आश्रय ग्रहण किया है। भाषा आपकी बहुत मधुर है, विषय के अनुरूप उसमें परिवर्तन होता रहता है। नाद, लय, और सङ्गीत का इतना सुन्दर मिश्रण अन्यत्र दुर्लभ है। उनके एक गीत का कुछ अंश देखिए:

> और एक बार तुम आए थे,यही तुम्हारा ध्रुव श्याम रूप था, यही तुम्हारा विनिन्दित अभ्यस्त दृश्य था, अक्षुण्ण मस्ती थी इसी तरह तुमने तब भी भारत के नर-नारी सब लोगों को मोह लिया था, कृष्ण यमुना इसकी साक्षी है।

दिनेशनन्दिनी चोरड्या (अब डालमिया) के गद्य-गीत 'शबनम' 'मौक्तिक माल','शारदीया', 'दुपहरिया के फूल','उनमन','स्पन्दन' और 'सारंग' में सङ्कलित है। प्रायः सभी सङ्कलनों के गीत ईश्वर, जीव, प्रकृति, पार्थिव और अपार्थिव प्रेम से सम्बन्धित हैं। 'शबनम' के अनेक गीत आध्यात्मिक प्रेम से पूर्ण

हैं। परन्तु गीतों की एक बड़ी संख्या आध्यात्मिक प्रेम के आवरण में पार्थिव प्रेम की कसक और पीड़ा को ही अभिव्यक्त करती है।

'दुपहरिया के फूल' के गीतों में भाव की अपेक्षा विचार तथा तर्क की प्रधानता है। गीतों का आकार भी बहुत छोटा है। कहीं-कहीं तो वे एक-दो पंक्ति में ही समाप्त हो जाते हैं, फलतः उनमें गीत के चमत्कार की अपेक्षा सूक्ति का चमत्कार अधिक है। प्रेम में भी अपार्थिवता नहीं। इसी कारण इन गीतों में मन को मुग्ध करने वाली भाव तथा कला की मनोहारिता उपलब्ध नहीं होती। 'शारदीया' तथा 'उनमन' में लेखिका की आध्यात्मिक भावनाओं की प्रमुखता है। यह आध्यात्मिक भावनाएँ कहीं वेदान्त से प्रभावित हैं, तो कहीं शैव, वैष्णव या सूफी धर्म से। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें लेखिका का मुख्य उद्देश्य अपने पार्थिव प्रेम की अभिव्यक्ति ही है, कहीं वह अभिव्यक्ति के लिए शैव-दर्शन का आश्रय लेती है तो कहीं सूफी या वेदान्त-दर्शन का। अच्छा यही होता कि यदि लेखिका अपने पार्थिव-प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए आध्यात्मिक आवरण को न अपनाती ऐसी अवस्था में उनमें मार्मिकता अधिक होती।

देवी जी की प्रारम्भिक रचनाओं की भाषा बहुत अस्त-व्यस्त और उर्दू-फारसी शब्दों से मिश्रित है। उनकी अभिव्यक्ति भी अस्पष्ट है। किन्तु बाद की रचनाओं में यह दोष दूर हो गए हैं।

अज्ञेय एक प्रतिभा-सम्पन्न कवि तो हैं ही, वह एक शक्तिशाली गद्य-गीत-लेखक भी है। 'भग्नदूत' और 'चिन्ता' उनके गद्य-गीतों के दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'भग्नदूत' के गीत दो प्रकार के हैं, कुछ में तो प्रेम-भाव की प्रमुखता है। उनमें प्रणय-याचना, कसक और अनुनय की प्रधानता है। भाव-मग्नता के कारण उनमें रस और मार्मिकता है। दूसरे प्रकार के गीतों में चिन्तन की प्रधानता है, उनमें मानसिक वृत्तियों का विश्लेषण किया गया है। इसी कारण इनमें रस की अपेक्षा चिन्तन का आधिक्य है। 'चिन्ता' के गीतों की रचना नारी और पुरुष के सम्बन्धों के विषय में एक विशिष्ट दृष्टिकोण को अपनाकर की गई है, किन्तु लेखक उस दृष्टिकोण को निभा नहीं सका। प्रेम के सम्बन्ध में कवि ने नारी की अपेक्षा पुरुष के दृष्टिकोण को ही अभिव्यक्त किया है। इसी कारण वह एकांगी है। लेखक ने नारी के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया है, वह वस्तुतः बहुत संकुचित और रूढ़िबद्ध है।

सियारामशरण गुप्त ने जो गद्य-गीत लिखे हैं, वे सरल और सरस हैं। उनमें रहस्यमयता नहीं। उनकी अध्यात्म भावना भी बहुत स्पष्ट और सुलझी हुई है। उनकी अभिव्यक्ति का ढंग भी बहुत सशक्त और सम्पन्न है। भाषा

शैली भी स्वाभाविक और चित्तात्मक है। गुप्त जी के गद्य-गीत का एक अंश देखिए :

> इनमें कौन प्रकाश है और कौन अन्धकार, इसका पता मुझे नहीं लगने पाता। इन दोनों सहोदरों का चिरन्तन द्वन्द्व मिट चुका है, दो होकर भी दोनों जैसे यहाँ एक हैं। अपूर्ण और पूर्ण, दुःख और सुख, शंका और समाधान, दोष और गुण आपस में प्रेम से मिलकर कितने मधुर हो सकते हैं, इसका पता मुझे आज यहाँ लग गया है।

महाराजकुमार डाक्टर रघुवीरसिंह एक उत्कृष्ट निबन्धकार हैं। उनमें भावुकता और सहृदयता है, इस कारण उनके अनेक निबन्ध भी गद्य-गीत ही अधिक बन गए हैं। प्रभावोत्पादन की आपमें अद्‌भुत क्षमता है। प्राचीन इतिहासिक तथ्यों और घटनाओं का भी आपने इतनी सजीवता से वर्णन किया है कि वे साकार बन गए हैं। हृदय के उमड़ते भावों को कलापूर्ण शैली में अभिव्यक्त करने में आप विशेष सफल हुए हैं। मानसिक उतार-चढ़ाव और हृदयगत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति बहुत कलापूर्ण है। आप प्राकृतिक सौन्दर्य पर विशेष अनुरक्त हैं। आपकी शैली कलापूर्ण और मादक है। भाषा में चंचलता, प्रवाह, माधुर्य तथा स्फूर्ति है।

रामप्रसाद विद्यार्थी भी हिन्दी के उदीयमान गद्य-गीतकार हैं। प्रेम की मादक और मधुर पीड़ा की अभिव्यंजना आपके गीतों की प्रमुख विशेषता है। परन्तु इस अभिव्यंजना में संयम और मर्यादा है, उसमें व्याकुलता अवश्य है, किन्तु उसका वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं। भावनाएँ यद्यपि लौकिक प्रेम से ही प्रेरित प्रतीत होती हैं, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति आध्यात्मिक शैली में ही हुई है। आपके 'पूजा' और 'शुभ्रा' नाम से दो गद्य-गीत-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। भाषा आपकी सुन्दर और सरस है, किन्तु कहीं-कहीं वाक्य कुछ उखड़े हुए हैं। एक उदाहरण देखिए :

> जब मैं अपने गोखार गिरि की गुफा में बैठकर अपने शरीर के चारों ओर एक हल्की चादर तान लेता हूँ, तब दिशाओं की चादरें, जिन्होंने अपने सँकरे घेरे में मुझे बन्द कर रखा है, अपने-आप फट जाती हैं।
>
> मैं तुम्हारे दिये हुए अपने अज्ञात परों को फैलाकर अपने अन्धेरे किन्तु विस्तृत आकाश में तुम्हारी गोद में उड़ चलता हूँ।

> जब मैं उड़ते-उड़ते थककर निराश होने लगता हूँ तब मेरे अन्धेरे किन्तु विस्तृत आकाश में से चार सितारे चमक उठकर तुम्हारी ओर से किसी सान्त्वनाप्रद आदेश का संकेत करते हैं।

राजनारायण मेहरोत्रा 'रजनीश' के गीत विद्यार्थी जी के विपरीत लौकिक प्रेम की उत्कृष्टता को अभिव्यक्त करते हैं। किन्तु 'रजनीश' की शैली अत्यन्त सरल और स्वाभाविक है, उसमें वक्रता नहीं। कवि ने अपने यौवन की उमंगों को, प्यार की मधुर अनुभूतियों को बड़ी ही निश्छलता और सरलता से व्यक्त किया है। 'आराधना' आपके गद्य-गीतों का संग्रह है।

जगदीश ने 'द्वाभा' के गीतकार के रूप में इस क्षेत्र में विशेष ख्याति प्राप्त की है। आपके गीतों में घनीभूत पीड़ा और अवसाद का आधिक्य है। अभाव और विषाद से उत्पन्न वेदना की अभिव्यक्ति बहुत मार्मिक और प्रभावोत्पादक है। अपने प्रतीकात्मक (Symbolic) शैली का आश्रय ग्रहण किया है, किन्तु आपकी दृष्टि अत्यन्त पैनी और सूक्ष्म है।

ब्रह्मदेव के 'निशीथ' में कल्पना की प्रधानता है उन्होंने कल्पना के बल पर अत्यन्त सूक्ष्म मानसिक चित्रों को भी शब्दबद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसी कारण उनमें धुँधलापन है। किन्तु कल्पना-चित्र बहुत मृदुल और रम्य हैं। आपके गीतों में आध्यात्मिकता है, और वे उस परम पुरुष की अर्चना में ही कहे गए हैं। एक उदाहरण देखिए :

> रजत रश्मि की चादर ओढ़कर जब तारिकाएँ चाँद के साथ नृत्य आरम्भ करेंगी और जब सिन्धु की लहरों पर पार के उद्यान का संगीत तिरता रहेगा। तब हमें अपने पितृ-मन्दिर का स्वर्ण-कलश दिखाई देगा।

इनके अतिरिक्त श्री तेजनारायण काक हिन्दी के उत्कृष्टतम गद्य-काव्यकारों में हैं, उनके गीतों में अनुभूति और कल्पना का अद्भुत मिश्रण रहता है। 'मुक्ति और मशाल' तथा 'मदिरा' नामक पुस्तकों से उनकी प्रतिभा का पूर्ण परिचय मिलता है।

आठ जीवनी : आत्म-कथा : संस्मरण

१. साहित्य की विधा

इतिहास-साहित्य का एक प्रसिद्ध अंग जीवनी-लेखन है। जीवनी लिखने की परिपाटी पुरानी होते हुए भी हिन्दी के लिए सर्वथा नवीन ही है। मनुष्य का सबसे बड़ा आकर्षण-केन्द्र मनुष्य ही है। सारा साहित्य ही मनुष्य का अध्ययन है, किन्तु जीवनी, आत्म-कथा तथा संस्मरणों में वह अध्ययन सत्य और वास्तविकता की कुछ अधिक गहरी छाप लेकर आता है। इतिहास के निर्माण की जब से मनुष्य को चिन्ता हुई, तब से ही जीवनी-निर्माण का युग भी प्रारम्भ हुआ। जीवनी घटनाओं का अंकन नहीं, प्रत्युत चित्रण है। वह साहित्य की विधा है और उसमें अन्तर स्वरूप का कलात्मक निरूपण है। जिस प्रकार चित्रकार अपने विषय का एक ऐसा पक्ष पहचान लेता है जो उसके विभिन्न पक्षों में प्रस्तुत रहता है और जिसमें नायक की सभी कलाएँ और छटाएँ समन्वित हो जाती हैं, उसी प्रकार जीवनी-लेखक भी अपने नायक के अन्तर को पहचानकर उसके आलोक में सभी घटनाओं का चित्रण करता है। जीवन में उसके नायक का अस्तित्व उभर आता है। साहित्य-शास्त्रियों ने जीवन-चरित्रों के कई प्रकार कहे हैं। हमारे मत में जीवनी, आत्म-कथा और संस्मरण यही तीन प्रकार प्रधान रूप में साहित्य में व्यवहृत होते हैं। जीवनी कोई दूसरा आदमी लिखता है, आत्म-कथा स्वयं लिखी जाती है और संस्मरण में जीवन के किसी भी महत्त्वपूर्ण भाग या घटना का उल्लेख होता है। इसे कोई भी लिख सकता है, अर्थात् कोई भी व्यक्ति स्वयं अपने जीवन की किसी महत्त्वपूर्ण घटना के सम्बन्ध में लिख सकता है अथवा दूसरे व्यक्ति के विषय में भी लिखा जा सकता है। अब हम क्रमशः तीनों का विश्लेषण आगे की पंक्तियों में करेंगे।

२. विकास

हिन्दी में हर तरह की जीवनियाँ उपलब्ध हैं—धार्मिक व्यक्तियों की

जीवनियाँ, राजनीतिक नेताओं की जीवनियाँ, इतिहासिक महापुरुषों के चरित्र, साहित्यकारों की जीवनियाँ, और विदेशी महापुरुषों के परिचय। उदाहरण के लिए धार्मिक महापुरुषों में आपको गौतम बुद्ध से लेकर स्वामी दयानन्द सरस्वती तक अनेक महापुरुषों, सन्तों तथा सुधारकों की जीवनियाँ हिन्दी में पढ़ने को मिल सकती हैं; इतिहासिक तथा राजनीतिक नेताओं की जीवनियाँ प्रायः अधिक परि म के साथ लिखी गई हैं और इनकी संख्या भी अधिक है। प्रसिद्ध मौर्य तथा गुप्त सम्राटों की जीवनियाँ, राजपूत-नरेशों और मराठा वीरों के चरित्र, सिख गुरुओं की जीवनियाँ, मुगल-सम्राटों के जीवन-चरित्र तथा आधुनिक राजनीतिक नेताओं की जीवनियाँ हिन्दी में उपलब्ध हैं। हिन्दी के मध्य तथा वर्तमान युग के कवियों और लेखकों की जीवनियाँ भी कम संख्या में नहीं मिलतीं; यद्यपि ये प्रायः साहित्यिक आलोचना के एक अंग के रूप में, अथवा रचना-संग्रहों की भूमिका-स्वरूप पाई जाती हैं। विदेशों के प्रसिद्ध महापुरुषों की भी हिन्दी-साहित्य में उपेक्षा नहीं की गई। आपको सुकरात, ईसा-मसीह, मुहम्मद साहब, कोलम्बस, नेपोलियन, बिस्मार्क, गैरीबाल्डी, जान स्टुअर्ट मिल, मैक्समूलर, धनकुबेर कार्नेगी, अब्राहम लिंकन, बैंजमिन फ्रैंकलिन, डी० वेलरा, कार्लमार्क्स, लेनिन व मुस्तफा कमाल पाशा, हिटलर, स्टालिन, सनयात सेन, चांगकाई शेक, जापान के गांधी कागा वा तथा दीनबन्धु एण्डरूज़ आदि प्राचीन तथा अर्वाचीन विदेशी व्यक्तियों के चरित्र भी हिन्दी में पढ़ने को मिल सकते हैं।

३. द्विवेदी-युग में जीवनियाँ

हिन्दी के विकास-काल में लगभग ऐसी ही जीवनियाँ लिखी गईं, जिनका उल्लेख हम ऊपर की पंक्तियों में कर चुके हैं। हिन्दी में जीवनी की परिभाषा की कसौटी पर कसे जाने योग्य जीवनियाँ इधर द्विवेदी-युग से प्रारम्भ हुईं। प्राचीन हिन्दी के जीवनी-साहित्य में गोस्वामी गोकुलनाथ का 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा नाभाजी के 'भक्तमाल' एवं उस पर लिखी हुई प्रियादास की टीका विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु इनमें महत्व-प्रदर्शन और साम्प्रदायिकता की मात्रा बहुत-कुछ अधिक है। श्री बनारसीदास जैन द्वारा लिखित 'पद्यमय आत्म-कथा' में सत्य की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। उसमें लेखक ने अपनी न्यूनताओं की ओर अधिक संकेत किया है। इधर बालकों पर प्रभाव डालने वाली सरल, ललित, एवं भावपूर्ण शैली में लिखी गई बालोपयोगी जीवनियाँ भी बहुत प्रकाशित हुई हैं। इस सम्बन्ध में छात्र-हितकारी पुस्तक-माला दारागंज प्रयाग की सेवाएँ संस्मरणीय हैं। पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ने

'सत्यनारायण कविरत्न' तथा 'भारत-भक्त एण्ड्रूज़' नामक दो ग्रन्थ लिखकर हिन्दी के जीवनी-साहित्य में एक अद्भुत क्रान्ति की है। उनकी वर्णन-शैली में चरितनायक के एक-एक जीवन-पहलू का सजीव चित्रण देखते ही बनता है। श्री ब्रजरत्नदास ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का बड़ा सुन्दर जीवन-चरित्र लिखा है।

श्री सीताराम चतुर्वेदी की 'महामना मालवीय जी की जीवनी' भी सर्वांग-पूर्ण एवं कलात्मक है। श्री रामनाथलाल 'सुमन' ने 'हमारे नेता' नामक पुस्तक में आज के भारतीय राजनीतिक नेताओंकी जीवनियां बड़ी मार्मिक शैली में लिखी हैं। उनकी शैली अपनी तथा वर्णन करने की विधा अद्वितीय है। इन पंक्तियों के लेखक द्वारा लिखित 'नये भारत के निर्माता' तथा 'नेताजी सुभाष' को भी हिन्दी-जगत् में यथोचित आदर मिला है। श्री सत्यदेव विद्यालंकार की 'हमारे राष्ट्रपति' तथा 'स्वा० श्रद्धानन्दजी की जीवनी', घनश्यामदास बिड़ला का 'बापू' श्री श्यामनारायण कपूर का 'भारतीय वैज्ञानिक', श्रीमन्नारायण अग्रवाल का 'सेगाँव का सन्त', श्री गौरीशंकर चटर्जी का 'हर्षवर्द्धन', श्री रूपनारायण पाण्डेय का 'सम्राट् अशोक', श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी की 'विप्लवी जयप्रकाश' तथा 'रोजा लुग्जेम्बुर्ग' आदि पुस्तकें हिन्दी के जीवनी-साहित्य की गौरव-निधि हैं। आजकल जीवनी-साहित्य में राजनीतिक नेताओं की जीवन-कथाओं को विशेष महत्त्व मिल रहा है। वैसे साहित्यिक कृतिकारों की जीवनियों की दिशा में भी डॉक्टर रामविलास शर्मा का 'निराला' उसके शुभ प्रारम्भ का द्योतक है।

४. आत्म-कथा

इधर कुछ दिनों से 'आत्म-कथा' लिखने की परिपाटी भी चल निकली है। वास्तव में एक निश्छल और निष्कपट व्यक्ति की आत्म-कथा से प्रामाणिक दूसरे की जीवनी नहीं हो सकती। साधारण जीवन-चरित्र से 'आत्म-कथा' में कुछ विशेषता होती है। आत्म-कथा-लेखक जितना अपने बारे में जान सकता है उतना लाख प्रयत्न करने पर भी कोई दूसरा नहीं जान सकता। किन्तु इसमें कहीं तो स्वाभाविक आत्म-श्लाघा की प्रवृत्ति द्योतित होती है और किसी के साथ शील-संकोच आत्म-प्रकाशन में रुकावट डालता है। जीवनी लिखने वाले को दूसरे के दोष और आत्म-कथा लिखने वाले को अपने गुण कहने में सचेत रहने की आवश्यकता है। आत्म-कथाएँ दो रूप में लिखी जा सकती हैं। उनमें पहली, श्रेणी-सम्बद्ध और द्वितीय स्फुट निबन्धों के रूप में हमें हिन्दी में देखने को

मिलती हैं। सम्बद्ध रूप में राजेन्द्र बाबू तथा श्यामसुन्दरदास की आत्म-कहानी एवं स्फुट निबन्धों के रूप में बाबू गुलाबराय एम० ए० की 'मेरी असफलताएँ' उल्लेखीय हैं। वैसे हिन्दी में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, तथा पण्डित जवाहरलाल नेहरू की आत्म-कथाएँ भी मिलती हैं, किन्तु हम यहाँ हिन्दी की मौलिक आत्म-कथाओं का ही उल्लेख करेंगे, अनूदित का नहीं। बाबू श्यामसुन्दरदास की आत्म-कथा उनकी जीवन-कहानी होने के अतिरिक्त 'नागरी-प्रचारिणी-सभा' और हिन्दी के उत्थान का सजीव इतिहास है। हिन्दी में 'हंस' के 'आत्म-कथा-अंक' ने भी इस दिशा में पर्याप्त निर्देश किया है। सियारामशरण गुप्त के 'झूठ-सच' तथा 'बाल्य-स्मृति' आदि कुछ लेख इसी कोटि के हैं। निराला जी ने 'कुल्ली भाट' में जीवनी के सहारे अपनी आत्म-कथा का भी कुछ अंश अव्यक्त रूप से दे दिया है, किन्तु वह कहानी की कोटि में ही रहेगी। आधुनिक साम्य-वादी प्रवृत्ति के अनुकूल उनके 'बिल्लेसुर बकरिहा' और 'कुल्ली भाट' जीवनी के विषय बन जाते हैं, किन्तु इनमें कल्पना का पुट अधिक है। महादेवी जी की 'अतीत के चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' नामक कृतियाँ आत्म-कथा और निबन्ध के बीच की कड़ी हैं।

अब धीरे-धीरे आत्म-कथा-साहित्य प्रगति-पथ की ओर बढ़ रहा है। वैसे हिन्दी के प्रारम्भिक काल की मौलिक आत्म-कथाओं में श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा लिखित 'कल्याण मार्ग का पथिक' नामक पुस्तक विशेष स्मरणीय रहेगी। भाई परमानन्द की 'आप बीती' एक साहसपूर्ण जीवन के घात-प्रतिघातों की कहानी है। अभी पिछले दिनों 'राजहंस प्रकाशन' दिल्ली द्वारा स्वामी भवानी-दयाल संन्यासी की आत्म-कथा 'प्रवासी की आत्म-कथा' नाम से प्रकाशित हुई है। राजनीतिक महत्त्व के साथ उसका साहित्यिक महत्त्व भी है। श्री हरिभाऊ उपाध्याय की 'साधना के पथ पर' तथा श्री वियोगी हरि की 'मेरा जीवन-प्रवाह' नामक पुस्तकें हिन्दी की आत्म-कथाओं के निर्माण में एक विशेष दिशा की द्योतक हैं। श्री राहुल जी अपनी बहुभाषा-विज्ञता तथा विद्वत्ता के लिए चिर-प्रख्यात हैं, उनकी 'मेरी जीवन-यात्रा' नामक पुस्तक प्रगतिशील परम्परा के लिए एक ज्वलन्त प्रकाश-स्तम्भ सिद्ध होगी। इसके अतिरिक्त बाबू मूलचन्द्र अग्रवाल, प्रोफेसर इन्द्र विद्यावाचस्पति की 'पत्रकार की आत्म-कथा' एवं 'मेरी जीवन-झाँकियां' नामक पुस्तकें हिन्दी की पत्रकारिता का सजीव इतिहास सिद्ध होंगी। इसी प्रकार सम्पादकाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी एवं श्रीराम शर्मा के विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित आत्म-चरितात्मक स्फुट लेख भी इस दिशा के विकास का परिचय देते हैं।

५. संस्मरण

जीवनी तथा आत्म-कथा के उपरान्त संस्मरण-साहित्य का उल्लेख कर देना भी अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दी में संस्मरण लिखने की कला का अभी प्रारम्भ ही समझें। इसका प्रारम्भ वैसे तो सम्पादकाचार्य पण्डित पद्मसिंह शर्मा द्वारा हुआ था, परन्तु तब कुछ विशेष प्रगति नहीं हुई। संस्मरण लिखने की कला का विकास हमें सर्व श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', आचार्य शिवपूजनसहाय एवं श्री रामनाथ 'सुमन' की रचनाओं में दृष्टिगत होता है। वैसे यात्रा-सम्बन्धी जो अनेक पुस्तकें हिन्दी में निकली हैं; उनमें भी हमें संस्मरण की छुट-पुट झलक देखने को मिलती हैं। श्री शिवप्रसाद गुप्त की 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा', पण्डित रामनारायण मिश्र एवं बा० गौरीशंकरप्रसाद वकील की 'यूरोप-यात्रा के छः मास', मुन्शी महेशप्रसाद की 'मेरी ईरान यात्रा' तथा स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की 'अमरीका-भ्रमण' आदि पुस्तकें पठनीय हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत आदि देशों के सम्बन्ध में खूब लिखा है। श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने भी 'जो न भूल सका' तथा 'जो लिखना पड़ा' नामक पुस्तकें संस्मरणात्मक लिखी हैं। श्री बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' तथा श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की 'भूले हुए चेहरे' पुस्तकें हिन्दी के संस्मरण-साहित्य की अतुल निधि हैं।

क्योंकि इधर वर्षों से पराधीन रहने के कारण देशवासियों के जीवन की धाराएँ बँधी और अवरुद्ध रही हैं इसलिए साहित्य के क्षेत्र में जो अनेकरूपता होनी चाहिए थी वह नहीं है। उदाहरण के लिए अभी-अभी भारत में प्रथम श्रेणी के वैज्ञानिक, सिपाही अथवा व्यापारी या भूगोल-सम्बन्धी अन्वेषक कितने हुए हैं; यह भी किसी को पता नहीं। परिणाम स्वरूप उक्त श्रेणी के व्यक्तियों से सम्बन्ध रखने वाली जीवनियों तथा संस्मरणों का भी प्रायः अभाव-सा है। देश के जीवन की अनेकरूपता के साथ साहित्य की इस दशा में भी अधिकाधिक प्रगति हो सकेगी, ऐसी आशा है।

नौ रेखा-चित्र : स्केच

१. परिभाषा

चित्रकार जिस प्रकार अपनी तूलिका के द्वारा कोई चित्र बनाता है, उसी प्रकार लेखक भी अपनी शैली ारा ऐसे शब्दों को कागज पर उतारता है, जिससे वर्ण्य वस्तु का आकृति-चित्र पाठक की आँखों के सम्मुख झूलने लगता है। चित्रकार की सफलता जहाँ उसके रंगों के अंकन में निहित है वहाँ रेखा-चित्रकार की लेखनी की महत्ता उसके शब्द-गुम्फन में समाविष्ट है। दोनों को ही भारी साधना करनी पड़ती है—एक को चित्र की रेखाओं में ऐसा रंग भरना पड़ता है जो कि नीरव रूप से अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति दर्शक को देता है, उसके विपरीत रेखा-चित्रकार को ऐसे शब्दों का प्रयोग अपनी कृति में करना होता है कि जिसको पढ़कर पाठक यह जान लें कि उद्दिष्ट वस्तु अथवा व्यक्ति अपने रूप तथा आकार में कैसा है? हिन्दी में रेखा-चित्र अथवा स्केच शब्द दोनों ही प्रकार की कृतियों के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ हम किसी लेखक द्वारा चित्रित किये गए शब्दों के आधार पर निर्मित स्केच का ही उल्लेख करेंगे।

२. उपादेयता

रेखा-चित्र लिखना, लेखनी के सहारे किसी भी वस्तु का व्यक्ति का ज्यों-का-त्यों चित्र खींच देना, भारी साधना का कार्य है। हिन्दी-साहित्य में रेखा-चित्र की कला बहुत विकसित नहीं हुई। वास्तव में परम्परागत कला-विधानों के के उत्थान की भाँति इसका भी इतिहास है। समय की गति को परखकर जीवन की विभिन्न प्रेरणाओं और अनुभूतियों को व्यक्त करना ही साहित्य का एक-मात्र उद्देश्य है। इन अनुभूतियों को प्रतिमूर्त करने के लिए साहित्यकार विभिन्न उपादानों का आश्रय लेकर अपनी कला का निदर्शन करता है। नये युग के

कलाकार ने अपनी अनुभूतियों को कम-से-कम समय और कम-से-कम शब्दों में प्रकट करने के लिए ही रेखा-चित्र का माध्यम अपनाया।

३. कला-विधान

रेखा-चित्र और स्केच हिन्दी-साहित्य में एकांकी, मुक्तक-काव्य और रिपोर्ताज की भांति ही अस्तित्व में आये। जिस प्रकार एक महाकाव्य में कही गई बात को मुक्तक काव्य आंशिक रूप में पूरा कर देता है और नाटक की पूरी कथा को एकांकी अपने में आत्मसात् करके जन-मन-रंजन करता है तथा रिपोर्ताज एक कहानी की आधार-भूमि का प्रकटीकरण पाठकों के समक्ष करता है उसी प्रकार रेखा-चित्र और स्केच निबन्ध और कहानी के बीच अपना स्थान बनाता दीखता है। किन्तु वास्तव में रेखा-चित्र न निबन्ध है और न कहानी। उसका अपना अलग ही अस्तित्व है, उसका अपना अलग ही कला-विधान है। जिस प्रकार आज के मानव के चरम उत्थान तथा संगठन का द्योतन करने वाली अन्य बहुत-सी कलाओं का प्रस्फुटन हुआ उसी प्रकार रेखा-चित्र भी अस्तित्व में आया।

४. साधना का पथ

साहित्य में रेखा-चित्रकार को अत्यन्त कठोर साधना का पथ अपनाने की आवश्यकता है। वह ही एक-मात्र ऐसा कलाकार है जो अपने चारों ओर फैले हुए विस्तृत समाज के किसी भी अंग तथा पक्ष का चित्रण अपनी लेखनी-तूलिका से ऐसा सजीव करता है कि पाठक यह अनुभव करने लगता है कि मैं वर्ण्य वस्तु के अत्यन्त सान्निध्य में हूँ। "वह प्रकृति की जड़ अथवा चेतन किसी भी वस्तु को अपने शब्द-शिल्प से सजीव कर देता है। जिस आदमी को जीवन के विविध अनुभव प्राप्त नहीं हुए, जिसने आँख खोलकर दुनिया को नहीं देखा, जिसे कभी जीवन-संग्राम में जूझने का अवसर नहीं मिला, जो संसार के भले-बुरे आदमियों के संसर्ग में नहीं आया, मनोविज्ञानिक घात-प्रतिघातों का जिसने अध्ययन नहीं किया और जिसने एकान्त में बैठकर जिन्दगी के भिन्न-भिन्न प्रश्नों पर विचार नहीं किया, भला वह क्या सजीव चित्रण कर सकता है।"[1]

५. कला में उसकी सत्ता

रेखा-चित्रकार की सबसे बड़ी सफलता यह है कि वह जिस व्यक्ति अथवा वस्तु विशेष का चित्रण करता है, उसे पहले अपने अन्तर-दर्पण में प्रतिच्छायित

1. बनारसीदास चतुर्वेदी : 'विशाल भारत' जुलाई १९३७।

कर ले। यदि उसने ऐसा किया तो उसकी कला और भी निखर उठेगी तथा अभीप्सित वस्तु तथा व्यक्ति की छाया उसकी कृति में आये बिना न रहेगी। इसलिए रेखा-चित्र कला, अनुभूति और सामाजिक घटना- म का अपूर्व संगम है। "कला के अन्दर रेखा-चित्र की एक स्वतन्त्र सत्ता है,उसे पढ़ने के बाद पाठक को समाज या व्यक्ति की जीवन-धारा के अगले मोड़-प्रवाहों को जानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह उस पूरी तस्वीर को पढ़कर सन्तुष्ट हो जाता है और चूँकि रेखा-चित्र एक चित्र है, इस कारण उसका वर्ण्य विषय कल्पना-प्रधान भी हो सकता है, और वास्तविक भी।"[1]

६. रेखा-चित्रों के प्रकार

रेखा-चित्र में जहाँ एक ओर लेखक का, किसी वस्तु अथवा व्यक्ति-विशेष का अपना निजी अध्ययन होता है वहाँ दूसरी ओर उस व्यक्ति अथवा वस्तु विशेष का वास्तविक चित्रण भी रहता है। यदि वह वस्तु पेड़, पार्क, झरने आदि की भांति जड़ है तो लेखक को उसका वास्तविक चित्रण करने के उपरान्त यह भी लिख देना चाहिए कि वह वहाँ के लोगों को अथवा उसे कैसी लगती है।

इन जड़ प्राणियों के अतिरिक्त रेखाचित्र ऐसे चेतन प्राणियों पर भी लिखे जा सकते हैं, जो न तो मनुष्य की भांति विवेकशील होते हैं और न बोल ही सकते हैं। पर अपने जीवन के सुख-दुःख तथा आरोह-अवरोह को, वे अपने संकेतों द्वारा अभिव्यक्त कर सकते हैं। इस श्रेणी में पशु-पक्षी आते हैं।

स्केच-लेखन का तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण विषय है मनुष्य। सृष्टि की अन्य जड़ तथा मूक वस्तुओं की भांति मनुष्य अधिक विवेकवान तथा संवेदनशील प्राणी है। अपनी सहज कल्पना और उर्वरा शक्ति के कारण उसका समाज में विशेष स्थान है। इसलिए व्यक्ति का रेखाचित्र अंकित करने वाले लेखक का उद्देश्य पाठक के सामने अपने अभीष्ट पात्र का एक स्पष्ट चित्र अंकित करना-मात्र है। उसके शब्दों तथा वाक्यों का गठन इस प्रकार का होना चाहिए कि जिससे वर्ण्य चरित्र के सम्बन्ध में अधिक कुछ जानने की उत्कण्ठा ही मन में न रहे। रेखा-चित्रकार के लिए यह भी आवश्यक नहीं कि वह अभि-प्रेत व्यक्तित्व की साधारण-से-साधारण, छोटी-से-छोटी और हल्की-से-हल्की रेखा को अपने चित्र में स्थान दे।

रेखा-चित्र की कला जीवनी और संस्मरण लिखने की कला से सर्वथा

१. शिवदानसिंह चौहान : प्रगतिवाद पृष्ठ ११०

भिन्न है। पर इन तीनों में इतना सूक्ष्म भेद है कि बड़े-बड़े कुशल रेखा-चित्रकारों की दृष्टि भी धोखा खा जाती है। किसी छोटे से संस्मरण का अथवा जीवन-वृत्त की किसी विशेष घटना का रेखा-चित्र में उतना ही उपयोग हो सकता है जितना उसकी रेखाओं को स्पष्ट करने अथवा चमकाने में सहायक हो। रेखा-चित्रकार का सर्वोपरि कर्तव्य यह है कि जिस किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के विषय में वह रेखा-चित्र लिखने का संकल्प करे, सबसे पहले वह उस व्यक्ति अथवा वस्तु के विषय में वास्तविक जानकारी प्राप्त करले। यद्यपि ये बातें साधारण-सी दृष्टिगत होती हैं, परन्तु कभी-कभी इनमें कोई-न-कोई असाधारण विशेषता निहित होती है।

७. हिन्दी में रेखा-चित्र

हिन्दी में रेखा-चित्र लिखने की कला का अभी प्रारम्भ ही समझें। कभी-कभी पत्र-पत्रिकाओं में कोई सुन्दर रेखा-चित्र पढ़ने को मिल जाता है। वैसे सम्पादकाचार्य पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने इस कला में पथ-प्रदर्शन का काम किया था। उनके कई महत्त्वपूर्ण रेखा-चित्र उनकी पुस्तक 'पद्म-पराग' में संगृहीत हैं। भावों के साथ भाषा का ऐसा मेल शर्मा जी की शैली की अपनी विशेषता है। स्वर्गीय शर्मा जी के बाद जिन महानुभावों ने इस कला को प्रश्रय देने का कष्ट उठाया उनमें पं० श्रीराम शर्मा (विशाल-भारत-सम्पादक) प्रमुख हैं। इस विषय में वे वास्तव में पं० पद्मसिंह शर्मा के उत्तराधिकारी हैं। जिस समय उनके रेखा-चित्र 'विशाल भारत' में निकल रहे थे उस समय पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने 'विशाल भारत' के तत्कालीन सम्पादक पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा था—'श्रीराम जी तो उत्तरोत्तर गजब ढा रहे हैं। बन्दूक से बढ़कर इनकी लेखनी का निशाना बैठता है। पढ़ने वाला तड़पकर रह जाता है। नज़र से बचाने के लिए इनके डंड पर भैरव जी का तंडा बाँध दीजिए।' श्री श्रीराम शर्मा के रेखा-चित्रोंका संग्रह 'बोलती प्रतिमा' नाम से प्रकाशित भी हो चुका है।

श्री श्रीराम शर्मा के अतिरिक्त स्वयं श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने भी कुछ रेखा-चित्र लिखे हैं। उनके रेखा-चित्रों का कोई संग्रह देखने में नहीं आया। वैसे सुना है कि इधर 'रेखा-चित्र और संस्मरण' नाम से उनकी एक पुस्तक निकल रही है। हिन्दी में रेखा-चित्र लिखने की प्रणाली को प्रश्रय देने का कार्य 'हंस' के 'रेखा चित्रांक' ने भी किया है। इस विशेषांक से पूर्व हिंदी में रेखा-चित्र लिखने की पहल कम ही होती थी। प्रकाशचन्द्र गुप्त का 'पुरानी स्मृतियाँ और नये स्केच' तथा 'रेखा-चित्र' नामक पुस्तकें इस दिशा में सफल प्रयत्न हैं। श्री गुप्त जी के अतिरिक्त श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, श्रीमती महादेवी वर्मा और कन्हैयालाल मिश्र

'प्रभाकर' ने इस ओर पर्याप्त प्रगति की है। महाप्राण निराला के 'कुल्लीभाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा' तथा 'चतुरी चमार' में रेखा-चित्र की कला का कुछ आभास अवश्य मिलता है।

श्री बेनीपुरी ने अपने रेखा-चित्र अधिकांश कहानी-प्रधान लिखे हैं। उनके इस प्रकार के रेखा-चित्रों का संग्रह 'माटी की मूरतें' नाम से प्रकाशित हुआ है। 'बलदेव' उनका सर्वोत्कृष्ट स्केच कहा जा सकता है। बेनीपुरी-जैसी तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि लिए हुये श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' भी रेखा-चित्रों की दुनिया में धूमकेतु के समान उदित हुए और यह हर्ष और गौरव की बात है कि उन्होंने रेखाचित्रों के अंकन करने में पर्याप्त कुशलता और ख्याति अर्जित की। उनके इस प्रकार के रेखा-चित्रों का संग्रह 'भूले हुए चेहरे' नामक उनकी पुस्तक है।

इधर महादेवी वर्मा ने अपने गद्य में रेखा-चित्रों के नये प्रयोग किये हैं। कविता की भाँति उन्हें गद्य-लेखन पर भी पूर्ण अधिकार है। महादेवी जी के रेखा-चित्रों में दैनन्दिन जीवन में आने वाले उन उपेक्षित व्यक्तियों को रेखाओं द्वारा उभारा गया है, जिनके चरित्रों में हमारे समाज का जर्जर 'अहं' और 'सामन्तशाही' बोलती है। महादेवी जी के रेखाचित्रों में पात्र स्वयं कम बोलते हैं। लेखिका उनके विषय में अधिक बोलती है। क्योंकि उनके इन संस्मरणों में संस्मरणों का अंश प्रचुर परिमाण में मिलता है, इसलिए लेखिका को ही अधिक अपनी बात कहनी पड़ती है। उनकी 'अतीत के चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' ऐसी पुस्तकें हैं, जिनमें आपको संस्मरण की चाशनी में पगे हुए रेखा-चित्र मिलेंगे। इधर 'पथ के साथी' नाम से उनके स्केचों का एक और संग्रह प्रकाशित होने वाला है।

उक्त लेखकों के अतिरिक्त हिंदी के कुछ और कहानीकारों तथा नाटककारों ने भी रेखाचित्र लिखने की ओर कदम बढ़ाया है। इनमें सर्वश्री उपेन्द्रनाथ अश्क, प्रभाकर माचवे, उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, देवेन्द्र सत्यार्थी तथा महावीर अधिकारी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी की 'रेखाएँ बोल उठीं' नामक पुस्तक में कुछ अच्छे रेखा-चित्र हैं।

जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं कि रेखा-चित्र आज के क्रान्तिकारी युग की साहित्यिक अभिव्यक्तियों का ज्वलन्त माध्यम है। जीवन की विभिन्न क्रांति-प्रतिक्रांतियों को सीधा स्वर देने में भी रेखा-चित्रों का भारी प्रयास है।

इस साहित्य-रूप को भी गद्य की भाँति अनेक लेखकों ने कविता में भी अपनाया है। इनमें सर्व श्री सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', भगवती चरण वर्मा, हरिवंशराय बचन, नरेन्द्र शर्मा और शिवमंगलसिंह 'सुमन' आदि अनेक

कवियों ने अपनी कविताओं में अनेक सुन्दर रेखा-चित्र प्रस्तुत किए हैं। लेकिन यहाँ हमें गद्य-साहित्य में प्रयुक्त किये गये रेखा-चित्रों के माध्यम से ही विशेष तात्पर्य है। उक्त सभी कवियों ने अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार जीवन के कटु अनुभवों को शब्दों में सजाया है।

रिपोर्ताज

दस

१. व्युत्पत्ति

रिपोर्ताज शब्द मूलतः फ्रांसीसी भाषा से अन्य बहुत से शब्दों की भाँति हिन्दी में आया है। इसका बहुत-कुछ सम्बन्ध अंग्रेजी के 'रिपोर्ट' शब्द से है, जिसका असली रूप हमारे दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाला 'रपट' शब्द है। 'रिपोर्ट' प्रायः समाचार-पत्रों के लिए लिखी जाती है और 'रपट' थानों या अदा-लतों में। यह तो निर्विवाद है कि रिपोर्ट और रपट में जो बातें लिखी जाती हैं, उनमें प्रायः अतिशयोक्ति और अतिरंजना का आश्रय लिया जाता है। रिपोर्ताज इन्हीं रिपोर्ट तथा रपट शब्दों का शुद्ध साहित्यिक रूप है। परन्तु जिस प्रकार की अतिरंजना रिपोर्ट और रपट में होती है, उससे यह कोसों दूर है। क्योंकि रिपोर्ताज का निर्माण विशुद्ध साहित्यिक पृष्ठभूमि पर होता है अतः वह कला के 'सत्यं' 'शिवं' 'सुन्दरम्' रूप के ही अधिक निकट है।

२. इतिहास

किसी भी घटना का ऐसा वर्णन करना कि वस्तुगत सत्य पाठक को सहज ही प्रभावित कर सके, रिपोर्ताज कहलायगा। इसके लेखन में कोई भी व्यक्ति तब तक सफलता प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वह कल्पना का आश्रय अपने वर्णन में न ग्रहण करेगा। इस कला का वास्तविक विकास इस महायुद्ध में हुआ है। यह साहित्य का ऐसा अंग है, कि इसे चाहे जितना बढ़ा-चढ़ा-कर इसके आधार पर किसी भी उद्दिष्ट ध्येय का वर्णन किया जा सकता है। ऐसा रूप भी हो सकता है कि रिपोर्ताज दो लाइन का हो और कहीं-कहीं इसके पोथे-के-पोथे भी रंगे जा सकते हैं।

रिपोर्ताज को आधुनिक पत्रकार-कला के अधिक निकट कहा जा सकता है। जिस प्रकार समाचार-पत्रों में विशालकाय उपन्यास एक ही दिन में नहीं छप सकते, उसी प्रकार किसी भी घटना के आधार पर ली गई विस्तृत रिपोर्ट

को भी उसमें स्थान नहीं दिया जा सकता। उस रिपोर्ट के संक्षिप्तीकरण को ही हम साहित्यिक भाषा में रिपोर्ताज कह सकते हैं। इस दृष्टिकोण से रिपोर्ताज हिन्दी की कहानी तथा निबन्ध के ही अधिक निकट है। हिन्दी-कहानी में जिस प्रकार जीवन के किसी भी अंग तथा कार्य-व्यापार का समीचीन विवेचन होता है, और निबन्ध अपने छोटे से कलेवर में उद्दिष्ट लक्ष्य को वर्णित कर देता है उसी प्रकार रिपोर्ताज भी अपने संक्षिप्त साहित्यिक रूप में देश में दिन-प्रतिदिन घटने वाली किसी भी एक घटना का चित्रण पाठकों के समक्ष रख देता है। रिपोर्ताज को लिखने में लेखक को अपने उत्तरदायित्वपूर्ण पद के गौरव के अनुरूप ही शब्द, भाव तथा पृष्ठभूमि का निर्माण करना होता है

जिस प्रकार समाचार-पत्रों के लिए रिपोर्ट भेजने वाले संवाददाता को तटस्थ भाव से समाचारों की रिपोर्ट तैयार करनी पड़ती है, उसी प्रकार किसी भी रिपोर्ताज-लेखक को अपने मानसिक सन्तुलन को अक्षुण्ण बनाये रखकर बड़ी ही संवेदनशीलता के साथ घटना का अध्ययन करके रिपोर्ताज का निर्माण करना होता है। एक कहानी-लेखक के समान रिपोर्ताज-लेखक को भी अपने सीमित कलेवर में उस समस्या का समाधान प्रस्तुत करना पड़ता है, जिसको कि लक्ष्य में रखकर वह रिपोर्ताज लिखता है। रिपोर्ताज में केवल घटनाओं का चित्रण ही नहीं, प्रत्युत कहानी-जैसी रोचकता होना भी अनिवार्य है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि कथा केवल एक उद्देश्य को ही लक्ष्य करके लिखी जाती है, और रिपोर्ताज में विभिन्न घटनाओं का समन्वय होता है। जिस तरह अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण और उनके मानसिक आरोह, अवरोह को प्रदर्शित करने के लिए स्थान की न्यूनता होती है, उसी प्रकार रिपोर्ताज के लेखक के लिए भी कम समय तथा कम स्थान में अपनी भावनाओं को व्यक्त करना अनिवार्य है। एक रेखा-चित्रकार अपनी कूँची के जरा से संकेत से ही समग्र चित्र की भावनाओं को व्यक्त करने की सामर्थ्य रखता है, उसी प्रकार रिपोर्ताज-लेखक को भी संक्षिप्त शब्दावली में घटना का ठीक-ठीक और मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करना होता है। उसे इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता है कि वह उसके प्रकटीकरण में नाटकीयता की परिपाटी को अपनाए अथवा योंही साधारण रूप से उसका चित्रण कर दे।

३. कला और उद्देश्य

रिपोर्ताज के निर्माण में उसके लेखक को वर्ण्य घटना या वस्तु का विवरण प्रस्तुत करते समय तीन बातों का विशेष ध्यान रखना होता है। वास्तव में

यह तीन बातें ही रिपोर्ताज-कला की मूल आधार हैं। सबसे पहले उसे वर्ण्य-घटना या वस्तु के वास्तविक इतिहास को जानना आवश्यक है। इसके अभाव में वह उस घटना का सही-सही रूप पाठकों के समक्ष न रख पायगा। दूसरी आवश्यक बात है कि वह घटना में भाग लेनेवाले पात्रों का, चाहे वह कल्पित हों व यथार्थ, बाह्य रेखा-चित्र उपस्थित कर दे। अन्तिम और सबसे आवश्यक तत्त्व यह है कि रिपोर्ताज लेखक को सजग व सचेष्ट होकर घटना में निहित स्वार्थों तथा उसके पात्रों की मानसिक गतिविधियों का विश्लेषण करना चाहिए। यह कार्य यद्यपि कठिन अवश्य है परन्तु असम्भव नहीं। सच्चा कलाकार वही है जो सांसारिक स्वार्थों से ऊपर उठकर निरपेक्ष भाव से इन घटनाओं का वर्णन करे। तभी रिपोर्ताज-कला निखर सकती है। यहाँ यह भी लिख देना आवश्यक है कि रिपोर्ताज केवल आँखों देखी घटना के आधार पर ही सही रूप में लिखा जा सकता है। यदि ऐसा न किया गया तो समाचार-पत्र के लिए भेजी गई रिपोर्ट और रिपोर्ताज में कोई अन्तर नहीं रहेगा। क्योंकि समाचार-पत्रों को भेजी जाने वाली रिपोर्ट तो केवल सुनी-सुनाई घटना के आधार पर तैयार की जा सकती है। रिपोर्ताज-लेखक को भाव-प्रवण तथा कल्पना-शील होने के साथ-साथ जोखम उठाने वाला भी होना चाहिए, जिससे समय पड़ने पर युद्ध-भूमि में भी जाकर वह निरपेक्ष रूप से घटनाओं का चित्रण रिपोर्ताज के द्वारा कर सके। यदि वह इसमें सफल हुआ तो रिपोर्ताज की कला और उद्देश्य सार्थक समझे जायँगे।

४. हिन्दी में रिपोर्ताज

हिन्दी में रिपोर्ताज इसी दशाब्द में प्रचलित हुआ है। द्वितीय महासमर से उत्पन्न हुई विभीषिकाओं ने हिन्दी के कलाकारों को भी झकझोरा और वे जन-जीवन के सम्पर्क में आकर उसमें फैली हुई वितृष्णा और दैन्य का सही मूल्यांकन करने को विवश हुए। बंगाल में पड़े अकाल ने बहुत-सी ऐसी समस्याएँ उपस्थित कीं जो कि रिपोर्ताज का विषय बन सकती थीं। भारतीय भाषाओं के अन्य लेखकों के सदृश हिन्दी-लेखक भी इन परिस्थितियों तथा समस्याओं से प्रभावित हुए, कुछ हिन्दी-कलाकारों ने बंगीय जन-जीवन की इस स्थिति के बहुत मार्मिक चित्र रिपोर्ताज के रूप में प्रस्तुत किए हैं। इसके अतिरिक्त आजाद हिन्द सेना और बम्बई के नाविक विद्रोह ने हिन्दी-कलाकारों की चेतना को स्पर्श किया। इनका चित्रण भी रिपोर्ताज में हुआ है। भारत-विभाजन और तदनन्तर काश्मीर-समस्या ने हमारे सम्मुख देश के जीवन को एक नवीन रूप में ही प्रस्तुत किया। हिन्दी-कलाकारों ने 'कला-कला के लिए' सिद्धान्त को त्यागकर एकबार फिर जन-

जीवन के सम्पर्क में आकर, काश्मीर की दुर्गम घाटियों का भ्रमण करके अपने अनुभवों को रिपोर्ताज के रूप में प्रस्तुत किया।

आजकल हिन्दीके रिपोर्ताज-लेखकों में सर्वश्री प्रकाशचन्द्र गुप्त शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे, तथा हंसराज 'रहबर' इत्यादि प्रमुख हैं।

ग्यारह

समालोचना

१. समालोचना शब्द का अर्थ

साधारणतया समालोचना शब्द का अर्थ गुण-दोष-विवेचन ही ग्रहण किया जाता है, जब हम इसे साहित्य के अन्तर्गत ग्रहण करते हुए इस शब्द का अर्थ करते हैं तब भी इससे लगभग यही भाव व्यक्त होता है। हिन्दी का समालोचना शब्द संस्कृत की 'लुच्' धातु से बना है। 'लुच्' का अर्थ है देखना—समीक्षा करना। इस प्रकार आलोचना का मुख्य क्षेत्र साहित्य के विविध पक्षों की समीक्षा-सूक्ष्म विवेचन ही है, और हम साहित्यिक आलोचक से यही आशा करते हैं कि उसे विद्वान् होना चाहिए और किसी भी साहित्यिक विषय पर अधिकारपूर्वक विवेचन करके उसके गुण-दोष-प्रदर्शन के साथ उस साहित्यिक रचना या विषय पर अपना निर्णयात्मक मत प्रकट करना चाहिए। परन्तु सामयिक युग में हम आलोचना-साहित्य के अन्तर्गत केवल उपर्युक्त प्रकार की आलोचना को ही ग्रहण नहीं करते अपितु साहित्य के विषय में लिखे गए सम्पूर्ण समीक्षात्मक, विश्लेषणात्मक तथा व्याख्यात्मक साहित्य को भी गृहीत किया जाता है। कविता, नाटक, उपन्यास इत्यादि जीवन से सम्बन्धित हैं, और जीवन की व्याख्या करते हैं। आलोचना में कविता, नाटक तथा उपन्यास की व्याख्या तो की जाती है, स्वयं आलोचनात्मक ग्रन्थों की भी व्याख्या हो सकती है। यदि सम्पूर्ण साहित्य को हम जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साहित्य के क्षेत्र में समीक्षात्मक, विश्लेषणात्मक अथवा निर्णयात्मक दृष्टिकोण से ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा उस पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मत प्रकट करना ही आलोचना कहलाता है।

२. आलोचना की हानियाँ और लाभ

आलोचना और साहित्य का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, साहित्य के साथ

समालोचना का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन काल से ही किसी-न-किसी रूप में होता आया है। मनुष्य में वस्तु-निरीक्षण और उसके गुण-दोष-विवेचन के साथ अपना मत प्रकट करने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति वर्तमान रहती है, और वह प्रत्येक वस्तु का अपनी रुचि के अनुसार गुण-दोष-विवेचन करके उसे अच्छी या बुरी अथवा साधारण श्रेणी के अन्तर्गत रख देता हैं। मनुष्य की यही प्रवृत्ति समालोचना के मूल में भी वर्तमान रहती है। आज पाठकों का एक विशिष्ट वर्ग समालोचना की उपादेयता में सन्देह प्रकट करता है। उसका कथन है कि साहित्यकार और पाठक के बीच में आलोचक के रूप में एक माध्यम की क्या आवश्यकता? काव्य या कला से मूल आनन्द की प्राप्ति के लिए इन व्याख्याकारों की क्या जरूरत? उसका कथन है कि तुलसी अथवा सूर के विषय में आलोचकों द्वारा लिखी गई आलोचनाओं के पढ़ने से क्या लाभ? हम जितना समय विभिन्न लेखकों द्वारा लिखित मतों के अध्ययन में लगाते हैं, उतना ही समय हम मूल साहित्यकार की रचनाओं के अध्ययन में लगा सकते हैं? साहित्य के मूल में स्थित सौन्दर्य या आनन्द की भावना पर आलोचकों के हृदय-हीन वर्ग द्वारा कठोरतापूर्वक आघात किया जाता है, और व्यर्थ में विज्ञानिक चीर-फाड़ द्वारा आलोचक साहित्य अथवा कला को अपनी रुचि अथवा कुरुचि द्वारा दूषित कर देते हैं। वास्तव में आज मूल साहित्य आलोचना पुस्तकों, व्याख्याओं और समीक्षाओं द्वारा छिपता जा रहा है, साहित्य का विद्यार्थी भी मूल साहित्यिक रचनाओं को न पढ़कर आलोचना तथा व्याख्या को पढ़कर ही सन्तुष्ट हो जाता है। इस प्रकार आलोचना-साहित्य साहित्य के अध्ययन में एक बड़ी बाधा सिद्ध हो सकता है। निश्चय ही यह आक्षेप उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता।

परन्तु इन आक्षेपों की विद्यमानता में भी हम आलोचना-साहित्य की महत्ता और उपादेयता को भुला नहीं सकते। यदि हम आलोचना और मूल साहित्य के सम्बन्ध को हृदयंगम कर लें तो आलोचना-साहित्य के विषय में हमारे बहुत से आक्षेप और शंकाएँ स्वयं शान्त हो जायेंगे। जीवन में हमें जो रुचिकर प्रतीत होता है, उसके सौन्दर्य से हम आकृष्ट होते हैं, और जिन आदर्शों तथा भावनाओं से हम प्रेरित होते हैं, साहित्य में उन्हीं का प्रतिरूप प्राप्त करते हैं। मनुष्य का व्यक्तित्व मनुष्य के जीवन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, और साहित्य में भी वह व्यक्तिगत आदर्शों, भावनाओं और अनुभूतियों के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। साहित्य का विषय मनुष्य का जीवन है। आलोचक का क्षेत्र भी मनुष्य जीवन है। साहित्य में अभिव्यक्त कलाकार के महान् व्यक्तित्व की ही

आलोचक व्याख्या करता है। अतः कलाकार जिस प्रकार नाटक, कविता या
उपन्यास इत्यादि साहित्य के विविध अंगों में मानव-जीवन की अभिव्यक्ति
करता है, उसी प्रकार आलोचक साहित्य के विविध रूपों में अभिव्यक्त मानव-
जीवन की व्याख्या करता है। साहित्य तथा आलोचना के क्षेत्र में अभेद है,
आलोचना-साहित्यका ही अभिन्न अंग है,इसी कारण इसका महत्त्व है। आलोचना-
साहित्य की उपयोगिता इसी में है कि वह हमारे भीतर आलोच्य साहित्य के प्रति
उत्सुकता की भावना को जागृत रखे और उसे मूल रूप में आस्वादित करने के
लिए प्रेरित करे। पाठक के हृदय में भावोद्रेक और रसोद्रेक द्वारा सुन्दर साहित्य
की ओर प्रेरित करना ही उसका मुख्य कर्तव्य है।

साहित्य की रचना शताब्दियों से होती आ रही है और उसमें महान् तथा
उत्कृष्ट साहित्य की रचना निश्चय ही थोड़ी नहीं। अनेक पुस्तकें शताब्दियों से
लोकप्रिय हैं, और आगे भी लोकप्रिय रहेंगी। कालिदास, तुलसीदास, गेटे,
शेक्सपियर आदि कलाकारों की रचनाओं द्वारा मनुष्य शताब्दियों से आनन्द
प्राप्त करता आ रहा है। ऋग्वेद, तथा उपनिषदादि आध्यात्मिक साहित्य की
रचना आज से शताब्दियों पूर्व हुई थी, और विगत शताब्दियों में सहस्रों
मनुष्यों ने उनसे आत्मिक शान्ति प्राप्त की। आज के युग में भी मानव के
उर्वर मस्तिष्क से उत्पन्न शताब्दियों के इस प्राचीन साहित्य को पढ़कर आनन्द
और शान्ति प्राप्त करने की इच्छा वर्तमान है। साहित्य के महान् स्रष्टाओं और
उनकी रचनाओं के विषयमें जानकारी की इच्छा हमारे मन में सदा वर्तमान रहती
है। परन्तु हमारी जिन्दगी बहुत छोटी है, और इस छोटी जिन्दगी में हमें अनेक
धन्धों में से गुजरना पड़ता है, हमारे पास समय बहुत थोड़ा है। विशेष रूप से
आज के इस युग में मनुष्य इतना अधिक कार्य संलग्न है कि उसे अपने चारों
ओर देखने का अवसर भी प्राप्त नहीं होता। ऐसी अवस्था में क्या हमारी
प्राचीन और नवीन साहित्य से आनन्द प्राप्त करने की इच्छा केवल स्वप्न-मात्र
रह जायगी? आलोचना-साहित्य की उपयोगिता इसी में है कि वह हमें इस
कार्य-संलग्नता में महान् कलाकारों के जीवन, उनकी रचनाओं के गुण और
उनके प्रभाव से परिचित करा देता है।

कोई भी अच्छा आलोचक साधारण पाठक की अपेक्षा अधिक प्रतिभा,
सूक्ष्म अन्वेषण शक्ति से युक्त और गम्भीर तथा मननशील हो सकता है।
साधारण पाठक की अपेक्षा उसका अध्ययन पर्याप्त विस्तृत और पूर्ण होता है;
इस अवस्था में वह निश्चय ही साधारण पाठक की अपेक्षा किसी भी महान्
कलाकार अथवा साहित्यकार की रचनाओं का अध्ययन अधिक सूक्ष्म और

विवेचनापूर्ण ढंग से कर सकता है। वह किसी भी कलाकार का तुलनात्मक अथवा इतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करता हुआ उसकी रचनाओं के विविध अंगों पर प्रकाश डालकर उसके विषय में अनेक नवीन तथ्यों को प्रकाशित करता है। अपनी विशिष्ट अन्तर्दृष्टि द्वारा वह उसकी रचनाओं में प्रविष्ट होकर उन तथ्यों का अन्वेषण करेगा जो कि उसकी रचना में स्थायित्व के साथ रागात्मकता को भी बनाए हुए हैं। ऐसी अवस्था में यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है कि यदि कोई अच्छा कवि जीवन की व्याख्या करता है, तो एक अच्छा आलोचक हमें वह व्याख्या समझाने में सहायक होता है।

एक बात और। हम प्रायः दूसरों द्वारा किसी पुस्तक या लेखक के विषय में दिये गए निर्णयों को बड़ी शीघ्रता से स्वीकार कर लेते हैं। विशेष रूप से तब जब कि वह आलोचक या निर्णायक विशेष प्रसिद्ध, व्यक्तित्व-सम्पन्न और प्रतिभाशाली हो। ऐसी अवस्था में हमारा स्वतंत्र दृष्टिकोण नहीं रहता, हम उस द्वारा दी गई दृष्टि या मापदंड से उस पुस्तक या कलाकार का अध्ययन करेंगे और उसी के अनुसार अपना निर्णय देंगे। ऐसी अवस्था में वह निर्णायक या आलोचक हमारे स्वतंत्र अध्ययन में सहायक न होकर बाधक ही होगा। क्योंकि हम उसी द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करके बहुत से ऐसे गुणों को प्राप्त न कर सकेंगे जो कि वास्तव में उस पुस्तक में विद्यमान हैं।

अतः हमें सदा यह ध्यान में रखना चाहिए कि आलोचना मूल आलोच्य साहित्य का स्थान ग्रहण नहीं कर सकती, और न आलोचक मूल कलाकार का ही। वास्तव में ग्रन्थकर्त्ता कलाकार और पाठक के बीच में व्याख्याकार का कार्य करता है। आलोचक का मुख्य कर्तव्य पाठक के हृदय में आलोच्य साहित्य के प्रति औत्सुक्य और उत्कण्ठा को उत्पन्न करना ही है। जिस प्रकार क महान् कवि हमें अपने जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण का भागी बना लेता है, वैसे ही एक अलोचक को भी, अपनी साहित्य-विषयक भावनाओं में पाठक को भागी बना लेना चाहिए। उसे ठीक एक पथ-प्रदर्शक की भांति कलाकार या साहित्य के सौन्दर्य और सत्य तक पाठक को पहुंचा देना चाहिए। अमरीकन मनीषी इमर्सन के शब्दों में आलोचक का कार्य शिक्षा देना नहीं, अपितु प्रेरित या उत्साहित करना है।

यदि हम आलोचना-साहित्य को सतर्कता पूर्वक पढ़ेंगे तो निश्चय ही हमें बहुत-कुछ प्राप्त होगा। आलोचक के निर्णयों पर सभी का सहमत हो सकना सम्भव नहीं, और हम भी उससे सहमत हों या न हों, परन्तु निश्चय ही हम उसकी व्याख्या के ढंग और उसके पथ-प्रदर्शन से बहुत लाभ उठा सकते हैं।

३. आलोचक के आवश्यक गुण

आलोचक का कार्य अत्यन्त कठिन और अप्रिय होता है, संसार में बड़े-बड़े साहित्यिकों, राजनीतिज्ञों, नेताओं और क्रान्तिकारियों तथा सुधारकों के स्मारक स्थापित किये जाते हैं, परन्तु किसी समालोचक के सम्मान में कोई स्मारक निर्मित किया गया हो, ऐसा हमें ज्ञात नहीं। परन्तु समालोचक का कार्य कितना महत्त्वपूर्ण, आवश्यक और साथ ही कठिन तथा अप्रिय है, यह सभी स्वीकार करते हैं। इसी कारण उच्चकोटि का समालोचक ही अपने कर्तव्य को समझता हुआ इस क्षेत्र में अवतीर्ण हो सकता है। 'सत्' तथा 'असत्' साहित्य के विवेचन तथा वर्गीकरण के साथ वह साहित्य में असुन्दर तथा सुन्दर की खोज भी करता है, और साहित्य के आनन्द के मूल में कार्य करने वाली विभिन्न प्रवृत्तियों का अन्वेषण भी करता है। चाहे समालोचक का संसार आदर न करे, तथापि वह पथ-प्रदर्शन और सत् और असत् के विवेचन के कारण साहित्य में विशेष महत्त्वपूर्ण पद का अधिकारी है।

समालोचक के गुणों की विवेचना करते हुए एक पाश्चात्य विद्वान् ने समालोचक में निम्न लिखित गुणों को आवश्यक माना है—

(१) सुनिश्चितता, (२) स्वातंत्र्य, (३) सूझ, (४) श्रेष्ठ विचार, (५) उत्साह, (६) हार्दिक अनुभूति, (७) गंभीरता, (८) ज्ञान तथा (९) अथक परिश्रम।

आलोचक की रचनाकार तथा उसकी रचना के प्रति **श्रद्धा, सहानुभूति तथा आदर की भावना** होनी चाहिए। किसी भी वैज्ञानिक की भांति न तो उसे निर्ममही होना होता है और न हृदय-हीन ही; क्योंकि उसका काम चीर-फाड़ नहीं। कवि या कलाकार के व्यक्तित्व की स्पष्ट अभिव्यक्ति ही उसकी रचनाओं में होती है। अपने व्यक्तित्व के दर्पण से ही वह जीवन को साहित्य में प्रतिबिम्बित करता है। अतः सम्पूर्ण साहित्यिक रचनाओं के मूल में कलाकार की आत्मा विद्यमान रहती है, उसकी आत्मा तक पहुँचने के लिए आलोचक को वैज्ञानिक की चीर-फाड़ की सामग्री को न लेकर श्रद्धा तथा अनुभूति को लेकर ही चलना होता है। श्रद्धा तथा सहानुभूति के बिना वह न तो कवि की आत्मा तक ही पहुँच सकेगा, और न अपने उद्देश्य में ही सफल हो सकेगा। इसके विपरीत राग-द्वेष में पड़कर वह निश्चय ही पथ-भ्रष्ट हो जायगा।

निष्पक्षता समालोचक का दूसरा बड़ा गुण है। व्यक्तिगत, जातिगत अथवा वर्गगत सहानुभूति के आधार पर की गई आलोचना पक्षपात-शून्य नहीं हो

सकती। और पक्षपातयुक्त आलोचना कभी भी आलोचना नहीं कहीं जा सकती। व्यक्तिगत राग-द्वेष से प्रेरित होकर की गई आलोचना को आलोचना न कहकर निन्दा ही कहा जायगा। क्योंकि द्वेष मनुष्य को अन्धा बना देता है और इसी कारण वह अपने आलोच्य कलाकार के गुणों को तो देखेगा ही नहीं और उसके दुर्गुण ही प्रदर्शित करेगा। पक्षपात अथवा राग-द्वेष से प्रेरित होकर की गई आलोचना से सत्साहित्य का बहुत अहित होता है।

विद्वत्ता आलोचक का तीसरा बड़ा गुण है। आलोचक को साहित्य की सम्पूर्ण समस्याओं का विशेषज्ञ होना चाहिए। आलोच्य-साहित्य के इतिहास तथा उसके विविध युगों की सामान्य विशेषताओं से उसका विशेष परिचय होना चाहिए। पुस्तक या कलाकार की रचना के गुण-दोष-विवेचन के लिए आवश्यक पैनी दृष्टि उसमें तभी प्राप्त हो सकती है, जब उसमें विद्वत्ता हो।

स्वाभाविक प्रतिभा के अभाव में पाण्डित्य तथा अन्य गुणों की उपस्थिति में भी आलोचक कभी भी आलोचना-क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता। प्रत्येक विद्वान् सफल समालोचक हो सके, ऐसा कभी नहीं हुआ। क्योंकि स्वाभाविक प्रतिभा की उपस्थिति में ही एक आलोचक अपने कथन, निर्णय या मत को सामर्थ्यपूर्ण और प्रभावोत्पादक बना सकता है। केवल स्वाभाविक प्रतिभा पर ही वह अच्छे पण्डितों की अपेक्षा अपने कथन और निर्णय को युक्तियुक्त बना सकता है।

इन गुणों के अतिरिक्त आलोचक में सहृदयता, गुणग्राहकता तथा बुद्धिमत्ता इत्यादि गुण अवश्य होने चाहिएँ। इनके अतिरिक्त आलोचक की रुचि अत्यन्त परिमार्जित और परिष्कृत होनी चाहिए। उसे अपने उद्देश्य का ज्ञान होना चाहिए। अपने पक्षपातहीन निर्णय को प्रकट करने के लिए उसमें साहस भी अवश्य होना चाहिए। अपने निर्णय को ऐसे ढंग से देना चाहिए कि जिससे पाठक के हृदय में लेखक के प्रति न तो घृणा ही उत्पन्न हो और न अरुचि ही। वास्तव में उसकी आलोचना में माधुर्य-गुण-शैली का पूर्ण निर्वाह होना चाहिए।

४. आलोचना के प्रकार

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि समालोचना साहित्य का एक प्रमुख अंग है, और जिस साहित्य में आलोचना का यह अंग पूर्ण विकसित न हुआ हो वह साहित्य आज के युग में अपूर्ण और अविकसित ही समझा जायगा। आधुनिक युग में समालोचना-साहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो चुका है, साहित्य के विविध अंगों का सूक्ष्म विवेचन और उनके मूल्य-निर्धारण के

अतिरिक्त उसके मूल में काय कर रही सूक्ष्म प्रवृत्तियों का विश्लेषण भी आलोचना का ही कार्य है।

आलोचना के मुख्य प्रकार निम्न लिखित हैं—

(१) आत्म-प्रधान आलोचना (Subjective criticism)
(२) सैद्धान्तिक आलोचना (Speculative criticism)
(३) व्याख्यात्मक आलोचना (Inductive criticism)
(४) निर्णयात्मक आलोचना (Judicial criticism)
(५) तुलनात्मक आलोचना (Comparative criticism)
(६) मनोविज्ञानिक आलोचना (Psychological criticism)

समालोचना के इन प्रमुख प्रकारों के अतिरिक्त अन्य प्रकार भी हैं जिनका कि हिन्दी साहित्य और विश्व की अन्य भाषाओं में पर्याप्त प्रचलन है। यहाँ सर्व प्रथम हम आलोचना के इन प्रमुख भेदों पर विचार करेंगे तदनन्तर अन्य प्रकारों का भी परिचय दे दिया जायगा।

(१) आत्म-प्रधान आलोचना (Subjective criticism) भावपूर्ण होती है. और आलोचक के हृदयोल्लास को व्यक्त करती है। कवि या कलाकार की रचना का जैसा प्रभाव आलोचक के हृदय पर पड़ता है, वह वैसा ही व्यक्त करता है। इस प्रकार की आलोचना में आलोचक किसी विशिष्ट विवेचना-पद्धति को नहीं अपनाता, अपितु अपनी रुचि अथवा आदर्श के अनुरूप ही आलोच्य ग्रन्थ की आलोचना करके अपना निर्णय देता है। आलोचक की रुचि की प्रमुखता के कारण इस प्रकार की समालोचना में भावनाओं की समानता रहती है, और इसी कारण वह प्रायः रचनात्मक साहित्य के अन्तर्गत गृहीत की जाती है। अनेक प्रसिद्ध विद्वान् आत्म-प्रधान आलोचना को विशेष उपादेय नहीं समझते, क्योंकि उनका कथन है कि इन आलोचनाओं से आलोच्य विषय का पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता।

परन्तु कुछ विद्वान् उपर्युक्त मत के विपरीत आत्म-प्रधान आलोचना के पक्ष में हैं, उनका कथन है कि पुस्तक या कलाकार की कृति की अच्छाई या बुराई का व्यक्तिगत रुचि के अतिरिक्त और कौन सा सुन्दर मापदण्ड हो सकता है। साहित्य में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की भावनाओं के प्रसार के फलस्वरूप आत्म-प्रधान आलोचना को पर्याप्त प्रमुखता प्रदान की जा रही है, क्योंकि अनेक प्रमुख आलोचक आलोचना में किसी भी अन्य शास्त्रीय मापदण्ड को महत्त्व प्रदान न करके और उसे पुस्तक या कलाकार की कृति की परीक्षा का उपयुक्त

मापदण्ड न समझकर अपनी रुचि को ही प्रमुखता प्रदान करते हैं। आत्म-प्रधान समालोचना का एक उदाहरण देखिए :

> यदि 'सूर-सूर तुलसी ससी, उडगन केशवदास' है, तो विहारी पीयूष वर्षी मेघ है, जिसके उदय होते ही सबका प्रकाश आच्छन्न हो जाता है, फिर जिसकी वृष्टि से कवि-कोकिल कुहकने, मन-मयूर नृत्य करने और चतुर चातक चुहकने लगते हैं। फिर बीच-बीच में जो लोकोत्तर भावों की विद्युत चमकती है, वह हृदय छेद जाती है।

इसी प्रकार सूरदास के विषय में कहा गया निम्न लिखित दोहा भी आत्म-प्रधान आलोचना का एक सुन्दर उदाहरण है:

> किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर की पीर।
> किधौं सूर को पद लग्यो वेध्यो सकल सरीर॥

'बिहारी सतसई' के विषय में कहा गया यह दोहा भी देखिए:

> सतसइया के दोहरे ज्यौं नाविक के तीर।
> देखन में छोटे लगैं घाव करैं गंभीर॥

(२) सैद्धान्तिक आलोचना (Speculative criticism) में आलोचना-शास्त्र के सिद्धान्तों को निश्चित किया जाता है, और काव्य या साहित्य, कविता, नाटक, उपन्यास इत्यादि के रूप का विश्लेषण करके उनके लक्षण निर्धारित किये जाते हैं। साहित्यिक आलोचना में किन सिद्धान्तों और नियमों का अनुसरण किया जाना चाहिए, कवि या कलाकार की कृति की परीक्षा करते हुए आलोचक को किन सिद्धान्तों का आश्रय ग्रहण करना चाहिए, नाटक, उपन्यास अथवा कथा की विवेचना में कौन-कौन से तत्त्व अपेक्षित हैं, इत्यादि प्रश्नों पर सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत ही विचार किया जाता है। इन नियमों या सिद्धान्तों के प्रतिपादन में आलोचक अपनी रुचि को अधिक महत्त्व प्रदान नहीं कर सकता, उसे प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकाश में या तो नवीन सिद्धान्तों की अथवा नियमों की व्यवस्था देनी होती है अथवा आलोचना-शास्त्र के नियमों का सर्वथा नवीन प्रतिपादन करना होता है। संस्कृत में साहित्य-शास्त्र पर किया गया सम्पूर्ण विवेचन सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत ही गृहीत किया जाता है। 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य दर्पण' तथा 'रस गंगाधर' इत्यादि संस्कृत ग्रन्थ सैद्धान्तिक आलोचना के ग्रन्थ ही कहे जायँगे। हिन्दी में बा० श्यामसुन्दरदास की 'साहित्यलोचन', डॉ० सूर्यकान्त की 'साहित्य-मीमांसा', सुधांशु जी की 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', रामदहिन मिश्र का 'काव्यालोक',

तथा 'काव्य-दर्पण' तथा आचार्य शुक्ल का 'चिन्तामणि' एवं बाबू गुलाबराय का 'सिद्धान्त और अध्ययन तथा 'काव्य के रूप' इत्यादि पुस्तकें सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत ही गृहीत की जाती हैं।

(२) व्याख्यात्मक आलोचना (Inductive criticism) में आलोचक सब प्रकार के सिद्धान्तों या आदर्शों का त्याग करके कवि की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर अत्यन्त सहृदयता पूर्वक उसके आदर्शों, उद्देश्यों तथा विशेषताओं की व्याख्या तथा विवेचना करता है। व्याख्या या विश्लेषण इसकी सर्व प्रमुख विशेषता है। वर्तमान युग में आलोचना का यही प्रकार सर्वश्रेष्ठ बतलाया जाता है। व्याख्यात्मक आलोचना का विशद विवेचन मौल्टन (Moulten) ने किया है। और उसी के विवेचन के अनुसार हम व्याख्यात्मक आलोचना की विशेषताओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार से कर सकते हैं—

(क) सर्व-प्रथम आलोचना के इस प्रकार को अपनाते हुए आलोचक को एक अन्वेषक के रूप में ही कार्य करना होता है, न्यायाधीश की भांति नहीं। कलाकार की रचना का सूक्ष्म विवेचन करते हुए आलोचक को उसकी विशिष्ट कृति अथवा रचना का सर्वप्रथम उद्देश्य जानना चाहिए। विषय निरूपण की पद्धति, उसके कथन का ढंग, कवि के आदर्श तथा प्रेरणा इत्यादि सभी तत्त्वों पर अत्यन्त सूक्ष्मता पूर्वक विवेचन करना चाहिए।

(ख) मोल्टन के अनुसार व्याख्यात्मक आलोचना को साहित्य का अंग न मानकर विज्ञान का अंग समझना चाहिए, और आलोचक को सीधे-सादे शब्दों में साहित्यिक रचना की व्याख्या करनी चाहिए, उसे रचना के गुण अथवा दोष से कोई मतलब नहीं होना चाहिए।

(ग) निर्णयात्मक आलोचना (Judicial criticism) जहाँ रचना के गुण-दोषों का विवेचन करती है, वहाँ व्याख्यात्मक आलोचना में इस पद्धति का अनुसरण नहीं किया जाता। एक वैज्ञानिक की भांति अलोचक केवल प्रकार-भेद को स्वीकार करता है, और वर्ग-भेद को भी मानता है, परन्तु उसमें ऊँच-नीच को स्थान नहीं देता। विभिन्न कलाकारों की तुलना की जा सकती है, परन्तु उनका तुलनात्मक दृष्टि से स्थान निर्धारित नहीं किया जा सकता।

(घ) निर्णयात्मक आलोचना में जिस प्रकार साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है, और उन्हें राजकीय या नैतिक नियमों के समान माना जाता है, तथा उन्हीं नियमों के अनुसार कलाकार की रचनाओं का मूल्य निर्धारित किया जाता है, परन्तु व्याख्यात्मक आलोचक को ऐसा स्वीकार्य नहीं। वह इन नियमों को किसी द्वारा आरोपित न मानकर कलाकार द्वारा रचित ही

मानता है, क्योंकि साहित्यिक नियमों या लक्षणों का विधान कलाकार की रचना के आधार पर ही किया जाता है, अतः यह नियम कवियों की विभिन्न प्रवृत्तियों द्वारा ही रचे गए हैं। कवि या कलाकार ही इन नियमों का स्रष्टा है। यदि ये नियम उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ते तो वह इन नियमों को भंग करके नवीन नियमों की सर्जना कर सकता है। व्याख्यात्मक आलोचना में यह स्वीकार किया जाता है कि सभी कवि एक ही प्रकृति के नहीं होते, सबकी प्रकृति भिन्न होती है, अतः सभी कवियों को एक ही नियम या मापदण्ड से नापना, सर्वथा गलत, भ्रामक तथा असंगत है।

(ङ) इस प्रकार व्याख्यात्मक आलोचना के अन्तर्गत साहित्यिक रचनाओं की परीक्षा निर्जीव नियमों द्वारा नहीं की जाती। साहित्य को प्रकृति के अन्य रूपों की भाँति निरन्तर विकासशील मानकर आलोचक एक वैज्ञानिक की भाँति उसकी व्याख्या करता है।

(च) आलोचक को यह नहीं कहना होता कि यह रचना मुझे कैसी प्रतीत हुई है, अपितु व्यक्तिगत अभिरुचि का परित्याग करके आलोचक को यही सिद्ध करना होता है कि कलाकार या कवि ने इसमें क्या अभिव्यक्त किया है, उसका उद्देश्य क्या है? आलोचक को वास्तव में एक वैज्ञानिक अन्वेषक की भाँति कार्य करना होता है।

व्याख्यात्मक आलोचना का एक उदाहरण देखिए:

> हृदय के पारखी सूर ने सम्बन्ध-भावना की शक्ति का अच्छा प्रसाद दिखाया है। कृष्ण के प्रेम ने गोपियों में इतनी सजीवता भर दी है कि कृष्ण क्या कृष्ण की मुरली तक से छेड़-छाड़ करने को उनका जी चाहता है। हवा से लड़ने वाली स्त्रियाँ देखी नहीं तो कम-से-कम सुनी बहुतों ने होंगी, चाहे उनकी जिन्दादिली की कद्र न की हो। मुरली के सम्बन्ध में कहे हुए गोपियों के वचनों से दो मानसिक तथ्य उपलब्ध होते हैं—आलम्बन के साथ किसी वस्तु की सम्बन्ध-भावना का प्रभाव तथा अत्यन्त अधिक या फालतू उमंग के स्वरूप। मुरली-सम्बन्धिनी उक्तियों में प्रधानता पहली बात की है, यद्यपि दूसरे तत्त्व का भी मिश्रण है। फालतू उमंग के बहुत अच्छे उदाहरण उस समय देखने में आते हैं जब स्त्री अपने प्रिय को कुछ दूर पर देखकर कभी ठोकर खाने पर कंकड़-पत्थर को दो-चार मीठी गालियाँ सुनाती है, कभी रास्ते

में पड़ती हुई पेड़ की किसी टहनी पर भ्रू-भंग सहित झुँझलाती है और कभी अपने किसी साथी को यों ही ढकेल देती है।

('भ्रमरगीत सार भूमिका', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

वास्तव में व्याख्यात्मक आलोचना में आलोचक केवल-मात्र व्याख्याता न रहकर स्रष्टा बन जाता है, और अपनी सहृदयता का पूर्ण परिचय देता है।

(४) निर्णयात्मक आलोचना (Judicial criticism) को शास्त्रीय आलोचना भी कहा जाता है, क्योंकि आलोचक साहित्य-सम्बन्धी विभिन्न शास्त्रीय या सैद्धान्तिक नियमों का आश्रय ग्रहण करके और आलोच्य पुस्तक के गुण-दोष-विवेचित करके उसका साहित्यिक दृष्टि से मूल्य निर्धारित करता है। आलोचक का दृष्टिकोण न्यायाधीश-जैसा होता है और वह एक निश्चित माप-दण्ड के अनुसार कलाकार की रचना पर अपना निर्णय देता है। साहित्य-शास्त्र के निर्धारित नियम ही उसके आधार होते हैं। कलाकार की मौलिकता या प्रतिभा पर ध्यान न देकर आलोचक उस पर शास्त्रीय नियमों को लागू करके उसकी रचना की परीक्षा करता है। परन्तु कुछ आलोचक अपने निर्णय को शास्त्रीय नियमों पर आधारित न करके कलाकार की रचना का अपने पर पड़े प्रभाव के अनुसार ही निर्णय देते हैं। ऐसे आलोचक शास्त्रीय नियमों की अपेक्षा अपनी भावानुभूति को ही अधिक महत्त्व देते हैं। निर्णायक आलोचकों का एक दूसरा वर्ग शास्त्रीय नियमों की पूर्ण जानकारी रखता हुआ भी अपने निर्णय को शास्त्रीय नियमों के ऊपर रखता है। ऐसे आलोचक नियमों का ध्यान रखते हुए भी कलाकार की प्रतिभा, मौलिकता और शक्ति को पूर्णतया अनुभव करके अपना निर्णय देते हैं, इसी कारण ये आलोचक सर्वश्रेष्ठ गिने जाते हैं। केवल शास्त्रीय नियमों के आधार पर ही रचना का गुण-दोष-विवेचन करने वाले आलोचक साहित्यिक जगत् में आदर की दृष्टि से नहीं देखे जाते।

हमारे यहाँ सैद्धान्तिक आलोचना के ग्रन्थों की कमी नहीं। मम्मट तथा आचार्य विश्वनाथ इत्यादि के ग्रन्थों में काव्य-सम्बन्धी गुण-दोषों का बहुत विस्तृत विवेचन किया गया है, और उन्हीं के आधार पर हिन्दी के रीतिकालीन तथा-कथित आचार्य कवियों ने भी इस विषय का पर्याप्त विवेचन किया है। बहुत काल तक इन नियमों के अनुकरण पर ही कविता होती रही, और इन्हीं के अनुसार विभिन्न काव्यों का गुण-दोष-विवेचन किया जाता रहा। ऐसे समय में स्वतंत्र प्रतिभा और काव्य-शैली का विकास असम्भव हो जाता है।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा मिश्रबन्धुओं की आलोचना शास्त्रीय नियमों पर आधारित निर्णायक होती है। आज भी कुछ पत्र-पत्रिकाओं में इसी

प्रकार की आलोचना की जाती है। अप्रगतिशील नियमों के आधार पर अधिष्ठित होने के कारण वास्तविक साहित्य की अभिवृद्धि में आलोचना का यह प्रकार घातक ही सिद्ध होता है।

निर्णयात्मक आलोचना के उदाहरण देखिए :

सूर सूर तुलसी ससी उडुगण केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ-तहँ करत प्रकास॥

तथा

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
भवभूति रस गम्भीरं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

उपर्युक्त उदाहरण वास्तव में अनुभूति-प्रधान निर्णयात्मक आलोचना के हैं। जहाँ पर आलोचक काव्य में रस, अलंकार तथा अन्य गुणों की श्रेणीबद्ध समीक्षा करता है, वह शास्त्रीय आलोचना कहलाती है।

(५) तुलनात्मक आलोचना (Comparative criticism) में आलोचक दो विभिन्न कवियों की एक ही विषय की रचनाओं का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत करता है। आलोचक अपने विषय के प्रतिपादन के लिए दोनों कलाकारों की रचनाओं का गम्भीर अध्ययन करके उनके विविध अंगों पर प्रकाश डालता है। मूल्य या स्थान-निर्धारण की भावना इसमें विद्यमान रहती है, अतः रुचि विशेष के अनुसरण के कारण अथवा पक्षपात के परिणाम-स्वरूप किसी भी कवि के प्रति अन्याय किया जा सकता है। जहाँ कहीं केवल तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना हो और किसी भी निर्णय पर न पहुँचना हो, या किसी को छोटा या बड़ा सिद्ध न करके एक विशिष्ट तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति का ही अनुसरण करना हो तो वहाँ यह प्रणाली उपयुक्त सिद्ध हो सकती है, अन्यथा कटु विवाद ही इसका अन्तिम परिणाम होता है। हिन्दी में बिहारी तथा देव पर किस प्रकार वाद-विवाद प्रारम्भ हुआ, और किस प्रकार बिहारी-भक्तों ने बिहारी को और देव के भक्तों ने देव को बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न किया, यह सर्व-विदित है। पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी की श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए तुलनात्मक दृष्टि तो अवश्य अपनाई परन्तु अन्य कवियों के साथ शर्माजी ने बराबर न्याय ही किया। इसी प्रकार पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने देव की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए तुलनात्मक दृष्टि से छन्दों तथा अलंकारों इत्यादि का सूक्ष्म विश्लेषण करके शास्त्रीय पद्धति को ही अधिक प्रश्रय प्रदान किया।

साधारणतया तुलनात्मक दृष्टि आलोचना में तभी श्रेयस्कर सिद्ध हो सकती है जबकि वह पूर्ण वैज्ञानिक हो और आलोचक अनासक्त भाव से दोनों पक्षों

की समान सहानुभूति से समीक्षा करे। आलोचना के क्षेत्र में विज्ञानिक तुलनात्मक दृष्टि आवश्यक है।

तुलनात्मक आलोचना का एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

> सूरदास हिन्दी के अन्यतम कवि हैं। उनके जोड़ का कवि गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर दूसरा नहीं हुआ। इन दोनों महाकवियों में कौन बड़ा है, यह निश्चयपूर्वक कह सकना सरल कार्य नहीं। भाषा पर अवश्य तुलसीदास का अधिकार अधिक व्यापक था। सूरदास ने अधिकतर ब्रज की चलती भाषा का ही प्रयोग किया है। तुलसी ने ब्रज और अवधी दोनों का प्रयोग किया है और संस्कृत का पुट देकर उनको पूर्ण साहित्यिक बना दिया है। परन्तु भाषा को हम काव्य-समीक्षा में अधिक महत्त्व नहीं देते। हमें भावों की तीव्रता तथा व्यापकता पर विचार करना होगा। तुलसी ने राम-चरित का आश्रय लेकर जीवन की अनेक परिस्थितियों तक अपनी पहुँच दिखाई है। सूरदास के 'कृष्ण-चरित्र' में उतनी विविधता नहीं, किन्तु प्रेम की मञ्जु छवि का जैसा अन्तर-बाह्य चित्रण सूरदास जी ने किया है वह भी अद्वितीय है। मधुरता सूर में तुलसी से अधिक है। जीवन के अपेक्षाकृत निकटवर्ती क्षेत्र को लेकर उसमें अपनी प्रतिभा का पूर्ण चमत्कार दिखा देने में सूर की सफलता अद्वितीय है। सूक्ष्म-दर्शिता में भी सूर अपना जोड़ नहीं रखते। तुलसी का क्षेत्र सूर की अपेक्षा भिन्न है। ......पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से दोनों का समान अधिकार है। दोनों ही हमारे सर्वश्रेष्ठ जातीय कवि हैं।

('हिन्दी-साहित्य' डॉ० श्यामसुन्दरदास)

(६) मनोविज्ञानिक आलोचना (Psychological criticism) कवि या कलाकार के अन्तरतम का अन्वेषण करती है, काव्य के मूल में स्थित भावों, आदर्शों और उद्देश्यों की समीक्षा करती है और उनके कारण को चित्त की अन्तः प्रवृत्तियों में खोजने का प्रयत्न करती है। बाह्य परिस्थितियों की आन्तरिक भावनाओं पर होने वाली प्रतिक्रिया का विश्लेषण करना भी मनो-विज्ञानिक आलोचना का ही काम है। कवि या कलाकार की रचनाओं को इस प्रकार की आलोचना में वैयक्तिक स्वभाव तथा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और

पारिवारिक परिस्थितियों से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं के प्रकाश में देखा जाता है। हिन्दी में इस प्रकार की आलोचना का प्रचलन हाल ही में हुआ है। एक उदाहरण देखिए :

> बच्चन का कवि जीवन के उल्लास से भी उल्लसित हुआ है और विषाद से भी विषण्ण। उनकी रचनाओं में जीवन के परिस्थिति-मूलक चित्र अनेक भरे पड़े हैं। अपनी प्रिय पत्नी के देहान्त के बाद कवि की वृत्तियाँ जीवन और जगत् की नश्वरता पर प्रहार करने लगीं और 'एकान्त-संगीत' तथा 'निशा-निमंत्रण' के रूप में उनकी सारी वेदना मुखरित हो गई। अपने घनीभूत विषाद से उनके दग्ध हृदय की वाणी विकल उठी है—
>
> मेरे उर पर पत्थर धर दो।
> जीवन की नौका का प्रियधन।
> लुटा हुआ मणि-मुक्ता कंचन,
> तो न मिलेगा, किसी वस्तु से इन खाली जगहों को भर दो।
> मेरे उर पर पत्थर धर दो।
>
> (सुधांशु)

समालोचना के उपर्युक्त विविध प्रकारों के अतिरिक्त **इतिहासिक-समालोचना** भी विशेष प्रसिद्ध है, वस्तुतः इतिहासिक समालोचना के विना उपर्युक्त समालोचना-पद्धतियाँ अपूर्ण हैं। क्योंकि यदि मनोविज्ञानिक आलोचना साहित्यकार की आन्तरिक अनुभूतियों में पैठकर उसे विभिन्न परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मानती है, तो इतिहासिक आलोचना उन प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों के अन्वेषण का कार्य करती है। मनोविज्ञानिक आलोचना का क्षेत्र अन्तर्जगत् है तो इतिहासिक समालोचना का क्षेत्र अन्तर्जगत् को प्रभावित करने वाला बाह्य जगत्। प्रत्येक युग का साहित्य अपनी विशिष्ट विचार-धारा, और सामाजिक परिस्थिति से पुष्ट और समृद्ध होता है। जिस प्रकार मानव-सभ्यता तथा संस्कृति का इतिहास उसके निरन्तर संघर्ष का इतिहास है, उसी प्रकार साहित्य भी निरन्तर विकासशील मनुष्य की अन्तःप्रवृत्तियों का इतिहास है, वह युग-विशेष की भावनाओं तथा धारणाओं से प्रभावित होता है। अतः साहित्य की विवेचना करते समय युग की परिस्थितियों, अन्तःप्रवृत्तियों और चिन्तन-धाराओं का विचार रखना चाहिए। इतिहासिक समालोचना के अन्तर्गत इन्हीं परिवर्तित होती हुई विचार-धाराओं और परिस्थितियों के प्रकाश में ही

साहित्य की समालोचना की जाती है। कलाकार की विभिन्न प्रवृत्तियों के विकास को जानने के लिए उसको प्रभावित करने वाली बाह्य और आन्तरिक परिस्थितियों का ज्ञान आवश्यक है। केवल शब्द-विन्यास, वाग्-वैदग्ध्य उक्ति-वैचित्र्य, चमत्कार-विधान अथवा छन्द, अलंकार आदि के बँधे-बँधाए नियमों के अनुसार साहित्य पर इतिहासिक आलोचना के अन्तर्गत विचार नहीं किया जाता। इतिहासिक समालोचना में तुलनात्मक दृष्टिकोण को प्रश्रय दिया जाता है। किसी भी विशिष्ट कवि का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते समय पूर्ववर्ती, परवर्ती तथा समकालीन कवियों की राजनीतिक तथा बौद्धिक परिस्थितियों का भी विश्लेषण किया जाता है। इस प्रकार इतिहासिक समालोचना के अन्तर्गत कवि या साहित्यकार पर तत्कालीन समाज, संस्कृति, वातावरण और राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव के अतिरिक्त विशिष्ट चिन्तन-पद्धति के प्रभाव को भी आँका जाता है। इतिहासिक आलोचना का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है :

> भक्ति-आन्दोलन की जो लहर दक्षिण से आई उसी ने उत्तर भारत की परिस्थिति के अनुरूप हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्ति-मार्ग की भी भावना कुछ लोगों म जगाई। हृदय-पक्ष-शून्य सामान्य अन्तःसाधना का मार्ग निकालने का प्रयत्न नाथ-पंथी कर चुके थे यह हम कह चुके हैं। पर रागात्मक तत्त्व से रहित साधना से ही मनुष्य की आत्मा तृप्त नहीं हो सकती। महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त (सं० १३२८–१४०८) नामदेव ने हिन्दू-मुस्लिम दोनों के लिए एक सामान्य भक्ति-मार्ग का आभास दिया। उनके पीछे कबीरदास ने विशेष तत्परता के साथ एक व्यवस्थित रूप में यह मार्ग 'निर्गुण-पंथ' के नाम से चलाया जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि कबीर के लिए नाथ-पंथी जोगी बहुत-कुछ रास्ता निकाल चुके थे। भेद-भाव को निर्दिष्ट करने वाले उपासना के वाह्य विधानों को अलग रखकर उन्होंने अन्तः-साधना पर जोर दिया था।
>
> ('हिन्दी साहित्य का इतिहास' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

'कला कला के लिए' के सिद्धान्त के अनुयायी आलोचक साहित्य की समालोचना और उसके श्रेष्ठत्व की समीक्षा सौन्दर्य-तत्त्व के अनुसार करते हैं। व्यावहारिक एवं नैतिक अथवा किसी अन्य प्रकार से की गई आलोचना को वे अनुचित समझते हैं, क्योंकि उनका विचार है कि कला विज्ञानिक, व्यावहारिक एवं नैतिक

जगत् से सर्वथा स्वतन्त्र है।'[1] इनके अनुसार सौन्दर्यानुभूति से उत्पन्न होने वाला आनुषंगिक आनन्द ही काव्य की कसौटी है। समालोचना का उद्देश्य भी रसोद्रेक समझा जाता है। आस्कर वाइल्ड (Oscar Wilde) ने आलोचना के इस प्रकार का विशेष समर्थन किया था। यूरोप में बहुत समय तक 'कला कला के लिए है' सिद्धान्त के अनुगामी आलोचकों का बोल-बाला रहा है। किन्तु आज इस सिद्धान्त का खोखलापन सिद्ध हो चुका है। आज जीवन तथा साहित्य की घनिष्ठता सभी को स्वीकार है।

मार्क्स दर्शन तथा विचार-धारा पर आधारित आलोचना का भी साहित्य में विशिष्ट स्थान है। आलोचना के इस नूतन प्रकार के पीछे मार्क्सवाद का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical materialism) और इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या(Materialistic conception of history)है,समाज की भाँति साहित्य को भी निरन्तर विकासशील मानकर मार्क्सवादी आलोचक उसकी व्याख्या निरन्तर परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों के अनुसार करते हैं। युग-विशेष की परिस्थितियों के सूक्ष्म अध्ययन द्वारा साहित्य की समालोचना करना आलोचकों के इस वर्ग की प्रमुख विशेषता है।

इतिहासिक समालोचना के विपरीत **समाजवादी आलोचना** के अन्तर्गत वर्ग संघर्ष के आदर्शों और विचार-धाराओं को प्रमुखता दी जाती है, और उन्हीं के अनुसार साहित्य का मूल्य निर्धारित किया जाता है। साहित्य के प्राचीन मापदण्ड, कला और काव्य के प्राचीन आदर्श तथा प्राचीन साहित्य की प्रगतिवादी आलोचना एकांगी हैं, क्योंकि वर्ग-संघर्ष की भावना की प्रधानता के कारण साहित्य में प्रकट जीवन की अन्य अनुभूतियों और भावनाओं को तुच्छ और नगण्य बना दिया जाता है।

साहित्य तथा समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्यकार व्यक्ति रूप में समष्टि का अभिन्न अंग है। अतः साहित्यिक अनुशीलन में सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक है। मार्क्सवादी जीवन-दर्शन ने हमारे सम्मुख जीवन तथा मानव-समाज की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत की है। यह इसकी एक प्रमुख देन है। परन्तु मार्क्सवादी व्याख्या एकाङ्गी और अपूर्ण है। जीवन वस्तुतः बहुत जटिल (Complicated) है। मानव-मनोवृत्तियों और उसके विभिन्न रूपों की जिस प्रकार कल्पना की जाती है, वह प्रायः अत्यन्त सीधी और सरल होती हैं। मार्क्सवादी दर्शन इस दोष से मुक्त नहीं। उसने मानव-समाज की एक

1. Art is independent both of science and of the useful and the moral.

बहुत सीधी, सरल और निर्णयात्मक (Deterministic) व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। भौतिक-विज्ञान के ढंग पर मार्क्स ने जीवन और समाज की व्याख्या करते हुए केवल एक तत्त्व को ही परम तत्त्व माना है। सामाजिक जीवन की जटिलता (Complexity) हमें स्वीकार करनी होगी और सामाजिक जीवन की व्याख्या में आर्थिक तत्त्वों के अतिरिक्त अन्य सांस्कृतिक, धार्मिक, बौद्धिक और भावात्मक तत्त्वों की सत्ता को भी मुख्य स्थान देना होगा, गौण नहीं।

समाज केवल अर्थतन्त्र नहीं, और साहित्य केवल इस अर्थतन्त्र का प्रतिबिम्ब नहीं। मार्क्सवादी दर्शन व्यक्ति को स्वयं विकसित होती हुई यन्त्र-व्यवस्था (Technology) और उससे उत्पन्न अर्थ-तन्त्र के अधीन बना देता है। वस्तुतः दर्शन में (तथा जीवन में भी) हीगेल के ब्रह्म (Absolute) का जो स्थान है—जिस प्रकार वह स्वयं प्रकाशित और स्वयं विकसित होता है—मार्क्स की भौतिकवादी इतिहास की व्याख्या में भी यन्त्र-समूह और अर्थ-तन्त्र का वही स्थान है—वह स्वयंचालित है और स्वयंप्रकाशित है। व्यक्ति, उसकी भावनाओं और प्रवृत्तियों का उसमें कोई स्थान नहीं। परन्तु यह धारणा मिथ्या है, जैसा कि रसेल (Russel) ने अपनी पुस्तक 'पावर' (Power) तथा 'प्रिंसीपल्स ऑफ सोशल रीकंस्ट्रक्शन' (Principles of Social Reconstruction) में बतलाया है कि न तो यन्त्र-संस्कृति और उससे उत्पन्न अर्थ-तन्त्र को ही इतिहास में निर्णयात्मक (Deterministic) स्थान दिया जा सकता है, और न ही व्यक्ति और उसकी विभिन्न मनोवृत्तियों को उसका दास बनाया जा सकता है। वह अर्थ-प्राप्ति की इच्छा को मनुष्य की सत्ता-प्राप्ति की इच्छा के अधीन मानकर मानव-इतिहास की व्याख्या करता है।

यहाँ मुख्य प्रश्न मनोविज्ञानिक हो गया है और जहाँ तक व्यक्ति की मूलभूत प्रवृत्तियों का प्रश्न है मार्क्सवादी दर्शन भी एकाङ्गी ही समझना चाहिए। मानव-प्रवृत्तियों की व्याख्या में मतैक्य की सम्भावना नहीं। हम पीछे लिख आए हैं कि किस प्रकार जीवन की मूलभूत प्रवृत्तियों की भिन्न और परस्पर-विरोधी व्याख्या की गई है। मनुष्य की ऐक्यान्वेषी प्रवृत्ति इस अजस्र वैचित्र्य-सम्पन्न जीवन में—वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों में ही—ऐक्य का अन्वेषण करती हुई भ्रान्त निश्चय पर पहुँचती है। प्रवृत्तियाँ अनेक हैं एक नहीं, और उनके सामाजिक तथा मनोविज्ञानिक दोनों ही पक्ष हैं।

साहित्यिक क्षेत्र में जब मार्क्सवादी आलोचक साहित्य और साहित्यकार को अर्थ-तन्त्र का दास मानकर उसकी व्याख्या केवल-मात्र भौतिक और आर्थिक आधार पर करते हैं तो उनकी आलोचना का एकांगी हो जाना अनिवार्य ही है।

जिस प्रकार मानव-समाज केवल वर्ग-संघर्ष का इतिहास नहीं, जिस प्रकार मनुष्य केवल अर्थ-प्राप्ति की इच्छा से अनुप्राणित नहीं होता, उसी प्रकार साहित्य केवल वर्ग संघर्ष की अभिव्यक्ति नहीं, और न ही किसी वर्ग विशेष का प्रतिनिधि साहित्यकार व्यक्ति के रूप में केवल अर्थ-तन्त्र की उपज हो सकता है।

मनुष्य मुख्य रूप में एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक जीवन साहित्यकार के व्यक्तित्व में ओत-प्रोत रहता है, परन्तु वह सामाजिक जीवन केवल अर्थ-तन्त्र की देन नहीं, वह वैविध्य-सम्पन्न है। अतः साहित्यिक अध्ययन और साहित्यिक आलोचना में जीवन को उसके विशाल रूप में देखना ही युक्ति-संगत है, एकाङ्गी रूप में नहीं। प्रगतिवादी आलोचना का यही बड़ा दोष है कि वह ऐसे दर्शन पर आधारित है जोकि जीवन और समाज की एकाङ्गी व्याख्या करता है। यही कारण है कि वह साहित्य की आलोचना में भी समग्र (Whole) को ग्रहण न करके केवल-मात्र अंश (Parts) को ग्रहण करती है।

इंग्लैंड का क्रिस्टाफर काडवेल, तथा स्टिफेन, स्पेण्डर और अमरीका के जोसिफ फ्रीमेन तथा ग्रैनमिलहिक्स और भारत में डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० मुल्कराज 'आनन्द' तथा शिवदानसिंह चौहान आदि इसी श्रेणी के आलोचक हैं।

नीचे प्रगतिवादी आलोचना का एक उदाहरण दिया जाता है—

> साहित्य-शास्त्रियों का कथन है कि कविता के तीन आवश्यक तत्त्व हैं—(१) संगीत (२) रस और (३) अलंकार। उनका यह शास्त्रीय मत है कि इन तत्त्वों से रहित रचना कविता नहीं हो सकती।...संगीत कविता का तत्त्व नहीं है ...आज रसोद्धार का कोई नाम तक नहीं लेता...रस-परिपाटी जीवित कविता की गति में बाधक होती है? यह अवरोध है और एक-मात्र राज्याश्रित कवियों की बनाई हुई वह आदि कवि के काव्य में नहीं मिलती। न ही बाद को मिलती। यदि रस काव्य की आत्मा होता तो वह सबकी कविता में मिलता। तथापि रस भी कविता का आवश्यक तत्त्व नहीं है।...कविता कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो शाश्वत और अपरिवर्तनशील है। यह मनुष्य के साथ स्वयं निरन्तर विकम्पित हो रही है।...यदि आज की प्रगतिशील शक्तियों की अवहेलना करके कविता पुनः अपने अतीत के तत्त्वों का प्रदर्शन करती है तो वह कविता नव कविता होगी।...इस-

> लिए मज़दूर-किसान के जीवन की समस्याएँ उनके भाव और विचार, उसके संघर्ष के तरीके, उनका समस्त आन्दोलन और उनकी समस्त प्रतिक्रियाएँ कविता के आवश्यक तत्त्व हैं।......अब कविता जन-साधारण की वस्तु है और जन-साधारण के तत्त्व ही उनके आवश्यक तत्त्व हैं।
>
> ('पारिजात' दिसम्बर १६४६)

पिछले पृष्ठों में हमने समालोचना के विविध प्रकारों का उल्लेख किया है, उनकी विभिन्न साहित्यिक विशेषताओं को प्रदर्शित करते हुए उनकी उपादेयता पर भी थोड़ा-बहुत प्रकाश डाल दिया गया है। परन्तु आज अधिकांश समालोचक मिली-जुली ढंग की समालोचना ही लिखते हैं, उनकी समालोचना-पद्धति के अनुसार वर्तमान काल की समालोचना के मुख्य तत्त्वों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(१) समालोचना में इतिहासिक दृष्टिकोण, जिसके अन्तर्गत (क) कवि के समय की राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाता है। (ख) कवि के समय में प्रचलित विभिन्न आदर्शों तथा उद्देश्यों की समीक्षा।

(२) समालोचना में मनोविज्ञानिक दृष्टिकोण, जिसके अन्तर्गत (क) कवि या कलाकार के जीवन, उसकी पारिवारिक परिस्थितियों के विश्लेषण के साथ उसकी मानसिक स्थितियों का तादात्म्य बैठाया जाता है। (ख) कवि के काव्य की उसकी विभिन्न मानसिक स्थितियों के अनुसार व्याख्या की जाती है।

(३) समालोचना में व्यवस्थात्मक दृष्टिकोण, जिसके अन्तर्गत (क) कवि के काव्य का अध्ययन किया जाता है, विषय, भाषा शैली, रस-परिपाक तथा मूर्तिमत्ता इत्यादि के अनुसार साहित्य की विज्ञानिक व्याख्या का प्रयत्न किया जाता है। (ख) आलोच्य रचना के उद्देश्य को स्पष्ट किया जाता है।

(४) समालोचना में तुलनात्मक दृष्टिकोण को स्पष्ट किया जाता है। (क) देश तथा काल की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए आलोच्य कवि या कलाकार की पूर्ववर्ती और सामयिक कवियों के साथ तुलना करके उसका साहित्य में स्थान निर्धारित किया जाता है।

आलोचना के क्षेत्र के विस्तार के कारण आज का आलोचक सन्तुलित आलोचना प्रस्तुत नहीं कर सकता। वह उपर्युक्त सम्पूर्ण तत्त्वों को ग्रहण करता हुआ भी अपनी रुचि की विशिष्टता के कारण किसी एक तत्त्व को अपनी आलोचना में अधिक महत्त्व दे देता है।

५. समालोचना का उद्देश्य

समालोचना की उपादेयता पर हम अपने विचार पीछे प्रकट कर चुके हैं। समालोचना का उद्देश्य क्या है? यहाँ इस विषय पर भी कुछ-न-कुछ विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि समालोचना के उद्देश्य के विषय में भी पर्याप्त मतभेद हैं। नीतिवादियों का कथन है कि समालोचक का कार्य सत् और असत् साहित्य का विश्लेषण करना है, और समालोचना का मुख्य उद्देश्य गन्दे और कुरुचिपूर्ण साहित्य की अभिवृद्धि को रोकना है। समालोचक को यह देखना चाहिए कि साहित्य या काव्य की कौन सी रचना समाज के लिए अधिक मूल्यवान है, और कौन सी अधिक अहितकर। परन्तु 'कला-कला के लिए है' सिद्धान्त के अनुगामी साहित्य के इस प्रकार के विश्लेषण को न केवल अनावश्यक समझते हैं, अपितु उसे साहित्य के लिए अहितकर भी मानते हैं। काव्य में नैतिकता के प्रश्न पर हम पीछे लिख चुके हैं, साहित्य में निश्चय ही नैतिकता का बहिष्कार नहीं किया जा सकता, समाज के नैतिक आदर्शों के अनुसार यदि साहित्य की समालोचना या समीक्षा की जाती है तो वह बुरी नहीं। परन्तु समालोचक केवल नैतिकतावादी नहीं हो सकता, उसे साहित्य में स्थापित सुन्दर तथा असुन्दर की विवेचना भी करनी होती है। साहित्यिक रचना के विषय में उसे अपने मत की स्थापना भी परोक्ष या अपरोक्ष रूप से करनी होती है। इस प्रकार समालोचना के मुख्य उद्देश्य को संक्षेप से निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(१) समालोचक को साहित्य की व्याख्या के साथ उसमें सुन्दर तथा असुन्दर की विवेचना करनी होती है, अर्थात् साहित्य का कलात्मक दृष्टि से मूल्य निर्धारित करना होता है।

(२) आलोच्य साहित्य की समाज के लिए उपादेयता पर भी विचार किया जाता है।

(३) समालोचना का उद्देश्य एक ऐसे मानदण्ड के अनुसार साहित्य की विवेचना करना है, जिससे कि कुरुचिपूर्ण साहित्य की अभिवृद्धि रुक सके।

६. भारतीय आलोचना-साहित्य

भारतीय आलोचना-साहित्य का विकास लगभग एक हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो चुका था। साहित्य के अत्यन्त सूक्ष्म और गहन तत्त्वों पर जितनी विद्वत्ता के साथ भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने विचार किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। रस, ध्वनि तथा शैली-सम्बन्धी जो सिद्धान्त आज यूरोप में विकसित हो रहे हैं, शताब्दियों पूर्व उनका भारत में पूर्ण विवेचन हो चुका था। चित्त की सूक्ष्म

वृत्तियों की विवेचना करके उनका काव्य से मनोविज्ञानिक सम्बन्ध स्थापित करने में भारतीय आचार्यों ने अद्भुत क्षमता प्रदर्शित की है। भामह (काव्यालंकार), दण्डी (काव्यादर्श), मम्मट (काव्य-प्रकाश), आनन्द वर्धन (ध्वन्यालोक), विश्वनाथ (साहित्य दर्पण), राजशेखर (काव्य मीमांसा), तथा पण्डितराज जगन्नाथ (रस गंगाधर) इत्यादि अनेक आचार्य संस्कृत के उत्कृष्ट समालोचक हैं, और इन्होंने साहित्य-शास्त्र के विविध अंगों पर विद्वत्तापूर्वक विचार किया है। वास्तव में संस्कृत का साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी साहित्य बहुत विस्तृत और समृद्ध है; परन्तु खेद है कि आज उसका समुचित प्रयोग नहीं हो रहा।

७. हिन्दी का आलोचना-साहित्य

यद्यपि हिन्दी-साहित्य पर्याप्त प्राचीन है, किन्तु हिन्दी का समालोचना-साहित्य आधुनिक युग की ही देन है। प्राचीन संस्कृत आचार्यों के अनुकरण पर रीति काल में काव्य के विविध अंगों पर विवेचन करने का प्रयत्न किया गया, परन्तु उस प्रयत्न में न तो मौलिकता ही थी, और न प्रतिभा ही। अधिकतर आलोचक कवि थे, अतः आलोचना कविता-मिश्रित थी। इसी कारण साहित्य के विभिन्न अंगों का विवेचन न हो सका। कवि नायक-नायिका-भेद अथवा अलंकार और पिंगल समझाने के लिए कविता लिखते थे, यद्यपि उनकी कविता अवश्य ही मधुर और सरस है, किन्तु उनसे काव्य के विभिन्न अंगों का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। मतिराम का 'ललित ललाम', केशव की 'काव्य-चन्द्रिका' तथा 'रसिक प्रिया', पद्माकर का 'पद्माभरण' और दास का 'छन्दार्णव पिंगल' इत्यादि ऐसे ही आलोचना-मिश्रित काव्य-ग्रन्थ हैं।

हिन्दी के समालोचना-साहित्य का प्रारम्भ वस्तुतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही माना जाता है। भारतेन्दु रसिक और काव्य-प्रेमी व्यक्ति थे, उनमें आलोचक के लिए आवश्यक सहृदयता और निरीक्षण-शक्ति का अभाव नहीं था। 'कवि-वचन-सुधा' और अन्य पत्रिकाओं द्वारा उन्होंने हिन्दी में आधुनिक समालोचना-साहित्य की नींव रखी।

हिन्दी-आलोचना-साहित्य का समुचित विकास तो आचार्य पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी से ही प्रारम्भ होता है। स्वयं द्विवेदी जी भी अपने समय के अच्छे आलोचकों में गिने जाते थे, उनकी आलोचनाएँ अधिकतर निर्णयात्मक होती थीं और उनमें प्राचीन शास्त्रीय पद्धति पर गुण-दोष-विवेचन की प्रधानता रहती थी। द्विवेदी जी मूलतः सुधारक थे, आलोचना-साहित्य में भी उनका यही रूप प्रतिबिम्बित हुआ है। निश्चय ही द्विवेदी जी की आलोचनाएँ भाषा-परिमार्जन

में अधिक सहायक हुई हैं। मिश्रबन्धु द्विवेदी-काल के दूसरे प्रमुख आलोचक हैं। 'हिन्दी नवरत्न' में उन्होंने हिन्दी के नौ प्रमुख कवियों की कविता का गुण-दोष-विवेचन करके उनका हिन्दी-साहित्य में स्थान निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। नवीन काव्य-धारा के प्रति मिश्रबन्धुओं का दृष्टिकोण पर्याप्त सहानुभूतिपूर्ण रहा है। तुलनात्मक आलोचना के क्षेत्र में पं० पद्मसिंह शर्मा और कृष्णविहारी मिश्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। शर्माजी की समीक्षा-सम्बन्धी दृष्टि पर्याप्त पैनी थी, यद्यपि उन्होंने अपनी समीक्षा का आधार विहारी-जैसे शृङ्गारी कवि को बनाया है, किन्तु शृङ्गारिकता से उनका सम्बन्ध नहीं था। काव्यगत शब्द तथा अर्थ के सौन्दर्य का उद्घाटन करने की जैसी क्षमता शर्माजी में थी, वैसी हिन्दी के अन्य किसी समालोचक में नहीं। शर्माजी की भाषा बहुत मार्मिक और स्वाभाविक है। उनकी आलोचनाओं में उनका व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है।

शर्माजी के विपरीत पं० कृष्णविहारी मिश्र की आलोचना-शैली पर्याप्त संयत और सुष्ठु है। देव की उत्कृष्टता को सिद्ध करते हुए भी उन्होंने विहारी की महत्ता को स्वीकार करके अपनी सहृदयता तथा काव्य-मर्मज्ञता का परिचय दिया है। प्राचीन परिपाटी के आलोचकों में लाला भगवानदीन भी विशेष उल्लेखनीय हैं, केशव तथा विहारी-विषयक उनके समीक्षामूलक लेख विशेष संग्रहणीय हैं। इन प्राचीन परिपाटी के आलोचकों में कटुता की मात्रा अधिक रही है, और इन्होंने प्राचीन शास्त्रीय पद्धति के अनुसार ही काव्य-समीक्षा का प्रयत्न किया है। फिर भी हिन्दी-आलोचना-साहित्य के प्रारम्भिक युग में इन आलोचकों का नियंत्रण पर्याप्त शुभ रहा।

व्याख्यात्मक आलोचना लिखने में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल विशेष सिद्धहस्त हैं। उन्हीं के आविर्भाव के साथ हिन्दी-आलोचना-साहित्य में नवयुग का प्रारम्भ होता है। प्राचीन भारतीय रस-समीक्षा-पद्धति को अपनाकर और पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का भारतीयकरण करके शुक्लजी ने हिन्दी-आलोचना साहित्य का पुनः संगठन किया। प्राचीन रस तथा अलंकार-सम्बन्धी सिद्धान्तों की उन्होंने अपने दृष्टिकोण के अनुसार व्याख्या की, और भावी हिन्दी समालोचना-पद्धति को भी उसी पर आधारित करने के लिए प्रेरित किया। अपने आलोचना-सम्बन्धी सिद्धान्तों का शुक्लजी ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' तथा जायसी तुलसी और सूर आदि की आलोचनाओं में बहुत सफल प्रयोग किया है। हिन्दी के उत्कृष्टतम कवियों—सूर तथा तुलसी आदि—पर लिखी हुई आचार्य शुक्ल की व्याख्यात्मक आलोचनाएँ पाण्डित्यपूर्ण और अभूतपूर्व हैं। काव्य के अन्तरतम में पैठकर उसका रसास्वादन करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। रचना

कार के व्यक्तित्व, उसकी मनःस्थिति और सामाजिक परिस्थितियों के विश्लेषण की परिपाटी का प्रारम्भ करके शुक्लजी ने सर्वप्रथम काव्य तथा कविता को समाज के सम्पर्क में लाने का प्रयत्न किया। शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सर्वाङ्गीणता। उनकी समीक्षाओं में आलोचना-शास्त्र के सभी अंगों का समान रूप से विकास हुआ है। किन्तु शुक्लजी अपने समय की प्रगतिशील राजनीतिक परिस्थितियों से दूर थे, फलस्वरूप वह समाज की नवीन प्रवृत्तियों से तादात्म्य स्थापित न कर सके। नवयुग की काव्य-धारा भी इसी कारण उनकी सहानुभूति से वंचित रही। नवयुवक कवियों के सम्बन्ध में उनके द्वारा की गई आलोचनाओं में आवश्यकता से अधिक कड़वाहट आ गई है फिर भी उनकी-सी गम्भीरता और काव्य-मर्मज्ञता हिन्दी के अन्य आलोचकों में अप्राप्य है।

इतिहासिक और सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में बा० श्यामसुन्दरदास ने विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की है। 'साहित्यालोचन' में उन्होंने साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का बहुत पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है। यह हिन्दी में साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी अपने ढंग का सर्वप्रथम ग्रन्थ है। बाबूजी सदा ही झगड़ों से बचकर चले हैं। इसी कारण इनकी आलोचनाओं में कटुता नहीं आई। हिन्दी की नवीन काव्य-धारा को भी आपकी सहानुभूति बराबर प्राप्त रही है। 'नाट्य-शास्त्र' पर आपका 'रूपक रहस्य' नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध और उपादेय है। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी अध्ययनशील आलोचक हैं, उनका दृष्टिकोण पर्याप्त विस्तृत और सुलझा हुआ है। नवीन आलोचनादर्शों को ग्रहण करके बख्शीजी ने 'विश्व-साहित्य' के रूप में एक अच्छा विवेचनात्मक अध्ययन उपस्थित किया था। 'हिन्दी साहित्य-विमर्श' में बख्शीजी ने नवीन दृष्टिकोण से हिन्दी-साहित्य की समीक्षा की है। इतिहासिक आलोचना के क्षेत्र में डा० धीरेन्द्र वर्मा और उनका शिष्य-वर्ग भी पर्याप्त प्रयत्नशील है। पं० कृष्णशंकर शुक्ल, बा० श्यामसुन्दरदास, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि ने हिन्दी-साहित्य के विवेचनात्मक इतिहास उपस्थित करके इस विषय में सराहनीय कार्य किया है। डॉ० बड़थ्वाल ने निर्गुण काव्य पर इतिहासिक और खोजपूर्ण विवेचन किया है।

श्री बा० श्यामसुन्दरदास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-पद्धति का समन्वयात्मक मार्ग अपनाकर बाबू गुलाबराय और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने हिन्दी के आलोचना-साहित्य को जो देन दी है, वह विशेष महत्त्वपूर्ण है। बाबू जी की समीक्षा-कृतियों में 'नव रस', 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' विशेष उल्लेखनीय हैं। उक्त ग्रन्थों में उनकी समन्वयात्मक समीक्षा-पद्धति और गहन चिन्तन-पटुता के दर्शन होते हैं। आपके 'हिन्दी साहित्य

का सुबोध इतिहास' तथा 'हिन्दी नाट्य विमर्श' भी आलोचना-क्षेत्र में एक नई दिशा के द्योतक हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने यद्यपि बहुत कम लिखा है, तथापि जो भी लिखा है वह एक नई दिशा का द्योतक है। सूर-काव्य के सम्बन्ध में उनकी आलोचना काव्य के औचित्य की दृष्टि से बड़ी ही सुन्दर बन पड़ी है। उनके 'हिंदी-साहित्य: बीसवीं शताब्दी' तथा 'आधुनिक साहित्य' नामक आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकाश में आए हैं, जिनमें उनके फुटकर आलोचनात्मक लेखों का संग्रह है। 'जयशंकरप्रसाद'में उन्होंने प्रसादजी के साहित्य और प्रतिभा का विश्लेषण किया है।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी के नये अनुभूतिपूर्ण आलोचक हैं। शांति-निकेतन के कलामय वातावरण में रहने के कारण और संस्कृत-साहित्य के विस्तृत अध्ययन के फलस्वरूप आपका दृष्टिकोण एकदम शास्त्रीय हो गया है। किंतु नवीन आदर्शों और विचारोंकी समन्विति में आप सदा प्रगतिशील रहते हैं। हिंदी में की नवीन काव्य-धाराओं की द्विवेदी जी ने बहुत सुलझी हुई और सहानुभूति-पूर्ण आलोचना की है। श्री शांतिप्रिय द्विवेदी की समालोचनाओं पर छायावादी काव्य-शैली का प्रभाव रहता है।

श्री सुधांशु की 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' तथा 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत' नामक पुस्तकें भी सैद्धांतिक आलोचना से ही सम्बन्धित हैं। पं० रामदहिन मिश्र, कन्हैयालाल पोद्दार, रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', डॉ० सूर्यकांत, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, रामकुमार वर्मा, ललिताप्रसाद सुकुल, विनयमोहन शर्मा तथा डॉ० भगीरथ मिश्र आदि महानुभावों ने साहित्य के विभिन्न अंगों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति का समन्वय करके विभिन्न साहित्य-कारों की कृतियों की समीक्षा करने वाले आलोचकों में डॉ० नगेन्द्र, डॉ० सत्येन्द्र, जगन्नाथप्रसाद मिश्र, देवराज उपाध्याय, डॉ० देवराज, शिवनाथ, कन्हैयालाल सहल, विश्वम्भर 'मानव' तथा डॉ० रामरतन भटनागर उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी-साहित्य के प्रगतिवादी आलोचकों ने आलोचना के क्षेत्र में नवीन आदर्श और मानदण्ड स्थिर किया है। यद्यपि प्रगतिवादी साहित्य में प्रचार या प्रोपगेण्डे की भावना का प्राधान्य है, तथापि आलोचना-क्षेत्र में प्रगतिवादी आलोचकों की विशेष देन है। श्री शिवदानसिंह चौहान प्रगतिवादी आलोचकों में अग्रणी हैं। समाज-विज्ञान तथा प्रगतिशील साहित्य के विस्तृत अध्ययन के कारण आपकी विवेचना-पद्धति बहुत सुलझी हुई और पुष्ट है। आपकी लिखी हुई आलोचनाएँ परिमाण में थोड़ी होने पर भी गहराई और

सचाई से पूर्ण हैं। डॉक्टर रामविलास शर्मा श्रेष्ठ प्रगतिवादी आलोचक समझे जाते हैं। निःसन्देह उनकी आलोचना-शैली अपनी विशेषताएँ रखती है। उनका विषय का अनुशीलन भी गम्भीर है। प्रेमचन्द पर लिखी हुई उनकी पुस्तक वस्तुतः इस विषय की उत्तम कृति है। परन्तु दलगत भावनाओं और संकुचित जीवन-दर्शन के कारण उनकी इधर की उच्चकोटि की आलोचना साहित्यिक मूल्य को खोकर केवल प्रोपगेण्डा-मात्र रह गई है।

सर्वश्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, अज्ञेय, भगवतशरण उपाध्याय तथा अमृतराय भी श्रेष्ठ प्रगतिवादी आलोचक हैं। गुप्त जी की विशुद्ध प्रगतिवादी दृष्टिकोण से लिखी गई आलोचनाओं की एक-मात्र विशेषता यह है कि वे अपने अभीष्ट को सरल और संक्षिप्त रूप से प्रकट कर देते हैं। अज्ञेय जी व्यक्तिवादी हैं, उनका अपना एक दृष्टिकोण है; जिसके सामाजिक और वैयक्तिक दोनों ही पक्ष हैं। उन्होंने किसी विशेष इतिहासिक व्याख्या को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया। उपाध्यायजी की आलोचना इतिहासिक आधार पर आधारित होती है। उन्होंने आलोचना के समाज-शास्त्रीयपक्ष पर अधिक बल दिया है। अमृतराय ने भी इस दिशा में पर्याप्त लिखा है। उनका अध्ययन विस्तृत और अनुशीलन की प्रवृत्ति अत्यन्त सजग है, परन्तु दलगत भावनाओं से वे भी ऊपर नहीं उठ सके। सर्व श्री नलिनविलोचन शर्मा, आदित्य मिश्र, पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', चन्द्रबलीसिंह, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, गोपालकृष्ण कौल तथा नेमिचन्द्र द्वारा लिखित कुछ आलोचना-सम्बन्धी लेख भी अच्छे बन पड़े हैं।

इधर कुछ दिन से विभिन्न साहित्यकारों से उनके इण्टरव्यू लेकर उनकी कला तथा लेखन-शैली पर समीक्षात्मक लेख भी लिखे गए हैं। इस दिशा में श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनके इस प्रकार के लेखों के संग्रह 'मैं इनसे मिला' नाम से प्रकाशित हो रहे हैं। इनकी पहली किस्त अभी-अभी प्रकाश में आई है। इण्टरव्यू को हम आलोचना के अन्तर्गत ही ले सकते हैं। यह शैली इतनी लोकप्रिय हुई है कि अब और लोगों ने भी इस प्रकार के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिए हैं।

हाल में ही श्री यशदेव की 'पन्त का काव्य और युग' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। यद्यपि इस पुस्तक में उनका दृष्टिकोण मार्क्सवादी है, परन्तु वे दलगत भावनाओं में नहीं फँसे। पन्त जी पर लिखी गई यश जी की आलोचना आलोचना है प्रशस्ति नहीं, जैसाकि अब तक होता रहा था।

इस प्रकार हिन्दी-समालोचना आज उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर होती जा रही है।

नामानुक्रमणिका

घ

च

ज

ट

ल

स

ह

क्ष

त्र

अध्ययन-सामग्री

अंग्रेजी

An Introduction to the Study of Literature—Hudson W. H.

Principles of literary Criticism—I. A. Richards

What is Art ? — Tolstoy

The Idea of Great Poetry—Abercrombie

Sociology of Literary Taste—Levin. L. Schucking

संस्कृत

साहित्य दर्पण — अनु० शालिग्राम शास्त्री

हिन्दी

अशोक के फूल — डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

आलोचना : उसके सिद्धान्त — डॉ० सोमनाथ गुप्त

आधुनिक हिन्दी नाटक — डॉ० नगेन्द्र

आधुनिक हिन्दी-साहित्य भाग १— अज्ञेय

आधुनिक हिन्दी-साहित्य भाग २— डॉ० नगेन्द्र

आधुनिक कवि — डॉ० सुधीन्द्र

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास— कृष्णशंकर शुक्ल

आदर्श और यथार्थ — पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव

आधुनिक कवि — पन्त, महादेवी

आलोचना के पथ पर — कन्हैयालाल सहल

आलोचना-तत्त्व — नलिनीमोहन सान्याल

आधुनिक साहित्य — नन्ददुलारे वाजपेयी

उपन्यास-कला — विनोदशंकर व्यास

कल्प-लता — डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

कवि प्रसाद : आँसू तथा अन्य कृतियाँ— विनयमोहन शर्मा

कवि प्रसाद की काव्य-साधना — श्री रामनाथ 'सुमन'
कवि-रहस्य — डॉ० गंगानाथ झा
कहानी—एक कला — गिरिधारीलाल गर्ग
कला, कल्पना और साहित्य — डॉ० सत्येन्द्र
काव्य के रूप — गुलाबराय
काव्यालोचन के सिद्धान्त — शिवनन्दन सहाय
काव्य-दर्पण — रामदहिन मिश्र
काव्य-शिक्षा — श्रीधरानन्द
कुछ विचार — प्रेमचन्द
कहानी-कला — विनोदशंकर व्यास
कहानी-कला और प्रेमचन्द — श्रीपतिराय
काव्य में अभिव्यंजनावाद — लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु'
मीरा की प्रेम-साधना — भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'
खड़ी बोली के गौरव-ग्रन्थ — विश्वम्भर 'मानव'
गीति-काव्य — रामखेलावन पाण्डेय
गुप्तजी की काव्य-कला — डॉ० सत्येन्द्र
चिन्तामणि — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
छायावाद और प्रगतिवाद — देवेन्द्रनाथ शर्मा
छायावाद-रहस्यवाद — गंगाप्रसाद पाण्डेय
जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त — लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु'
जयशंकरप्रसाद — नन्ददुलारे वाजपेयी
दृष्टिकोण — विनयमोहन शर्मा
नवरस — गुलाबराय
नयी समीक्षा — अमृतराय
नया हिन्दी-साहित्य — प्रकाशचन्द्र गुप्त
नाट्य-कला-मीमांसा — सेठ गोविन्ददास
नाट्य-विमर्श — गुलाबराय
निराला — डॉ० रामविलास शर्मा
प्रगतिवाद — शिवदानसिंह चौहान
प्रेमचन्द — डॉ० रामविलास शर्मा
प्रगति और परम्परा — डॉ० रामविलास शर्मा

पन्त : एक अध्ययन — डॉ० रामरतन भटनागर
प्रसाद की कला — गुलाबराय
प्रसाद और उनका साहित्य — विनोदशंकर व्यास
प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन — डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा
प्रकृति और हिन्दी-काव्य — डॉ० रघुवंश
भारतेन्दु युग — डॉ० रामविलास शर्मा
महादेवी का विवेचनात्मक गद्य — गंगाप्रसाद पाण्डेय
महादेवी की रहस्य-साधना — विश्वम्भर 'मानव'
महाकवि हरिऔध — गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'
मीराबाई — परशुराम चतुर्वेदी
युग और साहित्य — शान्तिप्रिय द्विवेदी
रस-मंजरी — कन्हैयालाल पोद्दार
रामचरितमानस की भूमिका — रामदास गौड़
रस-रत्नाकर — हरिशंकर शर्मा
रूपक-विकास — वेदमित्र व्रती
रूपक-रहस्य — श्यामसुन्दरदास
विचार-धारा — डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
विचार-धारा — डॉ० अमरनाथ झा
विचार और विवेचन — डॉ० नगेन्द्र
विचार दर्शन — डॉ० रामकुमार वर्मा
विश्व-साहित्य — पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
विचार और वितर्क — डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
विचार और अनुभूति — डॉ० नगेन्द्र
संस्कृति और साहित्य — डॉ० रामविलास शर्मा
साहित्य — रवीन्द्रनाथ ठाकुर
साहित्यालोचन — बाबू श्यामसुन्दरदास
साहित्य-मीमांसा — डॉ० सूर्यकान्त
सिद्धान्त और अध्ययन — गुलाबराय
साहित्यालोचन के सिद्धान्त — रामनारायण यादवेन्दु
साहित्य-समीक्षा — डॉ० रामरतन भटनागर
साहित्य की उपक्रमणिका — किशोरीदास वाजपेयी

साहित्य-समीक्षा — सरनदास भनोत
साहित्य-समीक्षा — डॉ० रामकुमार वर्मा
साहित्य-सर्जना — इलाचन्द्र जोशी
साहित्य दर्शन — जानकीवल्लभ शास्त्री
सिद्धान्त और समीक्षा — सन्तराम 'विचित्र'
साहित्यिकी — शान्तिप्रिय द्विवेदी
सामयिकी — शान्तिप्रिय द्विवेदी
संचारिणी — शान्तिप्रिय द्विवेदी
साहित्य और साधना — डॉ० भगीरथ मिश्र
साहित्य चिन्तन — डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
साहित्य-चिन्ता — डॉ० देवराज
साहित्य-सोपान — क्षेमचन्द्र 'सुमन'
साकेत : एक अध्ययन — डॉ० नगेन्द्र
सूरदास — डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी-साहित्य — श्यामसुन्दरदास
हिन्दी-साहित्य : नये प्रयोग — क्षेमचन्द्र 'सुमन'
हिन्दी-साहित्य का इतिहास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी-साहित्य की वर्तमान धारा — जगन्नाथप्रसाद मिश्र
हिन्दी-नाट्य-साहित्य का इतिहास — डॉ० सोमनाथ गुप्त
हिन्दी-नाट्य-साहित्य — ब्रजरत्नदास
हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी — नन्ददुलारे वाजपेयी
हिन्दी-साहित्य की भूमिका — डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी गीति-काव्य — ओमप्रकाश अग्रवाल
हिन्दी-उपन्यास — शिवनारायण श्रीवास्तव
हिन्दी-गद्य का विकास — मोहनलाल 'जिज्ञासु'
हिन्दी कलाकार — डॉ० इन्द्रनाथ मदान
हिन्दी-काव्य शैली का विकास — डॉ० हरदेव बाहरी
हिन्दी-एकांकी — डॉ० सत्येन्द्र
हिन्दी कविता में युगान्तर — डॉ० सुधीन्द्र
त्रिशंकु — अज्ञेय

तथा अनेक पत्र-पत्रिकाएँ

साहित्य-समीक्षा — सत्येन्दास भनोत
साहित्य-समीक्षा — डॉ० रामकुमार वर्मा
साहित्य-सर्जना — इलाचन्द्र जोशी
साहित्य दर्शन — जानकीवल्लभ शास्त्री
सिद्धान्त और समीक्षा — सन्तराम 'विचित्र'
साहित्यिकी — शान्तिप्रिय द्विवेदी
सामयिकी — शान्तिप्रिय द्विवेदी
संचारिणी — शान्तिप्रिय द्विवेदी
साहित्य और साधना — डॉ० भगीरथ मिश्र
साहित्य चिन्तन — डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
साहित्य-चिन्ता — डॉ० देवराज
साहित्य-सोपान — क्षेमचन्द्र 'सुमन'
साकेत : एक अध्ययन — डॉ० नगेन्द्र
सूरदास — डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी-साहित्य — श्यामसुन्दरदास
हिन्दी-साहित्य : नये प्रयोग — क्षेमचन्द्र 'सुमन'
हिन्दी-साहित्य का इतिहास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी-साहित्य की वर्तमान धारा — जगन्नाथप्रसाद मिश्र
हिन्दी-नाट्य-साहित्य का इतिहास — डॉ० सोमनाथ गुप्त
हिन्दी-नाट्य-साहित्य — ब्रजरत्नदास
हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी — नन्ददुलारे वाजपेयी
हिन्दी-साहित्य की भूमिका — डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी गीति-काव्य — [illegible]
हिन्दी-उपन्यास — शिव[illegible]
हिन्दी-गद्य का विकास — मोहनलाल [illegible]
हिन्दी कलाकार — डॉ० इन्द्रनाथ मदान
हिन्दी-काव्य शैली का विकास — डॉ० हरदेव बाहरी
हिन्दी-एकांकी — डॉ० सत्येन्द्र
हिन्दी कविता में युगान्तर — डॉ० सुधीन्द्र
त्रिशंकु — अज्ञेय

तथा अनेक पत्र-पत्रिकाएँ